संस्कृत के चिकित्सा ग्रंथों में दार्शनिक तत्त्व

डॉ. शशाङ्क चन्द्र

विषय संख्या शशा - स आगत नं० 142815

लेखक शशांक चन्द्र

शीर्षक संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों में दार्शनिक तत्त्व

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

संस्कृत के चिकित्सा-ग्रन्थों में दार्शनिक तत्त्व

(प्रारम्भ से दशम शताब्दी तक)

शशाङ्क चन्द्र
प्रवाचक, संस्कृत-विभाग
चौधरी महादेव प्रसाद डिग्री कालेज, इलाहाबाद
(इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद)

अक्षयवट प्रकाशन
इलाहाबाद

संस्कृत के चिकित्सा-ग्रन्थों में दार्शनिक तत्त्व

• लेखक :
© शशाङ्क चन्द्र

• प्रथम संस्करण : १९९५

• मूल्य : दो सौ रुपये

• प्रकाशक :
अक्षयवट प्रकाशन
२६, बलरामपुर हाउस
इलाहाबाद—२

• मुद्रक :
शुभचिन्तक प्रेस
३१३, छोटी वासुकी, दारागंज
इलाहाबाद—६

आमुख

सामान्य पाठक के लिए संस्कृत के चिकित्सा-ग्रन्थों में दार्शनिक तत्त्वों का अध्ययन करना आश्चर्य का विषय हो सकता है परन्तु सुविज्ञ जन के लिए नहीं। विद्वज्जन जानते हैं कि आयुर्वेद की पृष्ठभूमि पूर्णरूप से दार्शनिक है। चिकित्सा-ग्रन्थों में आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों का पल्लवन दार्शनिक विचारधाराओं के आधार पर ही किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रथम से दशम शताब्दी तक के उपलब्ध चिकित्सा-ग्रन्थों का दार्शनिक अध्ययन किया गया है।

चिकित्सा-ग्रन्थों में वर्णित सत्त्वात्मशरीररूप कर्मपुरुष के लिए ही आयुर्वेद का प्रकाशन हुआ है। यद्यपि चिकित्सा शरीर की होती है परन्तु शरीर बहुधातुक होने के साथ आत्माधिष्ठित है। चिकित्सा-ग्रन्थों में वर्णित सृष्टि-प्रक्रिया एवं प्रामाण्यवाद सांख्य दर्शन पर ही आधारित है। औषधियों एवं उनमें अन्तर्निहित गुणों के वर्णन में, रोगोत्पत्ति में, गर्भावक्रान्ति इत्यादि के वर्णन में सांख्य दर्शन का सत्कार्य-वाद संश्लिष्ट है। इस प्रकार से चिकित्सा-ग्रन्थों में वर्णित आयुर्वेदीय दर्शन का सांख्य दर्शन से घनिष्ठतम सम्बन्ध है। जिस प्रकार अन्य दार्शनिक प्रस्थानों में प्रमाण, सृष्टि-प्रक्रिया, परमात्मा एवं मोक्ष आदि का वर्णन मिलता है, उसी प्रकार संस्कृत के चिकित्सा-ग्रन्थों में भी समस्त दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या करने का सफल प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के भूमिका भाग में आयुर्वेदीय संहिताओं तथा संहिताकारों का वर्णन किया गया है। प्रथम अध्याय में अनुबन्ध-चतुष्टय अधिकारी, विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन की विवेचना की गई है। द्वितीय अध्याय में उन प्रमाणों का वर्णन किया गया है जिनके आधार पर चिकित्सक रोगगत एवं रोगिगत समस्त भावों की परीक्षा करके चिकित्सा-कर्म का निश्चय करता है। वे हैं—आप्तोदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान। तृतीय अध्याय में सृष्टि निरूपण किया गया है, इस अध्याय में चिकित्सा-ग्रन्थों में प्राप्त मतभेदों की चर्चा की गई है। चतुर्थ अध्याय में आत्मनिरूपण किया गया है। आत्म-तत्त्व की तीन विभिन्न स्थितियाँ बताई गई है—कर्मपुरुष, आतिवाहिक पुरुष, परमात्मा। पंचम अध्याय में मोक्ष निरूपण मिलता है। तृष्णा-रहित निवृत्ति ही मोक्ष है। उपसंहार में चिकित्सा के चतुष्पादों का वर्णन किया गया है। वे हैं—चिकित्सक, औषधि, परिचारक तथा रोगी।

इस ग्रन्थ की पूर्णता में पितृकल्प परम दार्शनिक एवं परम श्रद्धेय डा० आद्या प्रसाद मिश्र जी (भू० पू० कुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने मेरी शास्त्र सम्बन्धी जिज्ञासाओं का एवं जीवन की समस्याओं का समाधान करके अहैतुकी अनुकम्पा की है। मैं आपके चरणों में अपना शीश झुकाता हूँ। मैं पूज्यपाद डा० चण्डिका प्रसाद शुक्ल (भू० पू० अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) का, श्रद्धेय डा० राजेन्द्र मिश्र अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, शिमला विश्वविद्यालय (हिमाचल प्रदेश) का हार्दिक कृतज्ञ हूँ जिनकी अमृतवर्षिणी वाणी मेरे मनस्तापों का हरण कर ग्रन्थ रचना में प्रेरणा प्रदान करती रही है।

मैं अपने पूज्यचरण कर्मयोगी स्वर्गीय पिता जी तथा स्नेहमूर्ति पूजनीया माता जी से जन्म-जन्मान्तरों तक उऋण नहीं हो सकता, जिनके आशीर्वाद से यह ग्रन्थ पूर्णता को प्राप्त हो सका। मुझे जीवन में अपनी सहधर्मिणी श्रीमती प्रेमलता द्विवेदी एवं छोटी बहनों तथा भाइयों से अनेक प्रकार की सहायता मिली है। इनको हार्दिक अनन्त आशीर्वाद।

अक्षयवट प्रकाशन के स्वत्वाधिकारी एवं अभिन्नहृदय श्री सत्यव्रत मिश्र जी एवं शुभचिन्तक प्रेस, श्री अतिबल गिरि दारागंज, इलाहाबाद को धन्यवाद देता हूँ। जिनके निरन्तर प्रयास से इस ग्रन्थ का मुद्रण सम्भव हो सका।

मैं राष्ट्रीय-संस्कृत-संस्थान को इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु आर्थिक सहायता, भले ही वह अल्प और अपर्याप्त हो, प्रदान करने के लिए धन्यवाद देता हूँ।

अन्त में मैं पराशक्ति को नमन कर महर्षि चरक के वचनों को उद्धृत करता हूँ—

नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥
मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धं सत्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः॥

कृष्ण-जन्माष्टमी, १९९५ — शशाङ्क चन्द्र
इलाहाबाद

विषयानुक्रमणिका

तस्मान्मतिं विमुच्यैताममार्गप्रसृतां बुधः ।
सतां बुद्धिप्रदीपेन पश्येत् सर्वं यथातथम् ।।
—चरक संहिता ११।१३

इदमेवमुदारार्थमज्ञानां न प्रकाशकम् ।
शास्त्रं दृष्टिप्रणष्टानां यथैवादित्यमण्डलम् ।।
—चरक संहिता ३०।८५

भूमिका

ग्रन्थ-परिचय

संस्कृत का चिकित्सा-साहित्य अपार है। शोध विषय के अनुसार दार्शनिक तत्त्वों के अध्ययन के पूर्व विषय से सम्बन्धित ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय कालक्रमानुसार प्रस्तुत किया जा रहा है।

चरक-संहिता

चरक-संहिता की रचना के पीछे अनेक शताब्दियों का आयुर्वेदीय अध्ययन तथा अनुशीलन जागरूक है।[१] अनेक युगों के विद्वानों ने अपनी प्रतिभा तथा बुद्धि वैभव के बल पर आयुर्वेद सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों तथा तथ्यों को खोज निकाला उसका सुन्दर समन्वय हमें चरक-संहिता में प्राप्त होता है। इस समय तक चरक-संहिता की जो प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं उनका मन्थन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि चरक-संहिता का वर्तमान स्वरूप संस्कार तथा परिष्कार के बाद प्राप्त हुआ है। वस्तुतः यह संहिता किसी एक व्यक्ति की कृति नहीं अपितु विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा चार चरणों में सम्पन्न हुई है। निर्माण प्रक्रिया का प्रथम चरण वह जब पुनर्वसु आत्रेय नामक महर्षि ने इस शास्त्र का उपदेश अपने शिष्य अग्निवेश को किया था। द्वितीय चरण वह है जब अग्निवेश ने इन उपदेशों को संकलित करके 'अग्निवेश तन्त्र' का निर्माण किया था तथा बाद में निर्माण के तृतीय चरण में चरक मुनि के द्वारा उसका प्रतिसंस्कार किया गया। चतुर्थ चरण में प्रतिसंस्कृत रूप का भी परिवर्द्धन तथा प्रतिसंस्कार दृढ़बल ने किया। इस प्रकार से यह ग्रन्थ किसी एक अकेले व्यक्ति की रचना नहीं है। महर्षि पुनर्वसु आत्रेय के पूर्ववर्ती इन्द्र, भारद्वाजादि महापुरुषों के द्वारा आयुर्वेद विषयक जो ज्ञान उपार्जित किया गया था उसको सम्मिलित करके चरक तथा दृढ़बल के समय तक का सम्पूर्ण संचित ज्ञान इस संहिता में उपनिबद्ध किया गया है। डा० पी सी० राय ने ठीक ही कहा था—"वस्तुतः वैदिक युग से लेकर प्रतिसंस्कर्त्ताओं के समय तक इस विषय पर जो ज्ञान संचित हुआ था यह ग्रन्थ उस सम्पूर्ण ज्ञान का भाण्डारागार है।"[२]

---

१. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृष्ठ ८

२. पी० सी० राय—हिस्ट्री आफ हिन्दू केमिस्ट्री

चरक-संहिता के पहले अध्याय में कहा गया है कि पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश, भेल, जतुकर्ण, पराशर, हारीत, तथा क्षारपाणि—इन अपने छः शिष्यों को इस ज्ञान को हस्तांतरित किया था।[1] इनमें सर्वप्रथम अग्निवेश ने तंत्र रचना की, तदनन्तर अन्य शिष्यों ने भी अपने-अपने तंत्र रचे। इन आचार्यों ने अपनी-अपनी रचनायें प्रथम ऋषि-परिषद् के समक्ष आचार्य आत्रेय को सुनाई जिनके द्वारा अनुमोदित होने पर लोक में सर्वाधिक अग्निवेश तंत्र प्रतिष्ठित हुआ।[2] ऊपर किये गये वर्णन से ये स्पष्ट हो गया है कि इस क्षेत्र को सर्वप्रथम विख्यात कृति 'अग्निवेश तंत्र' थी। उपर्युक्त आख्यान से अनेक तथ्यों का स्पष्टीकरण हो जाता है। प्रथम यह कि ये रचनायें मूलतः तंत्र के नाम से प्रसिद्ध थीं संहिता के नाम से नहीं। दूसरा यह कि इनमें विषयों का प्रतिपादन सूत्र रूप में हुआ था।[3] वस्तुतः इस समय अनेक सूत्र-ग्रंथों का निर्माण हो रहा था। सूत्र रूप अग्निवेश तंत्र पर कालान्तर में चरक ने संग्रह तथा भाष्य लिखा जो कि चरक-संहिता के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कालान्तर में दृढ़बल ने इसका पुनः प्रतिसंस्कार किया। इन तीनों स्थितियों का संकेत सूत्रभाष्य-संग्रह क्रम के द्वारा किया गया है।[4] उपलब्ध सामग्री के आधार पर इन ग्रन्थ निर्माण-कर्त्ताओं का परिचय दिया जा रहा है।

पुनर्वसु आत्रेय

चरक-संहिता में आत्रेय, पुनर्वसु आत्रेय, कृष्णात्रेय तथा भिक्षु आत्रेय—ये चार नाम मिलते हैं। आत्रेय के साथ अनेक विशेषणों का प्रयोग होने से यह शंका होती है कि ये एक ही व्यक्ति थे या भिन्न-भिन्न? आत्रेय, पुनर्वसु आत्रेय तथा कृष्णात्रेय एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं, किन्तु भिक्षु आत्रेय इनसे अलग कोई अन्य व्यक्ति हैं। क्योंकि दीर्घञ्जीवितीय में महर्षियों की सूची में आत्रेय से भिक्षु आत्रेय को पृथक् गिना गया है तथा यज्जःपुरुषीय में पुनर्वसु आत्रेय ने भिक्षु आत्रेय के मत का निषेध किया है। अतः पुनर्वसु आत्रेय तथा भिक्षु आत्रेय ये दो पृथक् व्यक्ति सिद्ध होते हैं। अत्रि के पुत्र होने के कारण तथा पुनर्वसु नक्षत्र में उत्पन्न होने के कारण इनको पुनर्वसु आत्रेय कहा गया है। पुनर्वसु के प्रसंग में आत्रेय शब्द गोत्रवाचक न

---

१. च० सू० १।३०-३१

२. च० सू० १।३३-४०

३. श्रुत्वा सूत्रणमर्थानाम्।—च० सु० १।३४, सूत्रकृतामृषीणाम्।—च० शा० ६।१८

४. 'सुप्रणीतसूत्रभाष्यसंग्रहक्रमम्'।—च० वि० ८।३
'त्रिविधस्यायुर्वेदसूत्रस्य संग्रह-व्याकरणस्य'।—च० सू० २९।७

होकर अत्रिपुत्र का ही बोधक है। क्योंकि इनको चरक-संहिता में कई स्थलों में अत्रिसूनु, अत्र्यात्मज, अत्रिनन्दन, अत्रिसुत एवं अत्रिज की संज्ञा से पुकारा गया है। अश्वघोष ने अपने ग्रन्थ में 'बुद्धचरितम्' में आत्रेय ऋषि को चिकित्साशास्त्र का प्रवक्ता माना है किन्तु उनके पिता अत्रि को नहीं[1]।

कृष्णात्रेय भी इन्हीं का अपर नाम है। चरक-संहिता में एक स्थान में संग्रह श्लोकों में 'कृष्णात्रेय' शब्द का प्रयोग हुआ।[2] (त्रित्वेनाष्टौ समुद्दिष्टाः कृष्णात्रेयेण धीमता—(च० सू० ११।२३) भेल-संहिता में भी दो-तीन स्थलों पर आत्रेय पुनर्वसु को कृष्णात्रेय कहा गया है[3]। महाभारत में भी 'कृष्णात्रेयश्चिकित्सतम्' कृष्णात्रेय को चिकित्साशास्त्र का ज्ञाता कहा गया है। चरक-संहिता के टीकाकार चक्रपाणि ने भी पुनर्वसु तथा कृष्णात्रेय को अभिन्न माना है।[4] अष्टांगसंग्रह के टीकाकार इन्दु ने तथा सिद्धयोग संग्रह की टीका कुसुमावलि में श्रीकण्ठ ने भी 'कृष्णात्रेय पुनर्वसुः' कहकर कृष्णात्रेय तथा पुनर्वसु को एक ही व्यक्ति माना है। शिवदास सेन तथा श्रीकण्ठदत्त के द्वारा उद्धृत कृष्णात्रेय के शालाक्यतन्त्र विषयक वचनों को देखकर कुछ लोग उनके पुनर्वसु आत्रेय से भिन्न होने की कल्पना करते हैं। परन्तु यह उचित नहीं क्योंकि एक ही कृष्णात्रेय कायचिकित्सा के समान शालाक्यतन्त्र के भी विद्वान् हो सकते हैं। अथवा शालाक्यतन्त्र के प्रणेता कृष्णात्रेय यदि अग्निवेश के गुरु कृष्णात्रेय से भिन्न भी हों, तो भी हमारी कोई क्षति नहीं है। हमारा मन्तव्य तो केवल इतना ही है कि अग्निवेश के गुरु पुनर्वसु आत्रेय कृष्णात्रेय के नाम से भी प्रसिद्ध थे। कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्धित होने के कारण अथवा श्यामवर्ण होने के कारण उनका यह नाम पड़ा होगा।

पुनर्वसु आत्रेय के लिए चान्द्रभाग या चान्द्रभागि अन्य विशेषण उपलब्ध होते हैं। भेलसंहिता के 'सुश्रोता नाम मेधावी चान्द्रभागमुवाच ह' तथा 'संग्रह्य पादौ प्रपच्छ चान्द्रभागं पुनर्वसुम्' इत्यादि वाक्यों से पुनर्वसु तथा चान्द्रभाग की एकता सिद्ध होती है। विद्वानों का कहना है कि चन्द्रभागा इनकी माता का नाम था। चन्द्रभागा से अपत्यार्थक इञ् प्रत्यय लगकर चान्द्रभागि तथा अपत्यार्थक अण् प्रत्यय लगकर

---

१. 'चिकित्सतं यच्च चकार नात्रिः पश्चादत्तदात्रेय ऋषिर्जगाद' ।—बु० च० १।४३
२. चरक चिन्तन—प्रियव्रत शर्मा, पृष्ठ ३
३. 'कृष्णात्रेयं पुरस्कृत्य कथाश्चक्रर्महर्षयः' ।—भे० सं०, पृ० २८
'अशीतिकं नरं विद्यात् कृष्णात्रेय वचो यथा' ।—भे० सं०, पृ० ६८
४. 'कृष्णात्रेयः पुनर्वसोरभिन्न स्वेति वृद्धाः' ।—च० कि० १५।१३५ पर चक्रपाणि

चान्द्रभाग शब्द बनेगा। कुछ लोग काश्मीर से निकलने वाली चन्द्रभागा नदी से इनका सम्बन्ध जोड़कर इन्हें उसके तटवर्ती प्रदेश का निवासी मानते हैं।

यादव शर्मा प्रभृति कुछ विद्वान् गान्धार देश को इनको जन्मभूमि मानते हैं। इनके इस कथन का आधार भेलसंहिता का यह वचन है—

गन्धारभूमौ राजर्षि नग्नजित् स्वर्णभार्गनः।
संगृह्य पादौ प्रपच्छ चान्द्रभागं पुनवर्सुम्॥
न च स्त्रीभ्यो न चास्त्रीभ्यो न भृत्ये योस्ति मे भयम्।
अन्यत्र विषयोगेभ्यः सोऽत्र मे शरणं भवान्॥
एवमुक्तस्तथा तस्मै महर्षिः पार्थिवर्षये।
विषयोगेषु विज्ञानं प्रोवाच वदतां वरः॥

—भेलसंहिता, पृष्ठ ३०

किन्तु उपर्युक्त कथन से इतना ज्ञात होता है कि पुनर्वसु राजर्षि नग्नजित् के समकालीन थे तथा उन दोनों की भेंट गान्धार देश में हुयी थी। चरक-संहिता का अध्ययन करने से उनका जो स्वरूप सामने आता है वह एक विचरणशील यायावर का है। उन्हें हम पंचाल क्षेत्र की राजधानी काम्पिल्य में गंगा के तट पर अपने अन्तेवासियों के साथ वन में विचरण करते हुए, रमणीय चैत्ररथ वन में विहार करते हुए, पंचगंग प्रदेश में अपने शिष्यों को आयुर्वेद का उपदेश देते हुए, हिमालय के रमणीय प्रान्त में धनेशायतन के समीप विश्राम करते हुए, किन्नरों से आकीर्ण कैलास पर्वत पर विहार करते हुए तथा हिमालय के उत्तर पार्श्व (तिब्बत) में घूमते हुए पाते हैं।[१] उनका यह देश-देशान्तर में परिभ्रमण लोकोपकारार्थ, आयुर्वेद के प्रचारार्थ तथा औषधियों के विज्ञानार्थ होता था। ऐसी स्थिति में उनके निवास स्थान तथा जन्मभूमि का निर्णय करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रायः समग्र ऋषिमुनिसेवित उत्तरवर्ती हिमालय प्रदेश के अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत में केवल पांचाल क्षेत्र को अपना क्रीड़स्थल चुनने के कारण तथा 'द्विजातिवराध्युषितायाम्' इस विशेषण के द्वारा राजधानी काम्पिल्य की प्रशंसा होने के कारण उन्होंने उसके प्रति अपना विशेष अनुराग प्रदर्शित किया है। सम्भवतः उनका जन्म इसी भूभाग में हुआ होगा।

काल

आत्रेय किस समय हुये थे? इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नहीं है। क्योंकि

१. चरकसंहिता वि० ३।३, सू० २६।६, सिद्धि ३।३, चि० ४।३, चि० २१।३, चि० १६।३ तथा नावनीतक १।१

हमको आज तक कोई भी तर्कपूर्ण सूत्र नहीं उपलब्ध हो सका है। यह मान्यता कि बौद्धकालीन तक्षशिला के अध्यापक आत्रेय ही आयुर्वेद सूत्रों के उपदेष्टा थे, तर्क-संगत नहीं है।[1] पं० हेमराज जी का कथन दृष्टव्य है, 'तिब्बतीय कथा में तक्षशिला निवासी आत्रेय से जीवक के अध्ययन करने का उल्लेख होने से ज्ञात होता है कि यही बुद्धकालीन आत्रेय पुनर्वसु आत्रेय हैं। परन्तु जीवक के अध्ययन सम्बन्धी वर्णन में जीवक के गुरु का नाम नहीं मिलता। सिंहल देश की कथा में जीवक के गुरु का नाम कपिलाक्ष बताया गया है। ब्रह्मदेश की कथा में जीवक का अध्ययन बनारस में बताया गया है। इस प्रकार अनेक कथाओं के आधार पर निर्णय न करके महावग्ग को प्रामाणिक मानना ठीक है। चरक-संहिता में भी तक्षशिला का उल्लेख नहीं मिलता इसलिए चरक-संहिता के उपदेष्टा आत्रेय इससे भिन्न है। सम्भवतः गोत्र साम्य से नाम साम्य हो।[2]

श्री विद्यालंकार महोदय ने चरक-संहिता में उपलब्ध अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर आत्रेय का काल छः सौ पचास ई० पूर्व निर्धारित किया है। इन आत्रेय भगवान् ने अपने छः शिष्यों को उपदेश दिया जिन्होंने आत्रेय के उपदेशों को तन्त्र-रूप में निबद्ध किया।

अग्निवेश

आत्रेय के शिष्यों में अग्निवेश द्वारा रचित तन्त्र ही सर्वाधिक प्रसिद्ध हुआ। चरक-संहिता में अग्निवेश का निर्देश आत्रेय पुनर्वसु के प्रधान शिष्य के रूप में हुआ है। चरक के द्वारा प्रतिसंस्कृत किये जाने पर यही अग्निवेश तन्त्र कालांतर में चरक-संहिता के नाम से लोक में विख्यात हुआ।

अग्निवेश तन्त्र (चरक-संहिता) में तक्षशिला का उल्लेख नहीं है जबकि पाणिनि के सूत्रों में तक्षशिला का उल्लेख मिलता है।[3] पाणिनि के सूत्रों में जतुकर्ण, पराशर तथा अग्निवेश शब्द का उल्लेख मिलता है।[4] उपर्युक्त इन दो तथ्यों से यह स्पष्ट है कि अग्निवेश पाणिनि के पूर्ववर्ती थे। पाणिनि का काल पाँचवीं शताब्दी

---

१. तिब्बतन टेल

तु० क—राकहिल कृत लाइफ आफ बुद्ध, पृष्ठ ६५ तथा पृष्ठ ९६

ख—इतिहास प्रवेश (जयचन्द्र विद्यालंकार)

२. काश्यप संहिता का उपोद्‌वात

३. सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽण् ।—पाणिनि सू० ४।३।९३

४. पाणिनि सू० ४।१।१०५

ई० पूर्व निश्चित हो चुका है, अतः अग्निवेश पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व से पहले ही हुये होंगे। यह समय हमको प्रसिद्धि दृष्टि से छः सौ पचास ईसा पूर्व प्रतीत होता है।

पं० हेमराज ने काश्यप संहिता (उपोद्घात) में अपने संग्रह से हेमाद्रि के लक्षण प्रकाश के कुछ वचन उद्धृत किये हैं। इनमें अग्निवेश, हारीत, क्षारपाणि आत्रेय आदि का नाम लिखा है तथा इन सबको आयुर्वेद का कर्त्ता कहा है। पालकाप्य कृत हस्त्यायुर्वेद[1] के चतुर्थ स्थान के चौथे अध्याय में अग्निवेश का मत उल्लिखित है। इससे स्पष्ट है कि अग्निवेश पालकाप्य से पूर्व ही हुये होंगे।

गौतम बुद्ध के साथ आध्यात्मिक वार्ता के समय संचक (सत्यक) नामक निग्रन्थनाथ पुत्र का नाम भी गोत्र रूप में अग्निवेश आया है।[2] अग्निवेश, जतुकर्ण, पराशर नाम उपनिषद में भी प्राप्त होते हैं।[3]

चरक-संहिता की भूमिका में आचार्य प्रियव्रत शर्मा ने अनेक उपनिषदों तथा चरक-संहिता में कुछ स्थलों में विषय तथा वर्णन-विधि में साम्य दिखाकर अग्निवेश तन्त्र को उपनिषदकालीन कहा है।

परन्तु उपनिषद काल का निर्धारण करना स्वयं में एक समस्या है। राधाकृष्णन ने लिखा है कि उपनिषदों की हम कोई निश्चित तिथि नहीं निर्धारित कर सकते। उनमें से निश्चित कुछ बुद्ध काल से पूर्व की है तथा कुछ बाद की। इस बात की अवश्य अधिक सम्भावना है कि वे वैदिक मन्त्रों तथा बुद्ध धर्म के उदय के बीच के समय में, जो कि लगभग छठी शताब्दी ईसा पूर्व है, रची गई हैं।[4]

आचार्य प्रियव्रत शर्मा ने लिखा है कि आत्रेय, पुनर्वसु तथा अग्निवेश गुरु-शिष्य होने के कारण समकालीन हैं। इस स्थल से कुछ पूर्व हमने आत्रेय का समय छः सौ पचास ईसा पूर्व निर्धारित किया है अतः इनका समय लगभग छः सौ ईसा पूर्व से लेकर छः सौ पचास ईसा पूर्व के बीच में है। इसी समय का समर्थन वासुदेव शरण अग्रवाल ने भी किया है। वे कहते हैं कि नाक्षत्रिक नाम उपनिषदों में नहीं मिलते, पाणिनि काल में मिलते हैं। उपनिषदों में गोत्रवाचक नाम ही अधिकांश मिलते हैं। इससे भी यह प्रतीत होता है कि अग्निवेश का समय उपनिषद काल के अन्त में तथा

---

१. पालकाप्य-हस्त्यायुर्वेद, पृष्ठ ५८१

२. मज्झिम-निकाय, पृष्ठ १३८

३. आग्निवेश्यादाग्निवेश्यः पराशर्यात् पाराशर्यो जातुकर्ण्याज् जातूकर्ण्यः।

—बृहदारण्यक० २।७।२-३

४. भारतीय दर्शन, भाग १, पृष्ठ १४३

पाणिनि काल से कुछ पूर्व है और यह समय छः सौ-छः सौ पचास ईसा पूर्व ही है।[1]

चरक

अग्निवेश कृत अग्निवेश तन्त्र का प्रतिसंस्कार चरक द्वारा हुआ। प्रश्न यह है कि यह चरक कौन थे? 'चरक' शब्द सम्प्रदाय का वाचक था अथवा नाम का? संस्कृत साहित्य में हमें विभिन्न अर्थ में चरक का प्रयोग मिलता है। कृष्णयजुर्वेद की एक शाखा का नाम चरक है जिसके अध्येता चरक कहे जाते हैं।[2] ललितविस्तर में भ्रमणशील संन्यासियों के लिये चरक शब्द का प्रयोग मिलता है।[3] वृहज्जातक में चरक शब्द से संन्यासी का ही अर्थ ग्रहण किया गया है।[4] उपनिषदों में भी चरक शब्द का उल्लेख इसी अर्थ में मिलता है।[5] भावप्रकाश में शेषनाग को चरक के रूप में प्रतिविम्ब में आने के कारण चरक कहा गया है। राधाकृष्ण मुकर्जी ने चरक शब्द से ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य से भ्रमणशील विद्वानों का अर्थ ग्रहण किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि चिकित्सा करने वाले भ्रमणशील व्यक्तियों को चरक कहा जाता था। वृहज्जातक की व्याख्या में वैद्य विद्या का उपदेश तथा चिकित्सा करने वालों को चरक कहा गया है। लगता है इन लोगों ने कालान्तर में अपने समाज की विधिवत् स्थापना भी कर ली थी क्योंकि शक राजा नहपान के दामाद ऋषभदत्त द्वारा चरक-समाज को दान देने का उल्लेख मिलता है।[6] इसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित किसी चरक ने अग्निवेश-तन्त्र का संस्कार किया होगा। अपने इस महान् विद्वतापूर्ण कार्य के कारण लोक में विख्यात हो गया रहा होगा तथा अपनी इसी ख्याति के कारण वह कनिष्क की राज्य सभा में प्रतिष्ठित हुआ होगा।

चरक का काल—चरक की अपर सीमा के सम्बन्ध में लगभग सभी विद्वान एकमत में विश्वास करते हैं। चरक-संहिता में वर्णित अनेक विषयों का तद्विध वर्णन

---

१. पाणिनि कालीन भारतवर्ष

२. चरक इति वैशम्पायनस्याख्या, तत्सम्बन्धेन सर्वे तदन्तेवासिनश्चरका इत्युच्यन्ते।
—काशिका ४।४।१०२

३. ललितविस्तर (प्रथम अध्याय)

४. ····भिक्षुवृद्धचरकाः निर्ग्रन्थन्यासना।—वृहज्जातक

५. मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजामः।—वृह० ३।३।१

६. 'शक इन इंडिया'—नासिक इंसक्रप्शंस १० के आधार पर
'तु० तस्माच्चर-कानाम्नाऽसौ ख्यातश्च क्षितिमण्डले'।—भावप्रकाश

याज्ञवल्क्य स्मृति में उपलब्ध होता है। याज्ञवल्क्य स्मृति का काल तीसरी शताब्दी में निर्धारित हो चुका है अतः उपर्युक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुये इस धारणा में किसी को सन्देह नहीं करना चाहिये कि चरक तीसरी शताब्दी के पूर्व हीं हो चुके थे। अब हम चरक-संहिता की पूर्व सीमा के सम्बन्ध में विचार करेंगे। चरक-संहिता में हमें ऐसे वर्णन मिलते हैं जिनमें कि बौद्ध धर्म के क्षणिकवाद का प्रभाव दिखाई पड़ता है। अतः यह निश्चित है कि चरक मुनि बौद्ध धर्म के प्रचार के पश्चात् ही हुए होंगे। छठी शताब्दी ईसा पूर्व में उत्पन्न भगवान् बुद्ध के द्वारा प्रचलित किये गये बौद्ध धर्म को समाज में लोकप्रिय होने में लगभग डेढ़ सौ वर्ष का समय अवश्य लगा होगा। अतः चरक साढ़े चार सौ ईसा पूर्व से पहले नहीं हो सकते।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि चरक साढ़े चार सौ ई० पूर्व (पूर्व सीमा) तथा तीन सौ ई० (अपर सीमा) के मध्य कभी उत्पन्न हुये होंगे। इस दीर्घ अवधि में जब हम चरक का काल अन्वेषण करने के लिये उद्यत होते हैं तो हमारी अन्वेषणी-दृष्टि त्रिपिटक के चीनी अनुवाद में ठहर जाती है तथा हमारी जिज्ञासा का समाधान उस स्थल में हो जाता है जहाँ पर स्पष्ट रूप से लिखा है कि कनिष्क का राज्य वैद्य चरक था।[1]

डा० प्रियव्रत शर्मा का यह आरोप कुछ अधिक महत्व का नहीं है कि बौद्ध धर्ममतानुयायी कनिष्क के राज्य सभा में वैदिक धर्म में विश्वास करने वाला चरक कैसे स्थान पा सकता है। सम्भवतः डा० शर्मा ने इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया है कि चरक धर्मगुरु नहीं था। वह तो आरोग्य शास्त्र का महान् ज्ञाता, चिकित्सा कर्म में निष्णात, युगप्रवर्तक वैद्य था जिसकी किसी राजा के राज्य सभा में उपस्थिति उस राजा के लिये गौरवमयी घटना थी भले ही वह राजा किसी भी धर्म का अनुयायी हो। इस प्रकार से उपर्युक्त स्पष्ट एवं ठोस लिखित साक्ष्य के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि चरक का समय पहली शताब्दी ईसा पूर्व है।

चरक तथा पतञ्जलि

एक प्राचीन परम्परा है कि योग शास्त्र के प्रणेता महर्षि पतञ्जलि ने ही चरक के नाम से ही अग्निवेश-तंत्र का प्रतिसंस्कार किया था[2]। बहुशः प्रचलित होने पर भी हम इसको मान्यता नहीं दे सकते क्योंकि यदि इस तथ्य में तनिक भी सत्य होता

---

१. सिल्वां लेवी का जर्नल आफ एशिया टिग्यू, पृष्ठ ४४४

२. पातञ्जल महाभाष्य-चरकप्रतिसंस्कृते ।
मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः ।।—चक्रपाणि

तो भट्टार हरिश्चन्द्र जैसे चरक-संहिता के प्राचीन टीकाकारों ने इस महत्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख अवश्य किया होता। सर्वप्रथम इस प्रकार की भ्रमपूर्ण धारणा का उल्लेख चरक-पंजिकाकार स्वामी कुमार (छठी शताब्दी) ने किया जिसका अनुकरण चक्रपाणि तथा भाव मिश्र इत्यादि टीकाकारों ने किया।

दृढ़बल

चरक के द्वारा प्रतिसंस्कृत चरक-संहिता का कुछ भाग खण्डित हो गया था जिसको कि दृढ़बल ने पूर्ण किया। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि चरक ने सम्पूर्ण अग्निवेश तंत्र का संस्कार ही नहीं किया था। चरक के द्वारा छोड़े गये शेष अंश का संस्कार दृढ़बल ने किया था। जैसाकि श्री अत्रिदेव का कहना है कि जिस प्रकार कादम्बरी का पूर्वार्द्ध बाणभट्ट ने लिखा था उसी प्रकार चरक आधी संहिता लिखकर ही दिवंगत हो गये थे। शेष अपूर्ण अंश को दृढ़बल ने पूरा किया था। परन्तु यह धारणा उचित नहीं है क्योंकि स्वयं दृढ़बल ने यह लिखा है कि उसनें त्रिभाग का संस्कार किया है आधे का नहीं। यही नहीं दृढ़बल ने प्रतिसंस्कृत स्थानों के अन्त में 'अग्निवेशकृते तंत्रे चरकसंस्कृते' ऐसा दिया है। यदि यह अंश चरक के द्वारा प्रतिसंस्कृत न होता तो दृढ़बल ने अपना नामोल्लेख निश्चित रूप से किया होता न कि चरक का। इस धारणा की पुष्टि में यह कम महत्वपूर्ण तथ्य नहीं है किचरक-संस्कृत अंश में ही कल्प स्थान तथा सिद्धि स्थान का निर्देश है।[1]

काल—अष्टांग संग्रह में दृढ़बल के पिता का कपिलबल का स्पष्ट निर्देश है। अष्टांग संग्रह छठी शताब्दी की रचना है अतः प्रसिद्धि की दृष्टि से दृढ़बल का समय चौथी शती प्रतीत होता है। अतः इनका काल गुप्तकाल ही है। यह पंचनद के निवासी थे। डा० उमेश दत्त[2] ने पंचनद नगर का तादात्म्य पंजाब से स्थापित किया है। इस तादात्म्य को डा० कौरदिये[3] ने स्वीकार करके उन्होंने अटक के उत्तर में पंजपुर की ओर संकेत किया है।

दृढ़बल की देन—जो अंश दृढ़बल ने लिखे थे वे हैं चिकित्सा स्थान के १७ अध्याय, पुराकल्प स्थान (१२ अध्याय) तथा सिद्धि स्थान (१२ अध्याय)। इस प्रकार से चरक-संहिता में ४१ अध्याय दृढ़बल के लिखे हुए हैं। कल्प स्थान तथा सिद्धि स्थान

---

१. च० सू० ४।४, च० सू० १५।५

२. मैटीरिया मेडिका उमेश चन्द्र दत्त

3. Recentes decouvertes des Mss Medicaux Sanscrits dans L'Inde, Page 13

के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है परन्तु चिकित्सा के कौन से १७ अध्याय दृढ़बल के द्वारा निर्मित हैं इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है। चरक-संहिता के कलकत्ता तथा बम्बई संस्करणों में अध्यायों का क्रम भिन्न-भिन्न मिलता है। परन्तु कलकत्ता संस्करण का क्रम टीकाकारों के अनुसार अधिक मान्य है।[1] यह क्रम इस प्रकार है—

चरककृत	दृढ़बलकृत
अ० १—रसायन	अ० १४—उन्माद
,, २—बाजीकरण	,, १५—अपस्मार
,, ३—ज्वर	,, १६—क्षत
,, ४—रक्तपित्त	,, १७—शोथ
,, ५—गुल्म	,, १८—उदर
,, ६—प्रमेह	,, १९—ग्रहणी
,, ७—कुष्ठ	,, २०—पाण्डु
,, ८—राजयक्ष्मा	,, २१—श्वास
,, ९—अर्श	,, २२—कास
,, १०—अतिसार	,, २३—छर्दि
,, ११—विसर्प	,, २४—तृष्णा
,, १२—यदात्यय	,, २५—विष
,, १३—द्विव्रणीय	,, २६—त्रिमर्मीय
	,, २७—ऊरुस्तम्भ
	,, २८—वातव्याधि
	,, २९—वातशोणित
	,, ३०—योनिव्यापत्

चरक के टीकाकार

चरक-संहिता कायचिकित्सा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने सच ही कहा है कि सच तो यह है कि यह चिकित्सा शास्त्र आयुर्वेद विज्ञान का महनीय विश्वकोष है जिसमें इस शास्त्र के मौलिक तथ्यों तथा

१. चक्रपाणि की भी ऐसी ही मान्यता है—
'ते च चरकसंस्कृतान् यक्ष्मचिकित्सितान्तानष्टावध्यायान्, तथाऽर्शो तीसारविसर्प-द्विव्रणीयमदात्ययोक्तान् विहाय ज्ञेयाः'।—च० चि० ३०।२८९-२९०

तथा सिद्धान्तों का बड़ा गम्भीर विवेचन है।[1] अपने इसी महत्व के कारण इस ग्रन्थ पर सर्वाधिक टीकायें लिखी गईं जिनकी संख्या चालीस तक पहुँच जाती है। हम प्रमुख टीकाकारों का परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. **भट्टार हरिश्चन्द्र**—यह चरक-संहिता के सर्वप्राचीन टीकाकार हैं। क्योंकि अवान्तरकालीन टीकाकारों नें इनके मत का उल्लेख अपनी टीकाओं में किया है। अष्टांग-हृदय के टीकाकार इन्दु के अनुसार हरिश्चन्द्र ने खरनाद संहिता का प्रतिसंस्कार किया था।[2] बाणभट्ट ने एक भट्टार हरिश्चन्द्र के गद्यबन्ध का उल्लेख हर्षचरित के प्रारम्भ में किया है।[3] यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह दोनों ग्रंथकार एक ही थे अथवा भिन्न-भिन्न। यह टीका अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। इसका उल्लेख अनेक टीकाकारों ने किया है[4]। तीसट के पुत्र चन्द्रक का भी ऐसा ही मत है।[5] यह हरिश्चन्द्र 'विश्वप्रकाश' कोष के रचयिता महेश्वर के पूर्व पुरुष थे तथा साहशांक नृपति के प्रख्यात वैद्य थे।[6] कुछ लोग इस राजा को चन्द्रगुप्त द्वितीय से अभिन्न मानकर दोनों का समय एक ही बताते हैं। फलतः हरिश्चंद्र का समय पंचमी शती का प्रारंभिक काल सिद्ध होता है। इनकी टीका का नाम चरक न्यास है।

२. **जेज्जट**—यह वाग्भट के शिष्य थे। इसका पता इनकी चरक टीका की पुष्पिका से लगता है। इनके सहाध्यायी इन्दु नें अष्टांग संग्रह पर शशिलेखा नाम्नी टीका लिखी। मम्मट कैयट की तरह टकारान्त होने से यह कश्मीरी प्रतीत होते हैं। इनका समय नवीं शती से प्राचीन है। इनके द्वारा लिखी गई टीका का नाम है 'निरन्तरपदव्याख्या'। प्राप्त अंश को मोतीलाल बनारसीदास ने प्रकाशित किया है।

३. **स्वामी कुमार**—इनकी टीका चरक पजिका प्रथम पाँच अध्यायों तक मद्रास राजकीय पुस्तकालय में उपलब्ध है जिसमें भट्टार हरिश्चन्द्र के वचनों का विशेष उल्लेख मिलता है।

---

१. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृष्ठ १४

२. या च खरनादसंहिता भट्टारहश्चिन्द्रकृता श्रूयते।

३. भट्टारहरिश्चन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते (हर्षचरित)।

४. हरिश्चन्द्रकृतां व्याख्या बिना चरकसम्मतम्।
यस्तनोत्यकृतप्रज्ञः पातुर्याहति सोऽम्बुधिम्॥

५. व्याख्यातरि हरिश्चन्द्रे श्रीजेज्जटनाम्नि सति सुधीरे च।
अन्यस्यायुर्वेदे व्याख्या धाष्ठर्यं समावहति।

६. विश्वप्रकाश कोष का प्रारम्भ

४. चक्रपाणि—टीकाकारों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध टीकाकार यह चक्रपाणिदत्त हैं। इनका परिवार गौड़ नृपति नयपाल के यहाँ नौकर था। इसका समय १०४० ई० से १०७० ई० तक है। फलतः इनका आविर्भाव काल दसवीं शती का उत्तरार्द्ध है। इनके द्वारा लिखी गई टीका का नाम 'आयुर्वेद-दीपिका' अथवा 'चरकतात्पर्यटीका' है। यह टीका अत्यन्त प्रौढ़ा प्रमेय बहुला तथा चरक के तात्पर्य की वस्तुतः प्रकाशिका है। यह सम्पूर्ण टीका कई स्थलों से प्रकाशित है। इन्होंने सुश्रुत की भी टीका लिखी थी। इसके अलावा इन्होंने चिकित्सा संग्रह नाम का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा था। चरक-संहिता को लोकप्रिय बनाने में इस महान टीका-कार का सर्वाधिक हाथ है। आयुर्वेद समाज एवं भारतीय संस्कृति इनकी ऋणी है।

५. शिवदास सेन—यह टीकाकार पन्द्रहवीं शती में बंगाल का निवासी था। इनके द्वारा लिखी गई टीका का नाम है 'तत्वचन्द्रिका' यह खण्डित रूप से उपलब्ध है। इनके अन्य ग्रन्थ हैं द्रव्यगुणसंग्रह व्याख्या, तत्व प्रदीपिका तथा अष्टांग-हृदय की तत्वबोध व्याख्या।

चरक-संहिता का बिभाजन

चरक-संहिता में आठ स्थान तथा १२० अध्याय हैं।

१. सूत्रस्थान—इसमें वैद्यक सम्बन्धी बहुत-सी उपयोगी सामान्य बातों का वर्णन है। इसमें ३० अध्याय हैं।

२. निदानस्थान—इसमें आठ अध्याय है।

३. विमानस्थान—इसमें भी आठ अध्याय हैं। यह स्थान बहुत ही महत्व-पूर्ण है।

४. शारीरस्थान—इसमें आठ अध्याय हैं। दार्शनिक दृष्टि से यह स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

५. इन्द्रियस्थान—इसमें १२ अध्याय हैं।

६. चिकित्सास्थान—यह बहुत ही विशद है जिसमें सूत्रस्थान के समान ही ३० अध्याय हैं जिसमें १३ अध्याय मौलिक हैं तथा अन्तिम १७ अध्याय दृढ़बल के द्वारा पूरित हैं।

७. कल्पस्थान—इसमें १२ अध्याय हैं।

८. सिद्धिस्थान—इसमें १२ अध्याय हैं तथा यह दृढ़बल के द्वारा पूरित हैं।

सुश्रुत-संहिता

भारतीय चिकित्सा का विकास प्रधानतः दो मार्गों पर अग्रसर हुआ—एक काय-चिकित्सक चरक के मार्ग पर तथा दूसरा शल्यक्रियाज्ञाता सुश्रुत के मार्ग पर। काय-चिकित्सा का प्रधान ग्रन्थ चरक-संहिता है। शल्य-तंत्र का प्रधान ग्रन्थ सुश्रुत-संहिता है, जिसका वर्णन करना ही प्रस्तुत स्थल का विषय है।

जिस प्रकार चरक-संहिता का निर्माण चार चरणों में पूरा हुआ उसी प्रकार सुश्रुत-संहिता का विकास भी चार चरणों में पूरा हुआ। प्रथम चरण में दिवोदास धन्वन्तरि ने वृद्ध सुश्रुत को उपदेश दिया। दूसरे चरण में वृद्ध सुश्रुत के द्वारा रचित तन्त्र का संस्कार सुश्रुत ने किया। तीसरे चरण में सुश्रुत के द्वारा प्रतिसंस्कृत ग्रन्थ का संस्कार नागार्जुन के द्वारा तथा चौथे चरण में नागार्जुन द्वारा प्रतिसंस्कृत ग्रन्थ का संस्कार चन्द्रट द्वारा किया गया।

धन्वन्तरि दिवोदास—उपदेष्टा के रूप में काशीपति धन्वन्तरि दिवोदास का नाम प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में एक चर्चा प्रायः ही हुआ करती है कि यह एक ही व्यक्ति है या भिन्न-भिन्न? इस सन्देह का आधार हरिवंश पुराण (पर्व १ अ० २९) का वह वर्णन है जिसमें काशिराज के पौत्र धन्व के पुत्र का नाम धन्वन्तरि बताया गया है एवं साथ ही इस धन्वन्तरि की चौथी पीढ़ी में दिवोदास को बताया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के उपदेष्टा का नाम धन्वन्तरि दिवोदास मिलता है। जबकि प्रायः सभी पुराणों में धन्वन्तरि तथा दिवोदास को भिन्न-भिन्न पीढ़ी का माना गया है।

इस समस्या का समाधान इस प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है। धन्व के पुत्र धन्वन्तरि को पौराणिक आख्यानों में आयुर्वेद प्रवर्तक तथा आयुर्वेदज्ञ कहा है। इस प्रकार से यह सम्पूर्ण आयुर्वेद के ज्ञाता थे जबकि सुश्रुत-संहिता के उपदेष्टा केवल शल्यतन्त्रज्ञ थे। अतः यह स्पष्ट है कि धन्वन्तरि तथा काशीपति दिवोदास भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। तब प्रश्न यह है कि दिवोदास का नाम धन्वन्तरि दिवोदास क्यों मिलता है? वस्तुतः कालक्रम से 'धन्वन्तरि' पौराणिक महत्व को प्राप्त कर आयुर्वेद विद्या में देवत्व को प्राप्त कर गये। इन्हीं धन्वन्तरि की पीढ़ी में देवदास हुए, ये भी धन्वन्तरि की ही भाँति कुशल आयुर्वेद ज्ञाता थे अतः इनको धन्वन्तरि दिवोदास ही कहा जाने लगा।

इस प्रकार 'धन्वन्तरि' शब्द से सम्पूर्ण आयुर्वेदज्ञ ज्ञाता धन्व के पुत्र धन्वन्तरि अर्थ लेना चाहिए तथा धन्वन्तरि दिवोदास शब्द से शल्यतन्त्रज्ञ धन्वन्तरि दिवोदास का अर्थ ग्रहण करना चाहिए। यही काशीपति धन्वन्तरि दिवोदास सुश्रुत-संहिता के उप-

द्रष्टा थे। इनके समय तक आयुर्वेद का अष्टांग विभाजन हो गया था तथा शल्य तन्त्र का विकास एक विशेष अङ्ग के रूप में हो चुका था।

काल—दिवोदास का उल्लेख महाभाष्य (दूसरी शती ई० पू०), वार्तिक (चौथी शती ई० पू०) में मिलता है। अतः यह निश्चित है कि यह चौथी शती ई० पू० के बहुत पहले हो चुके थे। चरक-संहिता में अनेक स्थलों पर धन्वन्तरि का मत उद्धृत हुआ है तथा शल्य प्रधान रोगावस्था में धान्वन्तरीयों का ससम्मान अधिकार विहित है। इसके विपरीत सुश्रुत-संहिता में आत्रेय का कोई उल्लेख नहीं है अतः दिवोदास आत्रेय अग्निवेश के कुछ पूर्ववर्ती ही रहे होंगे। इस प्रकार से इनका समय ७०० ई० पू० से लेकर ७५० ई० पू० के बीच ठहरता है।

वृद्ध सुश्रुत—काशीपति धन्वन्तरि दिवोदास के उपदेशों को वृद्ध सुश्रुत ने उपनिबद्ध किया जो शल्य तन्त्र का उपजीव्य ग्रन्थ बनी। वृद्ध सुश्रुत का उल्लेख विजय रक्षित ने माधव निदान की टीका में तथा श्रीकण्ठ ने सिद्धयोग की टीका में किया है। इनके द्वारा विरचित ग्रन्थ 'सौश्रुत तन्त्र' के नाम से विख्यात था। यह दिवोदास के समकालीन थे।

सुश्रुत—वृद्ध सुश्रुत द्वारा रचित तन्त्र का सुश्रुत ने प्रतिसंस्कार किया। यह विश्वामित्र के पुत्र कहे गये हैं।[1] विश्वामित्र अनेक हुए हैं उनमें से किसी एक का सम्बन्ध आयुर्वेद से है।

काल—इनका काल निर्धारण आयुर्वेदीय इतिहास की समस्या है। कोई ऐसा मत नहीं है जोकि सर्वमान्य हो। प्रस्तुत स्थल में हम अनेक मतों को प्रस्तुत करते हुए सुश्रुत का काल निर्धारण करेंगे—

हर्वर्ल गोवन के अनुसार कुछ लोग सुश्रुत के अस्तित्व को ही नहीं स्वीकार करना चाहते तथा कुछ लोगों का मत है कि सुकरात का ही नाम सुश्रुत हो गया होगा एवं 'कास' का परिवर्तन काशी में हुआ होगा। कुछ विद्वान् यह कहते हैं कि चरक तथा सुश्रुत दोनों संहिताओं के प्रणेता एक ही व्यक्ति थे। हर्वर्ल का भी भीतरी मन्तव्य इसी प्रकार का है किन्तु परम्परा तथा सम्प्रदायभेद को देखते हुए यह स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सुश्रुत की पूर्व सीमा का निश्चय करना सुकर है। सुश्रुत-संहिता में वर्णित सांख्य दर्शन ईश्वर कृष्ण द्वारा प्रतिपादित सांख्य का अनुसरण करता है अतः यह निश्चित है कि वे ईश्वर कृष्ण के बाद ही हुए। ईश्वर कृष्ण का समय २०० ई० पू०

---

१. महाभारत अनु० अं० ४

निर्धारित किया जा चुका है। अतः सुश्रुत निश्चित रूप से २०० ई० पू० के बाद ही हुए होंगे। अतः हार्नले का यह मत किसी महत्व का नहीं कि सुश्रुत ६०० ई० पू० में हुए थे।[1]

सुश्रुत की अपर सीमा भी निर्धारित की जा सकती है। सुश्रुत-संहिता में वर्णित १०७ मर्म ज्यों-के-त्यों याज्ञवल्क्य-स्मृति में मिलते हैं। याज्ञवल्क्य-स्मृति का काल तीसरी शताब्दी निर्धारित हो चुका है अतः यह निश्चित है कि सुश्रुत तीसरी शताब्दी के पूर्व ही हुए होंगे। इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि सुश्रुत २०० ई० पू० तथा ३०० ई० पू० के मध्य कभी हुए होंगे।

सुश्रुत-संहिता में ग्रहों का उल्लेख मिलता है उनके नाम, उत्पत्ति की जानकारी दी गयी है। नवग्रह पूजा का उल्लेख मिलता है परन्तु षष्ठी पूजा का उल्लेख नहीं मिलता जो कि गुप्तकाल में प्रचलित है अतः सुश्रुत गुप्तकाल से पूर्व ही हुए होंगे।

सुश्रुत-संहिता में 'रामकृष्ण'[2] का नाम स्पष्ट रूप से आता है। राम तथा कृष्ण का नाम आने से वासुदेव धर्म की प्रमुखता सूचित होती है। इसके उत्थान का काल प्रथम शती से लेकर चौथी शती तक माना जाता है।

खोटान से प्राप्त वैद्यक ग्रन्थ 'नावनीतक' के भाव तथा शब्द सुश्रुत के वचनों तथा भावों से मिलते हैं। नावनीतक की रचना तृतीय शताब्दी बतायी जाती है। अतः सुश्रुत इससे पूर्व ही हुए होंगे।

श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री का यह कथन सत्य है कि समय का निर्णय उपलब्ध ग्रन्थ के पौर्वापर्य तथा आन्तरिक विवेचन से करना चाहिए। सुश्रुत-संहिता में भाषा सामान्य संस्कृत है, महाभाष्य शैली या उपनिषद शैली की अथवा अश्वघोष, कालिदास, संग्रह या हृदय की भाषा से सर्वथा भिन्न है। इसलिए इसका समय दूसरी शताब्दी ही समीचीन प्रतीत होता है।[3] चरक के समान सुश्रुत की कीर्तिपताका भारत से बाहर फहराती रही है। कम्बोडिया के राजा यशोवर्मन (८८९-९१० ई०) के शिला लेख में सुश्रुत का ससम्मान उल्लेख मिलता है। सनक नामक विषविद्या का ग्रन्थ सुश्रुत-संहिता के कल्पस्थान पर आधारित है। खलीफा इब्न आबिद (८०५ ई०) ने सुश्रुत-संहिता के अरबी अनुवाद के लिए आदेश किया था।

---

१. हार्नले—मेडिसिन आफ एन्सिएन्ट इंडिया

२. महेन्द्ररामकृष्णानां ब्राह्मणानां गवामपि।
तपसा तेजसा वापि प्रशाम्यध्वं शिवाय वै ॥—सु० चि० ३०।२७

३. आयुर्वेद का बृहत् इतिहास—अत्रिदेव

नागार्जुन

सुश्रुत-संहिता का टीकाकार डल्हण कहता है कि सुश्रुत-संहिता का प्रतिसंस्कार नागार्जुन ने किया था। इतिहास में हमें अनेक नागार्गुन प्राप्त होते हैं, प्रश्न यह है कि सुश्रुत-संहिता का प्रतिसंस्कर्त्ता कौन-सा नागार्जुन था। हम प्रस्तुत स्थल में नागार्जुन का समीकरण करने का उद्योग करेंगे।

उपाय हृदय के रचयिता दार्शनिक नागार्जुन थे। इनका काल कनिष्क का काल माना जाता है। स्पष्ट है कि यह सुश्रुतसंहिता के प्रतिसंस्कर्त्ता नहीं हो सकते।

अल्बरूनी (११ वीं शती) ने अपने यात्रा विवरण में लिखा है कि उससे १०० साल पूर्व कोई नागार्जुन हुए थे। परन्तु यह सुश्रुत-संहिता के प्रतिसंस्कर्त्ता नहीं हो सकते।

सरहपा के शिष्य सिद्ध नागार्जुन जो ८वीं शती के हैं, उनके विषय में कोई प्रमाण नहीं है कि वे सुश्रुत-संहिता के प्रतिसंकर्त्ता थे।

सातवाहन सम्राट गौतमी पुत्र शातकर्णी या यज्ञश्री (१७८-२०७ ई०) के मित्र और गुरु नागार्जुन जिनका उल्लेख हर्षचरित में आता है। इनका समय दूसरी तथा तीसरी शती का प्रारम्भ है (११३-२१३ ई०)। इनके शिष्य आर्यदेव हुए। इस नागार्जुन की प्रमुख रचनाएँ हैं—मध्यमकारिका, विग्रहव्यावर्त्तिनी, रत्नावली, सुहृल्लेख। यह नागार्जुन सुश्रुतसंहिता के प्रतिसंस्कर्त्ता नहीं प्रतीत होते। जैसा कि दासगुप्ता महोदय का कथन है—"यह अधिक सम्भव नहीं प्रतीत होता है कि शून्य-वाद के महान् आचार्य और मध्यमकारिका के रचयिता विख्यात नागार्जुन ही वह सम्पादक या परिष्कर्त्ता थे, क्योंकि चीनी और तिब्बती सूत्रों से उपलब्ध इन नागार्जुन के जीवन विवरणों में कहीं भी ऐसा संकेत नहीं मिलता कि उन्होंने सुश्रुत-संहिता का संशोधन किया था।"[1]

ऐसी स्थिति में यह प्रतीत होता है कि गुप्तकालीन नागार्जुन ने ही सुश्रुत-संहिता का प्रतिसंस्कार किया था, जिनका काल चौथी या पाँचवीं शताब्दी है।

चन्द्रट

सुश्रुत-संहिता की पाठशुद्धि चन्द्रट ने जेज्जट की टीका के आधार पर की है, ऐसा उल्लेख मिलता है। ऐसा लगता है कि चरक के कश्मीर-पाठ की तरह सुश्रुत का भी कोई कश्मीर पाठ था जिसका अनुसरण जेज्जट ने किया था। डा० प्रियव्रत

---

१. डा० दासगुप्ता—भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग २, पृष्ठ ४२६

शर्मा ने कुछ ऐसे स्थलों का निर्देश किया, जो कि चन्द्रट के द्वारा प्रतिसंस्कृत हैं।[1] इनका समय १०वीं शताब्दी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान उपलब्ध सुश्रुत-संहिता दीर्घकाल तक विकसनशील प्रक्रिया का परिणाम है। यह प्रक्रिया १०वीं शताब्दी तक चलती रही।

सुश्रुत-संहिता के टीकाकार

सुश्रुत-संहिता शल्य विज्ञान का महत्वपूर्ण शास्त्र था। इसलिए इस ग्रन्थ पर बहुत सी टीकाओं का निर्माण हुआ। परन्तु बहुत सी टीकाएँ काल प्रवाह में वह गयीं। वे स्वयं उपलब्ध नहीं हैं परन्तु उनका उल्लेख अवान्तर ग्रन्थों में होता है। प्रमुख टीकाकारों का प्रस्तुत स्थल में संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है।

१. माधवकर—माधव निदान के प्रणेता माधवकर ने 'सुश्रुत-श्लोक-वार्तिक' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था, जो कि आजकल उपलब्ध नहीं है। इनके निदान ग्रन्थ का अरबी भाषा में अनुवाद अष्टम शती मे हुआ था, जिससे इनकी सत्ता इस शती से पूर्व ही सूचित होती है।

२. जेज्जट—इनके द्वारा रचित टीका का नाम 'सुश्रुत टीका' था जो उपलब्ध नहीं है, परन्तु उसका उल्लेख प्राप्त होता है। इन्होंने चरक-संहिता के ऊपर भी टीका लिखी थी। इनका संभावित समय नवम शती है।

३. गयदास—इन्होंने 'सौश्रुतपंजिका' नामक व्याख्या लिखी थी जिसका केवल निदान स्थान अंशतः उपलब्ध है, शेष भाग नष्ट हो गया है। बंगाल के राजा महीपाल के ये चिकित्सक थे।

४. चक्रपाणि—इनके द्वारा रचित टीका का नाम 'भानुमती' था। इस टीका का उल्लेख प्राप्त होता है परन्तु वह उपलब्ध नहीं है। इनकी चरक टीका अपनी प्रामाणिकता तथा प्रमेय बहुलता के कारण विख्यात है। ये गुण इनकी सुश्रुत टीका में भी रहे होंगे, परन्तु टीका के उपलब्ध न होने से इस विषय में विशेष नहीं कहा जा सकता।

५. डल्हण—सुश्रुत-संहिता की प्रचलित टीकाओं में यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण टीकाकार हैं। इनके द्वारा विरचित टीका का नाम है—निबन्ध संग्रह। यह प्रकाशित है। यह टीका अपने गुणों के कारण सर्वोत्तम मानी जाती है।

---

१. डा० प्रियव्रत शर्मा—आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास, पृष्ठ ५०

डल्हण मथुरा के पास 'अंकाला' के निवासी थे। इनके पिता का नाम भरतपाल था, जो नृपालदेव के राजवैद्य थे। डल्हण इन्हीं नृपालदेव के पुत्र सहदेव के राजवैद्य थे। डल्हण ने १०६० ई० कालीन चक्रपाणि का उद्धरण दिया है तथा स्वयं उनका उद्धरण हेमाद्रि (१२६० ई०) ने दिया है। अतः डल्हण का काल ग्यारहवीं तथा तेरहवीं शती ई० के मध्य का है।

सुश्रुत-संहिता का विभाजन

इस संहिता का विभाजन ६ स्थानों में किया गया है, जिनके क्रमशः नाम हैं—(१) सूत्रस्थान, (२) निदानस्थान, (३) शारीरस्थान, (४) चिकित्सास्थान, (५) कल्पस्थान तथा (६) उत्तरतन्त्र। प्रथम पाँच स्थानों में १२० अध्याय हैं तथा उत्तर तन्त्र में ६६ अध्याय हैं। इस प्रकार कुल अध्यायों की संख्या १८६ है। प्रथम पाँच स्थानों में आयुर्वेद के शल्य, कौमारभृत्य, रसायन, बाजीकरण तथा अगद-तन्त्र—इन पाँच अंगों के विषयों का कमोवेश समावेश हो गया है। शेष तीन शालाक्य, काय-चिकित्सा तथा भूतविद्या का उत्तर तन्त्र में विवरण दिया गया है जिससे कि विषय की दृष्टि से भी यह संहिता सर्वाङ्गपूर्ण हो गयी है। हम प्रत्येक स्थान का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१) सूत्रस्थान—इसमें ४६ अध्याय हैं जो पूरे ग्रन्थ के चतुर्थांश के लगभग हैं। यह स्थान विषय की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें आयुर्वेद के मौलिक तथ्यों का विवेचन बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है।

(२) निदानस्थान—इसमें १६ अध्याय हैं। इसमें मुख्यतः शल्य सम्बन्धी रोगों के निदान का वर्णन है।

(३) शारीरस्थान—इसमें १० अध्याय हैं जिसमें शरीर के अवयवों का वर्णन है। यह अध्याय दार्शनिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें सृष्टि, गर्भ, जीव तथा पुरुष का वर्णन प्राप्त होता है। अन्तिम अध्याय में कौमारभृत्य का रोचक विवरण प्राप्त होता है।

(४) चिकित्सास्थान—इसमें ४ अध्याय हैं जिनमें कि शल्यतन्त्र सम्बन्धी रोगों तथा उनके प्रकारों का विशिष्ट वर्णन है। शल्य सम्बन्धी विधि के अनन्तर-स्वस्थवृत्त तथा सद्वृत्त का भी उपयोगी वर्णन है।

(५) कल्पस्थान—इसमें ८ अध्याय हैं जिनमें विष की चिकित्सा वर्णित है। स्थावर तथा जंगम विषों के लक्षण तथा प्रकार का विवेचन कर सर्वविष की चिकित्सा आचूषण, छेद तथा दाह के द्वारा बतायी गयी है।

(६) **उत्तरतन्त्र**—इसमें ६६ अध्याय हैं जिनमें नेत्र, कर्ण, नासा तथा शिर के रोगों का, बालग्रह की शान्ति का तथा काय रोगों की चिकित्सा का सुन्दर वर्णन इसको समाप्ति पर लाता है ।

भेलसंहिता—भेलसंहिता भेल के द्वारा विरचित है । यह भेल अग्निवेश के सहाध्यायी थे । चरकसंहिता में वर्णित प्रथम ऋषि-परिषद् में अग्निवेश के साथ ही भेल ने भी अपना तन्त्र प्रस्तुत किया था ।

यही कारण है कि विषयवस्तु तथा शैली की दृष्टि से भेलसंहिता तथा चरकसंहिता में अद्‌भुत साम्य मिलता है । कहीं-कहीं पर समान श्लोक मिलते हैं । चरक-संहिता की भाँति भेल-संहिता में भी 'इति ह स्माह भगवान् आत्रेयः' यह वाक्य मिलता है । अग्निवेश के समकालीन होने से इनका स्थित काल ६०० ई० पू० है ।

भेल-संहिता का उल्लेख काश्यपसंहिता[1] तथा अष्टांग-हृदय[2] में मिलता है ।

भेल-संहिता की तीन पाण्डुलिपियाँ प्राप्त होती हैं ।[3] यह संहिता सर्वप्रथम कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुयी है ।[4] यह चौखम्बा प्रकाशन, बनारस से भी प्रकाशित हो चुकी है । वर्तमान में प्राप्त भेल-संहिता अपने पूर्व शुद्ध रूप में नहीं है ।

भेल-संहिता का विभाजन चरक-संहिता के समान सूत्रस्थान, निदानस्थान, विमानस्थान, शारीरस्थान, चिकित्सास्थान, कल्पस्थान तथा सिद्धस्थान के रूप में है ।

नावनीतक—इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि १८६ ई० में पूर्वी तुर्किस्तान से कर्नल वेबर को प्राप्त हुयी । सर्वप्रथम यह भारत सरकार के पुरातत्व विभाग से प्रकाशित हुयी । इसके सम्पादक हार्नले थे । इसके पश्चात यह मेहरचन्द लक्ष्मण चन्द्र, लाहौर से प्रकाशित हुयी । इसके सम्पादक कविराज बलवन्त सिंह थे ।

यह ग्रन्थ योग संग्रहों में सर्वप्रथम है । पाण्डुलिपि का काल चौथी शती का उत्तरार्ध निश्चित किया गया है ।

---

१. का० सं० सि० अं० १

२. भेलाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद् सुभाषितम् ।—अ० हृ० ३।४०, ८८

३. भेल-संहिता (भूमिका), चौखम्बा प्रकाशन, बनारस

४. जर्नल आफ दि डिपार्टमेन्ट आफ लेटर्स वाल्यूम चौथा, १९२१

काश्यप-संहिता—वर्तमान काश्यप-संहिता[१] नेपाल के राजगुरु पं० हेमराजशर्मा के पास विद्यमान पाण्डुलिपि के आधार पर है। महामहोपाध्याय पं० हरप्रसादशास्त्री ने अपने पाण्डुलिपि अन्वेषण विवरण[२] में ३८ पृष्ठों की एक अपूर्ण काश्यप-संहिता का उल्लेख किया है, जो इससे भिन्न प्रतीत होती है।[३]

इस संहिता के उपदेष्टा महर्षि कश्यप हैं तथा उनके उपदेशों को ऋचीक पुत्र वृद्ध-जीवक ने ग्रन्थ रूप में निबद्ध किया। जिस प्रकार अग्निवेश के द्वारा निबद्ध ग्रन्थ अग्निवेशतन्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसी परम्परा का अनुसरण करके कुछ लोग इसको 'वृद्धजीवक तन्त्र' भी कहते हैं। यह बौद्धकालीन जीवक से भिन्न थे।

हमको कश्यप नाम के अनेक आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। उनमें से किसी एक के साथ इस संहिता के उपदेष्टा का समीकरण करना एक समस्या है, जिसका निराकरण करने का प्रयास प्रस्तुत स्थल में किया जा रहा है।

मारीचि काश्यप का मत चरक-संहिता (शा० ६।१८) में उद्धृत है। महाभारत में भी एक कश्यप का उल्लेख प्राप्त होता है। चरक-संहिता के सूत्रस्थान में कश्यप तथा मारीच काश्यप के नाम परिगणित हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में उपदेष्टा के लिए सर्वत्र 'कश्यप' शब्द का प्रयोग मिलता है। कुछ स्थलों में 'मारीच' शब्द का प्रयोग भी हुआ।[४] इससे स्पष्ट है कि केवल कश्यप से भिन्न एक मारीचि कश्यप भी थे जिनके लिए केवल 'मारीचि' शब्द का प्रयोग होता है। चरक-संहिता के उपर्युक्त श्लोक में 'मारीचि' इसी कश्यप के लिए आया है यही मारीचि कश्यप काश्यप-संहिता का उपदेष्टा है।

वात्स्य—यह संहिता कालान्तर में लुप्तप्राय हो गयी थी। तब पुनः जीवक वंशोत्पन्न वात्स्य नामक आचार्य ने इसका पुनरुद्धार एवं प्रतिसंस्कार किया। ऐसा आख्यान मिलता है कि अनायास नामक यक्ष से उसने यह संहिता प्राप्त की।[५] इस प्रकार से यह संहिता दो चरणों में निर्मित हुयी। वात्स्य सम्भवतः वत्स देश का निवासी था, जिसकी राजधानी कौशाम्बी थी। यह ज्ञातव्य है कि अनायास यक्ष का निवास स्थान कौशाम्बी था।[६]

---

१. चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १०५३
२. रिपोर्ट आन दि सर्च आफ संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट (१८९५ से १९००)
३. काश्यप-संहिता उपोद्घात (हिन्दी), पृ० १६
४. कल्पस्थान, भोजनाकल्पाध्याय तथा षट्कल्पाध्याय
५. का० सं० पृष्ठ १९१
६. कौशाम्ब्यां चाप्यनायासो भद्रिकायां च भद्रिकः (पञ्चरक्षा)।

काश्यप-संहिता का काल—कुछ विद्वान संहिताओं की प्राचीनता की पृष्ठ-भूमि में इसे भी पुनर्वसु आत्रेय आदि की रचनाओं के समकक्ष रखते हैं किन्तु वस्तुतः यह स्वीकार्य नहीं है। मूल कश्यप-संहिता को बुद्धकालीन माना जा सकता है क्योंकि बुद्ध के आविर्भाव काल में ब्राह्मण धर्म की प्रधानता थी। जैन धर्म का उदय हो चुका था तथा बुद्ध के उपदेशों का प्रचार हो रहा था। यही स्थिति मूल ग्रन्थांश में मिलती है।

काश्यप-संहिता के खिल भाग के देशसात्म्य अध्याय में मगध के साथ महाराष्ट्र का उल्लेख मिलता है। महाराष्ट्र शब्द की उत्पत्ति तीसरी-चौथी शती मानी जाती है। इस संहिता का समय भी इसके बाद ही होगा। ईत्सिग के यात्रा विवरण में जो स्थिति अंकित की गयी है, वही स्थिति काश्यप-संहिता में मिलती है।[1] आचार्य प्रियव्रत शर्मा का कथन है कि इसी समय वात्स्य ने इस संहिता का प्रतिसंस्कार किया।[2] अतः प्रतिसंस्कृत संहिता का काल छठीं शताब्दी मानना चाहिए।

काश्यप-संहिता का विभाजन—इस संहिता में आठ अध्याय हैं तथा एक सौ बीस अध्याय हैं। कल्प स्थान के अन्तिम अध्याय में संहिता की वस्तु योजना का निर्देश किया गया है। यद्यपि अन्य स्थानों में यह विषय सूत्रस्थान में निर्धारित है।

इस संहिता के सूत्रस्थान में तीन अध्याय, निदानस्थान में आठ अध्याय, विमानस्थान में आठ अध्याय, शरीरस्थान में आठ अध्याय, इन्द्रियस्थान में बारह अध्याय, चिकित्सास्थान में तीस अध्याय, सिद्धिस्थान में बारह अध्याय तथा कल्पस्थान में बारह अध्याय हैं जिनमें शारीरस्थान दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

काश्यप-संहिता कौमारभृत्य का एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ है।

अष्टांग-संग्रह तथा अष्टांग-हृदय

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों के रचयिता वाग्भट हैं। किन्तु अष्टांग-संग्रह तथा अष्टांग-हृदय नाम के दोनों ग्रन्थों के रचयिता वाग्भट एक ही हैं या भिन्न-भिन्न हैं, इस विषय में मतभेद हैं। दोनों वाग्भटों को भिन्न मानने वाले विद्वानों में डा० जूलियस जौली[3] तथा डा० हार्नले प्रमुख हैं। डा० जौली का कथन है कि दो प्रमुख रचनाएं वाग्भट से सम्बद्ध हैं। इनमें जो बड़ी तथा प्राचीन है उसे वृद्ध वाग्भट तथा

---

१. ईत्सिग—ए रिकार्ड आफ बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेस, पृ० १३४

२. प्रियव्रत शर्मा—आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास, पृ० १०६

3. Indian Medicine—Jullius Jolly, page 11-12

दूसरी को वाग्भट की रचना कहते हैं। वाग्भट ने वृद्ध वाग्भट को ही अपना आधार माना है। अष्टांग-संग्रह जो कि टीकाओं में बहुशः उद्धृत है तथा अष्टांगहृदय का आधार है, एक अत्यन्त प्राचीन रचना माना जाता है, विशेषतः उसका अधिकांश भाग केवल इस कारण नहीं कि वह अष्टांग-हृदय का पूर्ववर्ती है, किन्तु उसकी शैली तथा विषयवस्तु भी विशिष्ट है। अष्टांग-संग्रह गद्य-पद्य मिश्रित शैली में है। जो चरक सुश्रुत से समानता रखती है। अष्टांग-संग्रह में बौद्ध भावना प्रबल है किन्तु अष्टांग-हृदय में क्षीण है। अध्यायों के क्रम में भी अन्तर है। संग्रह में १५० तथा हृदय में १२० अध्याय हैं। संग्रह का चरक, विशेष रूप से सुश्रुत का सम्बन्ध, हृदय की अपेक्षा घनिष्ठतर है। इसके अतिरिक्त अष्टांग-संग्रह में पर्याप्त मौलिक सामग्री है जो चरक-सुश्रुत के परीक्षण, अध्ययन एवं परिबृंहण के लिए एक मूल्यवान साधन है। डा० हार्नले[1] ने हृदय के कर्त्ता से भिन्न संग्रहकार को माना है जिसे टीकाकारों ने 'वृद्ध वाग्भट' कहा है। यह संग्रहकार को वाग्भट प्रथम तथा हृदयकार को वाग्भट द्वितीय कहते हैं।

प्रोफेसर कीथ[2] ने लिखा है कि वाग्भट द्वितीय ने वाग्भट प्रथम की रचना का अनुसरण किया है तथा हृदय की छन्दोबद्ध रचना संग्रह की पद्य-गद्यमय शैली से परवर्ती है, ऐसा लक्षित होता है। वाग्भट द्वितीय सम्भवतः वाग्भट प्रथम का ही वंशज हो यद्यपि इसके पक्ष में कोई प्रमाण नहीं है सिवा इसके कि इससे समस्या के सुलझाने में मदद मिलती है।

डा० पी० के० गोडे[3] भी दोनों को पृथक मानते हैं। पं० हरिप्रपन्न जी[4] भी दोनों को पृथक मानते हैं। उनका कथन है कि अष्टांग-हृदय के रचयिता अन्य वाग्भट हैं यद्यपि संग्रह तथा हृदय के कर्त्ताओं में नाम साम्य है तथापि वे दोनों व्यक्ति भिन्न हैं क्योंकि कोई भी व्यक्ति एक ही विषय के दो विस्तृत ग्रन्थ लिखने में अपनी शक्ति नष्ट नहीं करता। इसके अतिरिक्त अष्टांग-हृदय, संग्रह का संक्षिप्त संस्करण भी नहीं

---

1. Ostealogy (Studies in Medicine of Ancient Indian Part I) Oxford, 1907. p. 7
2. Keith—History of Sanskrit Literature, Page 510
3. Code Introduction, Astang Hridaya, Nirnaysagar Press, Bombey, Page 2
4. Idem Commentry of Indu on Asthanga Sangrah A. B. O. R. I XXV, Page 219

है क्योंकि लगभग तुल्यकाय है। दोनों में पाठ भी अधिकांश समान हैं और इसका कारण सम्भवतः यह हो कि दोनों नाम-साम्य के कारण एक गोत्र के हों तथा द्वितीय वाग्भट ने अपने पूर्वज की प्रख्याति के कारण उसका अनुसरण किया हो।

विद्वानों का एक अन्य समूह जो दोनों वाग्भटों को एक ही मानते हैं वे अपने पक्ष में निम्नांकित युक्तियाँ देते हैं—

(१) दोनों ग्रन्थों की भाषा तथा शैली में पर्याप्त समानता है।

(२) दोनों ग्रन्थों के रचयिता सिंहगुप्त के आत्मज हैं।

(३) वर्णित विषयवस्तु में समानता है, कहीं भी मतभेद दृष्टिगोचर नहीं होता।

(४) अष्टांगहृदयकार के अन्त में लेखक ने यह स्वीकार किया है कि यह ग्रन्थ संग्रह का ही संक्षिप्त संस्करण है। उनका कथन है—महासागर के समान गम्भीर विषयों वाला अष्टांग-संग्रह अल्प समुद्यम व्यक्तियों तक पहुँच जाय इस उद्देश्य से हृदय की पृथक् रचना की गई है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं करना चाहिए कि यह संग्रह के बाद की संक्षिप्त रचना है या उसका लघु संस्करण है।[१]

(५) अष्टांगहृदय में अष्टांगसंग्रह के अनेक श्लोक अविकल रूप में उद्धृत मिलते हैं।

(६) अष्टांगहृदय के टीकाकार अरुणदत्त[२] तथा भट्ट नरहरि[३] तथा अष्टांग-संग्रहकार के टीकाकार इन्दु[४] ने दोनों को एक ही माना है।

(७) हृदय की प्राचीनतम टीका पदार्थचन्द्रिका के रचयिता चन्द्रनन्दन ने दोनों वाग्भटों को एक ही माना है।[५]

---

१. विपुलामलविज्ञानमहामुनिमतानुगम्। महासागरगम्भीरसंग्रहार्थोपलक्षणम्।
अष्टांगवैद्यकमहोदधिमन्थनेन योऽष्टांगसंग्रहमहाराशिराप्तः।
तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम्॥
—अ० हृं० ३।४०, ७९-८०

२. तथा ह्ययमेव तन्त्रकारः संग्रहे मधुनोभेदानाख्यात्।—हृ० सू० ५।५१ पर अरुणदत्त
अतएवायमेव तन्त्रकारोऽन्यथा संग्रहे जगाद।—हृ० शा० १।८ पर अरुणदत्त

३. एतदुक्तयनेनैव संग्रहे स्वयमेव।—वाग्भटखण्डनमण्डन टीका

४. तथा चाचार्येण युक्त्वा सम्पन्ने हृदये कथितम्।—सं० चि० ५।१६-१८ पर इन्दु तथा चाचार्य एव हृदये केवलं महत्याः प्रतिषेधं करोति॥
—सं० शा० ३।३४ पर इन्दु

५. तथा च संग्रहे प्रोक्तमाचार्येण—१०२

कविराज गणनाथ सेन प्रत्यक्ष शारीर के उपोद्घात में लिखते हैं—'यत्तु अष्टांगसंग्रहकारो वाग्भटः अष्टांगहृदयकाराद् वाग्भटाद् भिन्न इति कस्यचित् पाश्चात्य-विदुषो मतं, तत् सर्वथा निर्मूलयतिविस्मयकरं च नः। ग्रन्थद्वयस्य सर्वमेव भाषा-सादृष्यात्, ग्रन्थकत्रोः पितृनामसादृश्यात्, क्वचिदपि भेदभेदस्यादर्शनात्त वाग्भटेन हि महान्तं ग्रन्थं अष्टांगसंग्रहाख्यम् विरचय संक्षेपो हृदयमिव हृदयमेतत् निरमायीति स्वमेवाभिहितं तेन सुस्पष्टया गिरा ग्रन्थसमाप्तौ। (गणनाथ सेन प्रत्यक्ष शारीर)

श्री दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य ने अष्टांगसंग्रह, अष्टांगहृदय तथा रसरत्नसमुच्चय इन तीनों ग्रन्थों के रचयिता वाग्भट को एक ही माना है।[1]

अत्रिदेव गुप्त ने भी दोनों वाग्भटों को एक माना है।[2] चरक-संहिता के (जामनगर) सम्पादक मण्डल ने भी यही माना है।[3] श्री भगवत सिंह जी भी दोनों ग्रन्थों के कर्त्ता वाग्भट को एक ही मानते हैं।[4]

वाग्भट या वाहट

वाग्भट का वास्तविक नाम वाग्भट ही था या वाहट ? वाग्भट के तथाकथित शिष्य ने अपनी शशिलेखा व्याख्या में ग्रन्थकर्त्ता के लिए 'वाहट' शब्द का प्रयोग किया है।[5] कौशिक सूत्र की व्याख्या में भी वाहट शब्द आया है।[6] राजकीय प्राच्य-हस्तलिखित ग्रन्थागार, मद्रास में उपलब्ध अनेक हस्तलिखित कई ग्रन्थों में 'वाहट' नाम का प्रयोग किया गया है।[7] परन्तु स्वयं वाग्भट के इस कथन से 'भिषग्वरो-

---

1. Date and works of Vagbhata, the Physician—D. C. Bhattacharya, A. B. O. R. I. Vol. XXVIII, 112-127
२. आयुर्वेद का वृहत् इतिहास—अत्रिदेव, पृ० १२५
3. Charak Sahita (Jamnagar) Vol *I, Page 100
4. Bhagawht Singh Jee—History of Aryan Medical Scienee, Page 34-35
५. (क)....वाहटस्यास्मदुक्तयः।
   (ख) सो यं वाहटनामा शास्कारो—देवतानमस्कारं करोति।
   (ग) वाहटेन दर्शयता लघु शब्दप्रयोगः कृतः।
   (घ) तत् वाहट....अष्टांगसंग्रह की इन्दु कृत टीका।
६. तत्र द्विविधा व्याधयः आहारनिमित्ताः अन्यजन्यपापनिमित्ताश्च। तत्र आहार-निमित्तेषु चरकवाहटसुश्रुतेषु शमनं भवति।—कौ० सू० ४।१५
7. Descriptive catalogue of Sanskrit Manusscript in G. O. M. L. Madras, Vol. XXIII Medicine

वाग्भट इत्यभूत मे पितामहो नामधरोऽस्ति' यह सिद्ध हो जाता है कि उनका मौलिक नाम 'वाग्भट' ही था, वाहट नहीं। अतः प्रतीत यह होता है कि वाहट वस्तुतः प्राकृत रूपान्तरण है, जो परवर्ती काल में विशेष रूप से प्रचलित हुआ। इस मान्यता से अष्टांगसंग्रह के टीकाकार इन्दु के सम्बन्ध में यह सन्देह उठता है कि वह वाग्भट के शिष्य थे भी या नहीं क्योंकि शिष्य अपने गुरु के नाम का विकृत प्रयोग क्यों करेगा ? अतः यह अनुमान होता है कि इन दोनों के कालों में पर्याप्त अन्तर रहा होगा, जिस अवधि में वह वाहट नाम से प्रसिद्ध हो चुके होंगे। युगानुरूप होने से इस ग्रन्थ को समाज ने बड़ आदर तथा उत्साह से स्वीकार कर मान्यता दी। धीरे-धीरे इसकी ख्याति विदेशों में भी होने लगी। अष्टांगसंग्रह का तिब्बती भाषा में अनुवाद कराया गया तथा आगे चलकर अरबी भाषा में भी इसका अनुवाद हुआ। इन दोनों अनुवादों में ग्रन्थकार का नाम 'वाहट' मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि वाग्भट ही मौलिक नाम था, 'वाहट' उसका अपभ्रंश है।[1]

वाग्भट का काल—वाग्भट के काल के सम्बन्ध में इतने विभिन्न मतों की प्राप्ति होती है कि किसी एक निर्णय पर पहुँचना अत्यन्त कठिन कार्य है। प्रस्तुत स्थल में उन विभिन्न मतों की चर्चा की जायेगी—

(१) वराहमिहिर ने संग्रह से रसायन का एक योग ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया है तथा वाग्भट के और भी विषय उसमें मिलते हैं।[२] अतः वाग्भट उसका पूर्ववर्ती माना जाता है। डा० राजबली पाण्डेय वराहमिहिर को पहली शती ई० पूर्व मानते हैं।[३] अतः वाग्भट का काल इससे पहले होना चाहिए। डा० प्रियव्रत के अनुसार कामसूत्र (४०० ई०) तथा वराहमिहिर (छठीं शती) के बीच वाग्भट का काल ठहरता है।[४] यशोधर्मा ने ५३३ ई० में हूणों को परास्त कर विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की तथा उज्जयिनी में ५३३ ई० से ५८३ ई० तक राज्य किया। वराहमिहिर तथा वाग्भट सम्भवतः इसी विक्रमादित्य के काल में थे।[५] इस प्रकार ज्योतिर्विदाभरण

1. Keith—History of Sanskrit Literature, Page 560
२. वृहत्संहिता
३. राजबली पाण्डेय—विक्रमादित्य आफ उज्जयिनी
४. प्रियव्रतशर्मा—वाग्भट विवेचन, पृष्ठ ३५६
५. प्रियव्रतशर्मा— ,, ,, पृष्ठ ३५३

(६वीं शती) के अनुसार विक्रमादित्य के नवरत्न में वराहमिहिर आ जाते हैं तो क्या नवरत्न के धनवन्तरि वाग्भट ही थे ।[१]

२. हारुन (७७६-८०८ ई०) के काल में भारतीय विद्वानों से[२] सुश्रुत, चरक, अष्टांगहृदय आदि का अरबी अनुवाद कराया। ऐसा प्रतीत होता है कि अनुवाद के लिए उन्हीं को लिया गया जो तत्कालीन समाज में अत्यधिक प्रचलित थे। इससे लगता है कि आठवीं शती में अष्टांग-हृदय का काफी प्रचार हो चुका था तथा संग्रह के बदले लोग उसी को पसन्द करने लगे थे। इससे इतना तो पता चलता ही है कि मूलग्रन्थ का निर्माण आठवीं शती से पहले हो चुका होगा। इस समय को हम ७०० से ७२० ई० तक मान सकते हैं।

३. वाग्भट पर याज्ञवल्क्यस्मृति (३०० ई०) तथा विष्णुस्मृति (३०० ई०) की पूरी छाप है।[३] अतः वाग्भट इसके बाद के होंगे।

४. कामसूत्र के अनेक विषय उसमें मिलते हैं।[४]

५. वाग्भट के द्वारा गुग्गुल का मेदारोग में प्रयोग तथा उसके क्लैव्य आदि उपद्रवों का वर्णन भी गुप्तकालीन स्थिति का द्योतक है जोकि तत्कालीन साहित्य से प्रमाणित होता है।[५]

६. पं० हरिदत्त शास्त्री[६] का मत है शकों का राज्य चौथी या पाँचवीं शती में था। अतः भट्टार हरिश्चन्द्र के परवर्ती होने के कारण वाग्भट का काल छठी शती मानना चाहिए क्योंकि ईत्सिंग (७ वीं शती) के समय यह पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुके थे।

७. डा० हार्नले[७] वाग्भट को ७वीं शती के प्रारम्भ या ६२५ ई० के आस-पास तथा वाग्भट द्वितीय को आठवीं शती में चक्रपाणि (१०६० ई०) के पूर्व रखते हैं। उनके मत से माधव, दृढ़बल तथा वाग्भट द्वितीय वाग्भट प्रथम के परवर्ती हैं।[८]

---

१. वैद्यक शब्दसिन्धु, पृष्ठ ९
2. Sachau—Alberuni's India, Preface, XXX-XXXII
३. काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, प्राक्कथन, पृ० १४
4. Winternitz—A History of Indian Literature, Vol.II, Page 624
५. चतुर्भाणी, पृष्ठ २०८-२०९
६. चरकसंहिता उपोद्‌घात (मोतीलाल बनारसीदास)
७. स्टडीज इन मेडिसिन आफ एनसिएन्ट इण्डिया (आस्टियालोजी) भाग १ पृष्ठ ७
८. वही, पृष्ठ १२

८. डा० कीथ[1] वाग्भट प्रथम को ईत्सिंग के कुछ पूर्व अर्थात् सातवीं शती में मानते हैं तथा वाग्भट द्वितीय को उससे एक शतक बाद तक रखते हैं।

९. दासगुप्त,[2] कुटुम्बिया,[3] विन्टरनित्ज,[4] मुखोपाध्याय[5] तथा अग्रवाल[6] इसी के समर्थक हैं। इन विद्वानों ने प्रायः इत्सिंग के यात्रा-विवरण के आधार पर ही अपना मत स्थापित किया है। वासुदेवशरण अग्रवाल वाग्भट को लगभग बाणभट्ट का समकालीन मानते हैं।

१०. डा० जौली का कथन है कि वृन्द ने सिद्धयोगसंग्रह (१।२७) में वाग्भट का उद्धरण दिया है। माधव, वृन्द से पहले हुए हैं। किन्तु माधव का भी उल्लेख वाग्भट (द्वितीय) में होने से वाग्भट माधव से पूर्व हुए हैं। वृन्द के पूर्ववर्ती होने से माधव को ९वीं शती में रखा जा सकता है या यदि अरबी में अनूदित बदन, यदन (निदान) को माधव निदान समझा जाय तो आठवीं शती रखा जा सकता है। तिब्बती स्रोतों के आधार पर भी अष्टांगहृदय के काल की यही अन्तिम सीमा मानी गयी है। अरबी में इसके अनुवाद 'अष्टांकर' से भी यही निष्कर्ष निकलता है। इसके अतिरिक्त अफीम, नाड़ी परीक्षा तथा धातुओं के अन्य विधान भी इसमें नहीं मिलते। इस प्रकार अष्टांग-हृदय का काल आठवीं शती या इसके कुछ पूर्व माना जाय तो अष्टांगसंग्रह स्वभावतः इससे और प्राचीन सिद्ध होता है।[7]

११. जिमर का भी यही मत है। वह लिखता है—सुश्रुत से प्राचीन भारतीय चिकित्सा की वाङ्मय परम्परा की नवीन शैली का प्रारम्भ होता है जो परवर्ती ग्रन्थकार वाग्भट (आठवीं शती) तथा अन्य लेखकों के लिए आदर्श रही है।[8]

१२. चीनी यात्री ईत्सिंग नालन्दा में ६७५-६८६ ई० तक रहा था। उसने

---

1. Keith—A History of Sanskrit Literature, Page 510
2. Das Gupta—A History of Indian Philosophy, Vol. II P. 433
3. Kutumbaiah—Ancient Indian Medicine, Gen. Introduction, Page. 35
4. Winternitz—History of Indian Literature, Vol. II, P. 635
5. G. N. Mukhopadhyay—History of Indian Medicine, Vol. III Page. 630, 633
६. वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २२
7. Julious Jolly—Indian Medicine, Page. 10-12
8. Zimmer—Hindu Medicine, Page. 58

अपने विवरण में लिखा है कि आठ विधायें (चिकित्सा शाखायें) जो पहले आठ ग्रन्थों में थीं उन्हें हाल में एक व्यक्ति ने एक ग्रन्थ में निबद्ध किया।[1]

१३. डा० पी० कौडियर[2] राजतरंगिणी के आधार पर वाग्भट के राजा जयसिंह (११९६-१२१८ ई०) के काल में रखते हैं। कविराज उमेश चन्द्र का भी यही मत है।[3] परन्तु डा० राय इसका खण्डन प्रस्तुत कर चुके हैं। प्रथम तो राजतरंगिणी की तिथियाँ विश्वसनीय नहीं हैं, दूसरे इसके अतिरिक्त स्टीन के संस्करण में यह पाठ मिलता भी नहीं है।

१४. निष्कर्ष रूप में हम **डा० फिलिओजा** का मत प्रस्तुत कर रहे हैं। फिलिओजा[4] नागार्जुन कृत योगशतक तथा सुश्रुत प्रतिसंस्कार पर अष्टांगसंग्रह तथा अष्टांगहृदय आधारित होने के कारण वाग्भट का काल ७ से १०वीं शती के बीच मानता है। इसके अतिरिक्त, अरबी की किताब अल फिहरिस्त (९८८ ई०) में अष्टांग-हृदय असंकर या अष्टंकर नाम से उद्धृत है।

सामान्य परिचय

वाग्भट के पिता का नाम सिंहगुप्त था। इनके पिता ब्राह्मण तथा गुरु बौद्ध अवलोकित थे। इन्होंने अपने गुरु से प्रारम्भिक शिक्षा और अपने पिता से परवर्ती शिक्षा प्राप्त की। निश्चलकर ने एक स्थल पर वाग्भट को 'राजर्षि' का विशेषण दिया है। श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य[5] का अनुमान है कि वह सिन्धु की किसी छोटी रियासत के राजा थे।

अष्टांग-संग्रह में यत्र-तत्र बौद्ध धर्म से सम्बन्धित शब्दों का उल्लेख होने के कारण अनेक विद्वानों की मान्यता है कि वाग्भट बौद्ध थे, किन्तु कुछ विद्वान उन्हें वैदिकधर्मानुयायी मानते हैं, क्योंकि अनेक स्थलों पर उन्होंने वैदिक धर्म की मान्यताओं का अनुसरण किया है तथा वैदिक धर्म का उपदेश किया है। डा० प० ल० वैद्य ने उन्हें बौद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[6]

---

1. Takakusu—Itsing record of Buadhist Practices in India, P. 128
2. Cordier's Vaghbata—'Astang Hriday Sanhita', 1896
३. वैद्यक शब्द सिन्धु का प्राक्कथन—उमेशचन्द्र गुप्ता, १९१४, पृ० ५
4. Filliozate—The Classical doctrine of Indian Medicine, P. 14
5. D. C. Bhattacharya—Date And works of Vagbhata the Physician, A. B. O. R. I XXVIII, Page 122
६. वैद्यसम्मेलन पत्रिका (भाग ५, संख्या १)

टी० रुद्रपारशव ने अष्टांग-संग्रह के उपोद्‌घात में लिखा है—कुछ लोग कहते हैं कि वाग्भट ब्राह्मण थे क्योंकि धर्माधिकरण महापंडित हेमाद्रि ने उन्हें 'आचार्य' पद से स्मरण किया है। कुछ लोग कहते हैं कि सिन्धु प्रदेश पर जब यवनों का आक्रमण हुआ तब अनेक ब्राह्मण स्थल नष्ट हो गये। उसी काल में अन्य कोई गति न होने से वाग्भट ब्राह्मणत्व छोड़कर बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए।....अतः यह सर्वथा बौद्धमतावलम्बी थे। फिर भी ब्राह्मण धर्म से इन्हें किञ्चित भी द्वेष नहीं था क्योंकि वैदिक-धर्मविहित अनेक तथ्यों का निर्देश किया है।[1] डा० कीथ[2] तथा प्रफुल्लचन्द्र राय[3] भी वाग्भट को बौद्ध मानते हैं।

परन्तु विद्वानों का एक वर्ग (जिनमें गणेश शास्त्री, तर्टे, भट्टनरहरि आदि तथा गुरुपद हालदार[4]) वाग्भट को वैदिक मतावलम्बी मानते हैं साथ ही इन लोगों का यह भी कहना है कि वैदिक धर्मावलम्बी होते हुए भी वाग्भट बौद्धधर्म के प्रति उदार विचार रखते थे। कुछ लोग वाग्भट को जैन मानते हैं। इसका कारण यह है कि वाग्भट ने अपने ग्रन्थ में 'अर्हत्' तथा 'जिन' शब्दों का उल्लेख किया है तथा अहिंसा पर अधिक जोर दिया है। वाग्भट नामक अनेक व्यक्ति जैन-सम्प्रदाय में दीक्षित हो चुके हैं तथा जैन वाङ्मय में यह अभिधा लोकप्रिय है।[5] परन्तु इन तर्कों के आधार पर वाग्भट को जैन-धर्मानुयायी नहीं कहा जा सकता।

स्नान के बाद पिंडदान का विधान स्मृतियों में भी है[6] तथा वाग्भट ने सम्भवतः वहीं से लिया है। 'अनुयायात् प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम' यह बौद्ध आचार हो सकता है किन्तु यह ब्राह्मण ग्रन्थों में भी प्रतिपादित है। कालिदास ने अनेक स्थलों पर मध्यम क्रम का उल्लेख किया है।[7]

सम्भवतः वाग्भट ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होने के कारण मूलतः वैदिकधर्मानुयायी था किन्तु बौद्ध गुरु का शिष्य होने के कारण बौद्ध धर्म के प्रति उसने सम्मान प्रकट

---

१. अष्टांगसंग्रह उपोद्‌घात (टी० रुद्रपारशव), पृष्ठ ३-४
2. Keith—A History of Sanskrit Literature, Page 510
3. History of Chemistry in Ancient and Modern India, Page 70
४. वृद्धत्रयी—गुरुपद हालदार, पृष्ठ २६९
५. प्रबन्ध-चिन्तामणि, वैद्य वाग्भट प्रबन्ध, प्रबन्ध-कोश, हेमसूरि प्रबन्धकोश
६. मनुस्मृति ४।२०१ (९), या० स्मृति १।१५९
७. नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते।—रघु० १३।७
एषा मनो मे प्रसभं शरीरात् पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।—विक्रमो० १।२०

कर अपनी रचना में उसे उचित स्थान दिया है। इसे तत्कालीन राज्य तथा समाज की धार्मिक सहिष्णुता का भी परिचय मिलता है जिससे एक ब्राह्मण अपनी रचना में वैदिक धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म को भी सादर स्थान दे सका।

ग्रन्थ

श्री हरिदत्त शास्त्री पराड़कर ने वाग्भट की निम्नलिखित चार रचनाओं का उल्लेख किया है—अष्टांगसंग्रह, अष्टांगहृदय, अष्टांगनिघण्टु, अष्टांगावतार। दिनेश चन्द भट्टाचार्य ने वाग्भट की चार रचनाओं का उल्लेख किया है—अष्टांगसंग्रह, महा-संहिता, अष्टांगहृदय, रसरत्नसमुच्चय।

उपरोक्त रचनाओं में वाग्भट की रचनाएँ संग्रह तथा हृदय निश्चितरूप से है। शेष के विषय में विद्वानों में मतभेद है।

टीकाएं

अष्टांग-संग्रह—इन्दुकृत शशिलेखा नाम्नी टीका प्रसिद्ध है। हिन्दी में गोवर्धन शर्मा छांगणी, अत्रिदेवगुप्त तथा लालचन्द्र वैद्य कृत टीकाएँ प्रचलित हैं।

अष्टांग-हृदय—अष्टांग हृदय की अपूर्व लोकप्रियता के कारण इस पर जितनी टीकाएँ लिखी गईं उतनी शायद ही किसी ग्रन्थ पर लिखी गयी। हरिदत्त शास्त्री पराड़कर ने अष्टांग-हृदय की ३४ टीकाओं का उल्लेख किया है।[1] गुरुपद हालदार ने ९ टीकाओं का उल्लेख किया है।[2] अरुणदत्त की टीका सर्वाधिक प्रसिद्ध है।[3]

अष्टांगसंग्रह का विभाजन—अष्टांग संग्रह की विषयवस्तु छः स्थानों तथा १५० अध्यायों में व्यवस्थित है। वाग्भट ने विषयों को वैज्ञानिक रूप से व्यवस्थित करने की चेष्टा की है।

अष्टांग-हृदय का विभाजन—इस ग्रन्थ की योजना अष्टांगसंग्रह के ही समान है किन्तु अध्यायों की संख्या कम होने के कारण कलेवर संक्षिप्त है। इसके अध्यायों की कुल संख्या १२० है।

दोनों ग्रन्थों के कलेवर से यह मालूम हो जाता है कि संग्रह की अपेक्षा हृदय में सूत्रस्थान का विषय संक्षिप्त हो गया है। शारीर-स्थान भी आधा रहा। निदान

---

१. उपोद्घात, अष्टांग-हृदय

२. वृद्धत्रयी, २७६-२७७

३. अरुणदत्त का समय १२४० ई० है।

स्थान का कलेवर उतना ही है। चिकित्सा स्थान में कोई विशेष परिवर्तन नहीं है। उत्तरस्थान भी क्षीण हो गया है। इस प्रकार वाग्भट ने अष्टांगसंग्रह के रूप को युगानुरूप तथा लोकोपयोगी बना दिया जिससे वह अल्पकाल में ही वैद्यों के गले का हार हो गया तभी तो सर्वाधिक टीकाएँ अष्टांगहृदय पर ही लिखी गयीं।

कल्याणकारक—यह ग्रन्थ दसवीं शती में उग्रादित्याचार्य द्वारा लिखा गया था। आठों अङ्गों का आधार लेकर इस ग्रन्थ में चिकित्सा का विवरण है। इस ग्रन्थ में चरक तथा सुश्रुत का उपयोग किया गया है। इस ग्रन्थ के मूल भाग में बीस परिच्छेद तथा उत्तरतन्त्र में पाँच परिच्छेद हैं।

अनुबन्ध-चतुष्टय

तन्त्रावधारण में अनुबन्ध-चतुष्टय की महती आवश्यकता पड़ती है। अनु-पश्चात्-स्वज्ञानोत्तरं बध्नन्ति-आसञ्जयन्ति प्रवर्तयन्ति इति अनुबन्धाः-अनुबन्ध शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार अनुबन्ध उन्हें कहा जाता है जिनका ज्ञान होने से किसी शास्त्र या ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्ति होती है। वाचस्पत्यम्कार का कथन है कि शास्त्र के प्रारम्भ में अधिकारी, विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन का कथन होना चाहिए।[1]

संस्कृत के चिकित्सा शास्त्रों में भी अनुबन्ध-चतुष्ट्य का समावेश सम्यक् रूप से किया गया है। अनुबन्ध-चतुष्ट्य में से प्रत्येक का वर्णन क्रमशः करेंगे—

अधिकारी

जिस कार्य के लिए मनुष्य अपने आपको अधिकारी अर्ह समझता है उसी में उसकी प्रवृत्ति होती है। अन्य कार्यों के समान ही किसी शास्त्र या किसी ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्त होने के लिए भी मनुष्य को यह समझना आवश्यक है कि वह उस शास्त्र या ग्रन्थ के अध्ययन का अधिकारी है या नहीं। यह अधिकारिता मुख्यतया दो बातों पर निर्भर होती है एक है इष्टसाधनता तथा दूसरी है कृतिसाध्यता। जिस कार्य को मनुष्य अपने इष्ट का साधन तथा अपने प्रयत्न से साध्य समझता हैं, उसके सम्पादन में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार अपने को किसी कार्य के लिए अधिकारी समझने का अर्थ है उस कार्य को अपने इष्ट प्रयोजन का साधन समझना तथा अपने प्रयत्न साध्य समझना। शास्त्र या ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्त होने के लिए भी यह समझदारी अर्थात् इष्टसाधनता तथा कृतिसाध्यता का ज्ञान होना आवश्यक होता है। इसलिए अधिकारी अनुबन्ध-चतुष्टय में से अन्यतम अनुबन्ध है। इसीलिए शास्त्र या ग्रन्थ के आरम्भ में उसके ज्ञान का उपाय प्रस्तुत करना अपेक्षित होता है।

---

१. शास्त्रस्यादौ वक्तव्येष्वधिकारि विषय प्रयोजन सम्बन्धेषु।—वाचस्पत्यम्
तुलनीय—तत्र अनुबन्धो नाम अधिकारि विषयसम्बन्ध प्रयोजनानि।
—वेदान्त सा० ६

इतने विवेचन का तात्पर्य यह हुआ कि शास्त्रतात्पर्य ज्ञाता के अभाव में शास्त्र में प्रवृत्ति नहीं होगी। जिस प्रकार नेत्रहीन पुरुष के लिए आदित्य मण्डल व्यर्थ है उसी प्रकार अनधिकारी व्यक्तियों के लिए चिकित्सा विज्ञान भी व्यर्थ होगा। अतः सर्वप्रथम अधिकारी की अपेक्षा है। क्योंकि अपात्र के द्वारा अधीत शास्त्र जगत का कल्याण नहीं कर सकता। अष्टांग-संग्रहकार वाग्भट्ट का कथन है—

शस्त्र, शास्त्र तथा जल इन तीनों की गुणदोषप्रवृत्ति पात्र की अपेक्षा से होती है। जैसा पात्र मिलता है तदनुरूप शस्त्र, शास्त्र एवं जल की प्रवृत्ति गुण या दोष में होती है जिस प्रकार शौर्ययुक्त पात्र अर्थात् शूरवीर के हाथ में मिलने से शस्त्र गुणकारी अर्थात् विजयप्रद हो जाता है किन्तु अपात्र अर्थात् भीरु को प्राप्त होने पर दोषप्रद अर्थात् पराजयप्रद हो जाता है इसी प्रकार जल को स्वच्छ पात्र मिलने से वह अमृतमय होकर शान्तिदायक होता है परन्तु मैला-कुचैला पात्र मिलने से वह अशान्तिकारक होता है। यही स्थिति शास्त्र के लिए भी है। विद्वान, सज्जन उपयुक्त पात्र मिलने से शास्त्र जगत का कल्याणकारक होता है इसके विपरीत मूर्ख पात्र को दी गयी विद्या अनिष्टकारिणी होती है।[1]

इसीलिए प्राचीन भारत के शिक्षा संस्थानों में विद्यार्थियों को प्रवेश देते समय बहुत सतर्कता बरती जाती थी। चीनी यात्री ह्वेनसांग के विवरण से ज्ञात होता है कि नालन्दा आदि विश्व विद्यालयों में बहुत कड़ी परीक्षा का आयोजन होता था जिसमें उत्तीर्ण होना अत्यन्त कठिन था। प्रवेश समिति के सदस्यों को द्वार-पण्डित कहते थे जो कि अभ्यर्थी की योग्यता की परीक्षा लेते थे। इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए अभ्यर्थियों को ही विश्वविद्यालय में प्रवेश दिया जाता था। इस परीक्षा में केवल बीस प्रतिशत विद्यार्थी ही उत्तीर्ण हो पाते थे। यही कारण है कि नालन्दा विश्वविद्यालय में शिक्षा-प्राप्त विद्यार्थी विद्वान् होता था। ह्वेनसांग लिखता है कि नालन्दा का विद्यार्थी (अन्यों के लिए) आदर्शभूत होता था।[2]

---

१. शस्त्रं शास्त्राणि सलिलं गुणदोषप्रवृत्तये ।
पात्रापेक्षीण्यतः प्रज्ञां बाहुश्रुत्येन बृंहयेत ॥—अ० सं० सू० २।११
तुलनीय—शस्त्रं शास्त्राणि सलिलं गुणदोषप्रवृत्तये ।
पात्रापेक्षीण्यतः प्रज्ञां चिकित्सार्थं विशोधयेत् ॥—च० सं०

२. ट्रैवल्स ऑफ बुद्धिस्ट पिलग्रिम्स—ले० एस० बील

३

विश्वविद्यालय में प्रवेश प्राप्त विद्यार्थी को परीक्षण काल में रहना पड़ता था। यह परीक्षण काल छः मास से लेकर एक वर्ष तक हो सकता था। इस परीक्षण काल में आचार्य शिष्य के चरित्र, आचार एवं बुद्धि का सम्यक् निरीक्षण करता था। वाग्भट्ट का कथन है कि छः मास तक अपने पास में रखकर जिसके सच्चरित्रादि गुणों की पहचान गुरु ने कर ली हो, जो प्रिय बोलने वाला तथा बलवान हो, लज्जायुक्त तथा शौचयुक्त हो अर्थात् बाहर-भीतर से पवित्र हो, जो कुलान्वित हो, ऐसा शिष्य जब तक वह तन्त्र के अर्थ तथा कर्मज्ञान के अन्त तक न पहुँच जाय तब तक पढ़ाने योग्य है।[1] प्राचीन भारत की यह 'परीक्षण काल' की पद्धति वर्तमान युग के लिए अज्ञात नहीं है। पाश्चात्य देशों के कई विश्वविद्यालयों में परीक्षण काल का यह नियम आज भी प्रयोग में हैं।

चरकसंहिता का कथन है कि वही शिष्य आयुर्वेद के अध्ययन का अधिकारी है जो इन गुणों से सम्पन्न हो—"सौम्य आकृति, नीच स्वभाव से रहित, नीच कर्म न करने वाला, सरल मुख, आँख नासिका वाला, पतली लालवर्ण स्पष्ट-जिह्वा वाला, दांत तथा ओष्ठों के विकार से रहित, नाक से अनुनासिक न बोलने वाला, सन्तोषी, अहंकार-रहित, मेधावी, वितर्कस्मृतियुक्त, उदारचेता, वैद्यकुल में उत्पन्न अथवा वैद्य के तुल्य आचरण वाला, तत्व के ग्रहण में दत्तचित्त, अविकल अंगों वाला, सम्पूर्ण इन्द्रियों से युक्त, निभृत, अनुद्धत, अर्थ-तत्व को विचारने वाला, अक्रोधी, व्यसनरहित, शील, शौच, एवं अध्ययन में अनुराग वाला, दक्षता एवं प्रादक्षिण्य गुणों से युक्त, कर्म, दर्शन तथा अर्थ को जानने वाला, दत्तचित्त, लोभरहित, अप्रमादी, सब प्राणियों की मङ्गल कामना करने वाला आचार्य के सम्पूर्ण उपदेशों को यथावत् करने वाला और भक्तिमान हो।

आयुर्वेद के अध्ययन में प्रवृत्त हुए शिष्य में जिन गुणों की अपेक्षा संहिताकारों ने की हैं उनकी सूची प्रस्तुत की जा रही है। यह सूची चरक,[2] संहिता के साथ ही

---

१. षण्मासानषितः शुक्लो लज्जाशौचकुलान्वितः।
शिष्योऽध्याप्यो यावदन्ततन्त्रार्थकर्मणाम् ॥—अं० सं० सू० २।५

२. प्रशान्तमार्यप्रकृतिमक्षुद्रकर्माणमृजुचक्षुर्मुखनासावंशंतनुरक्तविशदजिह्वमविकृतदन्तौष्ठमम्मिन्मिनः धृतिमन्तमनहङ्कृतः मेधाविनं वितर्कस्मृतिसम्पन्नमुदारसत्वंतद्विद्यकुलजमथवा तद्विद्यवृत्तं तत्वाभिनिवेशिनमव्यङ्गमव्यापन्नेन्द्रियं निभृतमनुद्धतवषमव्यसनिनं शीलं शौचाचारानुरागदाक्ष्यप्रादक्षिण्योपपन्नमध्ययनाभिकाममर्थविज्ञाने कर्मदर्शने चानन्यकार्यमलुब्धमनलसं सर्वभूतहितैषिणमाचार्यं सर्वानुशिष्टिप्रतिपत्तिकरमनुरक्तमेवंगुणसमुदितमध्याप्यमेवमाहुः।—च० वि० ८

सुश्रुत,[१] वाग्भट[२] एवं काश्यप[३] ऋषि के ग्रन्थों के आधार पर निर्मित है। इन गुणों के अधिक स्पष्ट बोध के लिए हम प्रत्येक गुण के वर्णन के साथ ही उसका अंग्रेजी अनुवाद भी[४] प्रस्तुत कर रहे हैं।

प्रशान्त	—Possessed of Tranquil disposition
आर्यप्रकृति	— ,, ,, gentlemanliness
अक्षुद्रकर्मा	— ,, ,, Nobility
ऋजुचक्षुमुखनासः	—Straight of eye, mouth and Nose
तनुरक्तविशदजिह्वः	—With thin, ruddy and clear tongue
अविकृतदन्तौष्ठः	—With seemly teeth and lips
अमिन्मिनः	—With no defect of speech
धृतिमान्	—Endowed with retention
अनहङ्कृत	—Free from egotism
मेधावी	—Intelligent
वितर्कस्मृतिसम्पन्नः	—Endowed with reason and memory
उदारसत्वः	—Endowed with large mindedness
तद्विद्यकुलजः	—Possessing a lineage devoted to the science
तद्विद्यवृत्ततः	—Showing inclination for medical science
तत्वाभिनिवेशी	—Possessing a predilection for Philosophy

१. ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानामन्यतममन्वयवयः शीलशौर्यशौचाचारविनयशक्तिबलमेधाधृतिस्मृतिमतिप्रतिपत्तियुक्तं तनुजिह्वौष्ठदन्ताग्रऋजुवक्राक्षिनासं प्रसन्नचित्तंवाक्चेष्टं क्लेशसहञ्च भिषक् शिष्यमुपनयेत् —सु० सं० सू० २।३

२. गुरुभक्तोऽभियुक्तोऽतियुक्तो धीस्मृतिपाटवैः।
ऋज्वास्नासानयनतनुस्निग्धनखच्छविः ॥
ब्रह्मचारी जितद्वन्दो धीरः सुचरितः स्थिरः।
षण्मासानषितः शुक्लो लज्जाशौचकुलान्वितः शिष्योऽध्याप्यो गतो यावदन्तं तन्त्रार्थ कर्मणाम् ।—अ० सं० सू० २।३-५

३. क्षान्तिदाक्ष्यं दाक्षिण्यमानुकूल्यं शौचं कुले जन्म धर्मसत्याहिंसासामकल्याणज्ञानविज्ञानस्थितिविनिवेशः पाटवं यथोक्तकारित्वं ब्रह्मचर्यमनुत्सेकोलोभेर्ष्याविवर्जनमिति, अतोऽन्यथा दोषैः स वर्ज्यः ।—का० सा० विमा० १।४

४. च० सं० प्रथम खण्ड (जामनगर)

अव्यङ्ग	—Being whale of body
अव्यापन्नेन्द्रियः	—Unimpaired in senses
निभृतः	—Being collected of mind
अनुद्धतवेषः	—Not given to showy appearence
अव्यसनी	—Not given to addictions
अर्थतत्वभावकः	—Possessed of deep insight into things
अकोपनः	—Not irritable
शीलशौचाचारानुरागः दाक्ष्य प्रादक्षिण्योपन्नः	—Possessed of charecter, purity, conduct affection, skill and compliance
अध्ययनाभिकामः	—Having passion for study
अर्थविज्ञाने कर्मदर्शने चानन्यकार्यः	—Being undistracted of mind in understanding the sense and observing the practical demonstration of the science
अलुब्धः	—Free from greed
अनलसः	—Free from Procrastination
सर्वभूतहितैषी	—Wishing the welfare of all creatures
आचार्यसर्वानुशिष्टि-प्रतिपत्तिकरः	—Implicitly obedient to the teacher
अनुरक्तः	—Affectionate (च० सं० वि० ८।८)
अन्वय-वय-शौर्य-विनय-शक्ति-बल प्रतिपत्तियुक्त	—Possessed of proper lineage, age, spirit, humility, streanth vitality and knowledge
तनुजिह्वौष्ठदन्ताग्र	—Delicate of Taunge lips, teeth
ऋजुवक्राक्षिनासं	—Straight of eye, mouth & nose
प्रसन्नचित्तवाक्चेष्टः	—Tranquil of mind, speech and behaviour
क्लेशसहः	—Possessed of endurance (सु० सं० सू० २।३)
गुरुभक्तः	—Devoted to the teacher
अभियुक्तः	—Attached to the teacher
धीस्मृतिपाटवैः अतियुक्तः	—Possessed of Intelligencia, memory and cleverness in various subjects
तनुनखः	—Possessing thin nails
स्निग्धछविः	—Unctuous in complexion

तनुच्छविः —Having delicate lustre
ब्रह्मचारी —Devoted to celibacy
जितद्वन्द्वः —Possessed of Indifference to pain and pleasure
धीरः —Wise
सुचरितः —Good in conduct
स्थिरः —Having stability of mind
शुक्लः —Possessed of purity of mind
लज्जयान्वितः —Endowed with shyness
शौचकुलान्वितः —Possessed of clean habits and good lineage (अ० सं० सू० २।३-७)
क्षान्तः —Possessed of Patience
दक्षिणः —Compliant
अनुकूलः —Submissive
कुले जन्म —High birth
यथोक्तकारी —Prompt in the excution of the Teacher's behcsts
अनुत्सेकः —Free from arrogance
ईर्ष्याविवर्जितः —Free from envy
स्मृतिमान् —Possessed of memory
सत्यवान् —Truthul
दृढ़व्रतः —Possessed of determination
सदाज्ञापरिपालकः —Carrying out the behests of good
दम्भमात्सर्यनिर्मुक्तः —Free from bluster and envy (का० संहिता)

आयुर्वेद के अध्ययनार्थ जिन गुणों की अपेक्षा होती है, उनकी विस्तृत सूची संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों के आधार पर निर्मित की गई है। इस सूची पर सूक्ष्मेक्षिका पूर्वक दृष्टिपात करने पर हम पाते हैं कि शिष्य में शारीरिक एवं बौद्धिक क्षमता की तुलना में चारित्रिकोन्नति पर विशेष बल दिया जाता था। क्योंकि सूची में वर्णित गुणों की अधिकतम संख्या शिष्य के आध्यात्मिक एवं चारित्रिक पक्ष से सीधे सम्बन्धित हैं। इसका कारण यह है कि तत्कालीन समाज में व्यक्ति के इन गुणों को

श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था।[1] यही कारण है कि शिक्षा की सफलता तभी मानी जाती थी जब कि शिष्य की समुचित चारित्रिक उन्नति हुई हो।

प्राचीन भारत में शिक्षा का जीविका से आंशिक सम्बन्ध भी नहीं था। चाहे वह चिकित्सा शास्त्र की शिक्षा हो या किसी अन्य शास्त्र की। जबकि आधुनिक युग की विपरीत स्थिति है। क्योंकि अब अध्ययन को जीविका से जोड़ दिया गया है। यही कारण है कि वर्तमान समाज में बौद्धिक उन्नति होते हुए भी अव्यवस्था एवं चरित्रहीनता का रोग असाध्य स्थिति में पहुँच गया है। यह सब कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि उस समय शिष्य की बौद्धिक, शारीरिक एवं मानसिक स्तर की ओर ध्यान नहीं दिया जाता था। सदाचारी एवं चरित्रवान् शिष्य में ये गुण भी होना चाहिए। वस्तुतः आकर्षक आकृति वाले चिकित्सक में रोगी को श्रद्धा एवं विश्वास शीघ्र हो जाता है। प्रत्येक कर्म, चाहे चिकित्सा-कर्म हो या कोई अन्य कर्म, में बुद्धि की आवश्यकता तो सर्वविदितं है।[2]

चरकसंहितादि चिकित्साग्रन्थों में वर्णित उपरोक्त गुणों से हीन शिष्य चिकित्सा शास्त्र के अध्ययन का अधिकारी नहीं हो सकता। सुश्रुतसंहिताकार के वचन इसमें प्रमाण है उपर्युक्त गुणों से हीन व्यक्ति अथवा विपरीत गुणों वाले व्यक्ति का उपनयन संस्कार न करें।[3]

सुश्रुत तथा वाग्भट इस बात से सहमत प्रतीत होते हैं कि शास्त्रोपदेश से पूर्व आचार्य को शिष्य का उपनयन संस्कार करना चाहिए। क्योंकि सुश्रुतसंहिता एवं अष्टांग सँग्रह में सूत्रस्थान द्वितीय अध्याय का प्रारम्भ ही इस कथन के साथ ही होता है कि "अब हम शिष्योपनयन अध्याय की व्याख्या करेंगे।"[4] मनुस्मृतिकार का आदेश

---

१. अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगतोखिल वेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टय-सम्पन्न प्रमाता।—वे० सा० ६

२. जीवत्यर्थदरिद्रोऽपि धीदरिद्रो न जीवति।—कथासरित्सागर

३. अतो विपरीत गुणें नोपयेत्।—सु० सं० सू० अ० २

४. (क) अथातः शिष्योपनयनीयमध्यायम् व्याख्यास्यामः।

—सु० सं० सू० अ० २

(ख) अथातः शिष्योपनयनीयमध्यायम् व्याख्यास्यामः।

—अ० सं० सू० अ० २

कि उपनयनसंस्कार से हीन व्यक्ति को शिक्षा नहीं दी जा सकती।[1] सुश्रुतसंहिता के टीकाकार डल्हण का कथन है कि जिस प्रकार ब्राह्मणादि का उपनयन पहले हो जाने पर एवं ऋजुयजुस्साम के पढ़ लेने पर भी अथर्ववेद तथा धनुर्वेद का (अध्ययन) प्रारंभ करने के पूर्व पुर्नव्रतावतरण करना पड़ता है ठीक उसी प्रकार आयुर्वेद के अध्ययन करने से पूर्व यह पुनरुपनयन करना पड़ता है।[2] सुश्रुतसंहिताकार का कथन है कि ब्राह्मण तीनों वर्णों का उपनयन कर सकता है। क्षत्रिय दो वर्णों का अर्थात् क्षत्रिय एवं वैश्य का तथा वैश्य अपनी जाति अर्थात् वैश्य जाति का ही उपनयन कर सकता है।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनयन संस्कार सम्पन्न हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। प्राचीन भारत में शूद्रों को शिक्षा से वर्जित किया गया था। शूद्रकमलाकर में कई उदाहरण आये हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि शूद्र स्मृतियों एवं पुराणों को नहीं पढ़ सकते थे।[4] गौतम० में तो यह उल्लेख मिलता है कि शूद्र जान-बूझकर स्मरण करने के लिए वेदपाठ सुने तो उसके कर्णकुहरों को सीसा तथा लाख से भर देना चाहिए। यदि उसने वेद पर अधिकार कर लिया है तो उसके शरीर को छेद देना चाहिए।[5] शूद्रों की यह स्थिति वशिष्ठधर्मसूत्र,[6] गौतमधर्मसूत्र,[7] आपस्तम्बधर्मसूत्र,[8] याज्ञवल्क्य स्मृति[9] तथा

---

१. न ह्यस्मिन् युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धात्।—म० स्मृति २।१७१
उपनयात् प्राक् किञ्चिदुत्कर्षहेतुभूतं कर्म अध्ययनादि न युज्यते।
—म० स्मृति के टीकाकार गोविन्दराज

२. यद्यपि ब्राह्मणादयः प्रागुपनीतास्तथापि आयुर्वेदपठनारम्भे पुनरुपनयनम् यथा ऋग्यजुस्सामानि अधीत्य अथर्वारम्भे पुर्नव्रतावरणं धनुर्वेदारम्भे च, तदवदत्रापि।
—सु० स० सू० अ० २ में डल्हण की टीका

३. ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानामुपनयनं कर्त्तुमर्हति राजन्यो, द्वयस्य वैश्यो वैश्यस्यैवेति।
—सु० स० सू० अ० २

४. शूद्रकमलाकर, पृष्ठ १३-१४

५. अथ हास्य वेदमुपश्रण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपूरणमुदाहरेण जिह्वाछेदो, धारणे शरीरभेदः।—गौ० १२।४
तुलनीय—वेदार्थान् प्राकृतस्त्वं वदसि न च ह जिह्वा निपतिता।—मृ० ९।२१

६. व० १८।१३

७. गौ० १६।१८।१९

८. आ० १।३।९।९

९. या० स्मृ० १।१४८

महाभारत[1] काल तक मिलती है। परन्तु कालान्तर में इस स्थिति में सुधार हुआ। चरक-संहिता में भगवान् आत्रेय का कथन है, "यह आयुर्वेद ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णों को पढ़ाना चाहिए। ब्राह्मणों को प्राणियों के अनुग्रहार्थ, क्षत्रियों को रक्षार्थ एवं वैश्यों को जीविकोपार्जनार्थ अध्ययन करना चाहिए तथा सबको (सर्वे) धर्म, अर्थ, कामादि पुरुषार्थों के उद्देश्यों से पढ़ना चाहिए।"[2] प्रस्तुत स्थल में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीन जातियों का स्पष्ट उल्लेख करने के साथ ही 'सर्वे' पद का प्रयोग पृथक रूप में किया गया है। अतः यहाँ पर 'सर्वे' पद से शूद्र जाति का ग्रहण करना उचित है। अन्यथा 'सर्वे' पद के प्रयोगानौचित्य की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। आयुर्वेद का अध्ययन कौन कर सकता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए काश्यप संहिताकार कहते हैं 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र'।[3] इस प्रकार से हम देखते हैं कि काश्यपसंहिता के काल तक शूद्रों की सामाजिक स्थिति में अनुकूल परिवर्तन हुआ था तभी तो आयुर्वेद के अध्ययन का अधिकार शूद्रों को उस समय तक दे दिया गया है। छन्दोग्योपनिषद्[4] में एक कथा आयी है जिसमें जानश्रुति पौत्रायण एवं रैक्व का वर्णन है तथा रैक्व ने जानश्रुति को शूद्र कहा है एवं उसे संवर्ग-विद्या का अधिकारी बताया है। महाभारत में भी विदुर तथा धर्मव्याध ने मोक्ष प्राप्त किया है। इन कथाओं से यह लगता है कि शिष्य के सदाचारादि गुणों का विशेष महत्त्व था। सद्गुणों से युक्त होने पर जाति सम्बन्धी कड़ा प्रतिबन्ध शिथिल हो जाता था। यदि शूद्र भी शिष्य के लिए आवश्यक गुणों से युक्त है तो उसे शिक्षा दी जा सकती है। सुश्रुतसंहिताकार का कथन है—"यदि शूद्र आयुर्वेदज्ञकुलोत्पन्न है एवं वय, शील एवं शौचादि अपेक्षित अधिकारी के गुणों से युक्त है तो मन्त्रोच्चारण एवं उपनयन संस्कार के बिना वह आयुर्वेदाध्ययन में अधिकृत है।'[5]

संस्कृत के चिकित्साग्रन्थों में प्रयुक्त 'उपनयन' शब्द का वह अर्थ नहीं है जो गृह्य सूत्रों एवं स्मृतियों इत्यादि ग्रन्थों में मिलता है। प्राचीन काल में 'उपनयन' शब्द का

---

१. म० आ० ६४-२०

२. स चाध्येतव्यो ब्राह्मणराजन्यवैश्यैः। तत्रानुग्रहार्थं प्राणिनां ब्राह्मणैः, आरक्षार्थं राजन्यैः वृत्यर्थं वैश्यैः सामान्यतो वा धर्मार्थकामपरिग्रहार्थं सर्वैः।
—च० सं० सू० ३०।२६

३. केन चाध्येय इति ? ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रैआयुर्वेदोऽध्येय।—का० सं० वि०

४. छा० ४।१-२

५. शूद्रमपिकुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके।—सु० सं० सू० अ० २

अर्थ था पास या सन्निकट ले जाना। प्रारम्भ में इसका अर्थ यह रहा होगा कि नवशिष्य को विद्यार्थीपन की अवस्था तक पहुँचा देना। कुछ गृह्यसूत्रों से ऐसा आभास मिलता है यथा हिरण्यकेशि० (१।५।२) के अनुसार, तब गुरु बच्चे से यह कहलवाता है "मैं ब्रह्मचर्य को प्राप्त हो गया हूँ। मुझे इसके पास ले चलिए। सविता देवता द्वारा प्रेरित मुझे ब्रह्मचारी होने दीजिए।"[1] 'संस्कार प्रकाश' में 'उपनयन' शब्द की दो प्रकार से व्याख्या की गयी है (क) बच्चे को आचार्य के सन्निकट ले जाना[2] (ख) वह संस्कार या कृत्य जिसके द्वारा बालक आचार्य के पास ले जाया जाता है।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि पहला अर्थ प्रारंभिक है किंतु कालान्तर में जब यह कृत्य विस्तारपूर्वक किया जाने लगा तो दूसरा अर्थ भी प्रयुक्त होने लगा। काठक के टीकाकार आदित्यदर्शन ने कहा है, 'उपानय, उपनयन, मौञ्जीबन्धन, बटुकरण, व्रतबन्ध समानार्थक शब्द हैं।'[4] मनु के टीकाकार मेधातिथि ने उपनयन शब्द का पर्याय मौञ्जीबन्धन स्पष्ट रूप से बताया है।[5] परन्तु चिकित्सा ग्रन्थों में 'उपनयन' शब्द का मौञ्जीबन्धन अर्थ अभिप्रेत नहीं है। वस्तुतः चिकित्सा ग्रन्थों में 'उपनयन' शब्द से तात्पर्य उस कर्मविशेष से है जो कि शिष्य को शास्त्रोपदेश से पूर्व ही आचार्य सम्पादित करता था। जिसका वर्णन संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों में विस्तार से प्राप्त होता है। सुश्रुतसंहिताकार कहते हैं—'उपयन के योग्य ब्राह्मण शिष्य को उपनयन देने के लिए प्रशस्त तिथि, प्रशस्तकरण, प्रशस्त मुहूर्त, प्रशस्त नक्षत्र में, प्रशस्त दिशा में प्राची या उत्तर

---

१. अथैनमभिव्याहारयति। ब्रह्मचर्यमागमुप मा नयस्व ब्रह्मचारी भवानि देवेन सवित्रा प्रसूतः। हिरण्यकेशि (१।५।२); ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति ब्रह्मचर्यसानीति (पार० २।२), और भी देखिये गोभिल (२।१०।२१) 'ब्रह्मचर्यमागाम्' एवं 'ब्रह्मचर्यसानीति' शतपथ (११।५।४१) 'ब्रह्मचर्य····प्रसूतः'।

२. वेदाध्ययनायाचार्य समीपे नयनमुपनयनं तदेवोपनायनमित्युक्तं छन्दोनुरोधात्।
—या० स्मृ० १।१४ पर विश्वरूप

३. तत्र उपनयन शब्द कर्मनामधेयम्। तच्च यौगिकमुद्भिद्न्यायात्। योगश्च भावव्युत्पत्या वेत्याह भारुचिः। स यथा उपसमीपे आचार्यादीनां बटोर्नयनं प्रापणमुपनयम्। समीपे आचार्यादीनां नीयते वटुर्येन तदुपनयनमिति वा तत्र च भावव्युत्पत्तिरेव साधयसीति गम्यते। श्रौतार्थविधिसंभवात्।
—सं० प्रका०, पृष्ठ ३३४

४. धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ २०८

५. उपनयनमिति हि एष संस्कारों वेदविदां गृह्यस्मृतिषु प्रसिद्धो मौञ्जीबन्धनापर पर्यायः।—मनु० स्मृ० २।३६ पर मेधातिथि

दिशा में पवित्र तथा समान स्थान में चार हाथ बराबर लम्बा चौड़ा, चार कोण वाले स्थान को गोबर से लेपकर इस पर कुश बिछा दे फिर पुष्प, धान की लाजा तथा विविध रत्नों से देवता, ब्राह्मण तथा वैद्यों का पूजन करने के पश्चात् स्थण्डिल पर उर्ध्वमुखी लकीरें खींचकर जल से प्रोक्षित कर दक्षिण दिशा में ब्रह्मा की स्थापना कर तथा पास में अग्नि प्रज्वलित करे। खदिर, पलाश, देवदार तथा विल्व की अथवा वट, गूलर, पीपल और महुआ इन चारों व क्षीरी वृक्षों की दहीं, शहद और घृत से लिप्त समिधाओं से दार्वी होम विधि की प्रथा से लकड़ी की दर्वी से ऊँकारपूर्वक महाव्याहृतियों का उच्चारण करते हुए घृत की आहुति देवे। इसके अनन्तर प्रत्येक देवता तथा ऋषियों का नामोच्चारण करते हुए स्वाहाकार अर्थात् आहुति देवे और शिष्य से भी आहुतियाँ दिलावें। (आहुति देने) के पश्चात् हुताग्नि की तीन बार प्रदाक्षणा करके अग्निसाक्षिपूर्वक शिष्य से कहे कि तुम्हें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, अहङ्कार, ईर्ष्या, कठोरता, पिशुनता, असत्य, आलस्य तथा वदनाम करने वाले कार्य को छोड़कर नख और (शिर) के बाल कटाकर, पवित्र होकर कषाय वस्त्र पहन कर, सत्य भाषण, ब्रह्मचर्य और अभिवादन करने में अवश्य तत्पर रहना चाहिए। मेरे कहे हुए या मेरी अनुमति लेकर कहीं जाना, सोना, बैठना, भोजन करना तथा अध्ययन करने में तत्पर रहते हुए मेरे लिए प्रिय तथा हितकारक कार्य करते रहना चाहिए। यदि तुम इसके विपरीत बर्ताव करोगे तो अधर्म होगा तथा (तुम्हारी पढ़ी हुयी) विद्या निष्फल होकर कहीं भी प्रसिद्ध न होगी।[1]

चरक-संहिता में उपनयन संस्कार का विस्तृत वर्णन मिलता है। आचार्य की आराधना का इच्छुक, ऊपर बताये गुणों से युक्त छात्र गुरु के पास आवे तो गुरु कहे

---

१. प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्त्तनक्षत्रेषु प्रशस्तायां दिशि शुचौ समे देशे चतुर्हस्तं चतुर्हस्तं स्थण्डिलमुपलिप्य गोमयेन, दर्भैः संस्तीर्य्य, पुष्पैलजिभक्तै रत्नैश्च देवताः पूजयित्वा विप्रान् भिषजश्च, तत्रोल्लिख्याभ्युक्ष्य च दक्षिणतो ब्रह्माणं स्थापयित्वाऽग्निमुपसमाधाय, खदिरपलाशदेवदारुविल्वानां समिद्भिश्चतुर्णां वा क्षीरवृक्षाणां दधिमधुघृताक्ताभिदार्वीहौमिकेन विधिना स्त्रुवेणा ज्याहुतीर्जुहुयात् सप्रणवाभिर्महाव्याहृतिभिः। ततः प्रति दैवतमृषींश्च स्वाहाकारं कुर्यात्, शिष्यमपि कारयेत्। ततोऽग्निं त्रिःपरिणीयाग्निसाक्षिकं शिष्यं ब्रूयात्—कामक्रोधलोभमोहमानाहङ्कारेर्यापारुष्य पैशुन्यानृतालस्यायशस्यानि हित्वा, नीचनखरोम्णा शुचिना कषायवाससा सत्यव्रतब्रह्मचर्य्याभिवादनतत्परेणा वश्यं भवितव्यं। मदनुमतस्थानगमन शयनासनभोजनाध्ययनपरेण भूत्वा, मत्प्रियहितेषु वर्तितव्यम्। अतोऽन्यथा ते वर्त्तमानस्याधर्मो भवति, अफला च विद्या, न च प्राकाश्यं प्राप्नोति।—सु० सू० २।४, ६

कि उत्तरायण के शुक्ल पक्ष में अच्छे दिन को पुष्य, हस्त, श्रवण, अश्विनी इनमें से किसी एक नक्षत्रों के साथ कल्याणकारक भगवान चन्द्रमा से योग होने पर कल्याण कारक, करण और मैत्र मुहूर्त में मुण्डन कराकर एक दिन पहले उपवास अर्थात् व्रत करने के बाद स्नान कर काषाय वस्त्र पहनकर, हाथ में सुगन्धित द्रव्य, समिधा, अग्नि, घी, लेपद्रव्य, जलकुम्भ, माला, दाम (हार), दीप, सुवर्ण, हेम (सोने के आभूषण), चाँदी, मणि, मोती, मूंगा, क्षौम-परिधि (अलसीतन्तु से निर्मित वस्त्र), कुश, धान का लावा, सरसों, अक्षत तथा सफेद फूल जो कुछ छुट्टे फूल हों, कुछ की मालाएँ बनी हों, मेध्य (बुद्धिवर्धक) भक्ष्य और गन्ध एवं घिसा हुआ चन्दन इन सामग्रियों को लेकर तुम आओ।[1] इस प्रकार सर्वगुणसम्पन्न शिष्य सभी सामग्रियों को लेकर आ गया है ऐसा समझकर समतल, पवित्र भूमि, जो पूर्व को तरफ या उत्तर तरफ ढालू हो वहाँ पर चार हाथ लम्बी तथा चौड़ी एक वेदी बनाकर गोबर एवं जल से लीपने के बाद कुशा बिछा, चारों दिशाओं में परिधियों से अच्छी प्रकार वेष्टित करके कहे गये चन्दन, जलपूर्णघट, रेशमी वस्त्र, सुवर्ण के आभूषण तथा टुकड़े, चाँदी मणि, मोती तथा मूंगा से अलंकृत कर तथा पवित्र भक्ष्य, गन्ध, सफेद फूल, धान के लावा, सरसों तथा अक्षत से सजाकर पलाश, हिंगोट, गूलर या महुआ की लकड़ी से अग्न्याधान कर, पूर्वमुख होकर पवित्र अध्ययन विधि के अनुसार ब्रह्मा, अग्नि, धनवन्तरि, प्रजापति, अश्विनी कुमार, इन्द्र, ऋषि और सूत्रकारों को अभिमन्त्रित करके आशीर्वाद-युक्त मन्त्रों से स्वाहा ऐसा कहते हुए मधु और घृत से तीन-तीन बार अग्नि में होम करें।[2]

---

१. एवं विधमध्ययनर्थिनमुपस्थितमारिराधयिषुमाचार्योऽनुभाषेत—उदगयने शुक्लपक्षे प्रशस्तेऽहनि तिष्यहस्तश्रवणाश्वयुजामन्यतमेन नक्षत्रेण योगमुपगते भगवति शशिनि कल्याणे च करणे मैत्रे मुहूर्ते मुण्डः कृतोपवासः स्नातः काषायवस्त्रसंवीतः सगन्धहस्तः समिधोऽग्निमाज्यमुपलेपनमुदकुम्भान् माल्यदाम दीपहिरण्यहेमरजतमणिमुक्ताविद्रुम क्षौमपरिधीन् कुशलाजर्षपाक्षतांश्च शुक्लानि सुमनांसि ग्रथिताग्रथितानि मेध्यान् भक्ष्यान् गन्धांश्च घृष्टानादायोपतिष्ठस्वेति।—च० सं० सू० वि० ८।९

२. तमुपस्थितमाज्ञाय समे शुचौ देशे प्राक्प्रवणे वा उदक्प्रवणे वा चतुष्किष्कुमात्रं चतुरस्रं स्थण्डिलं गोमयोदकेनोपलिप्तं कुशास्तीर्णं सुपरिहितं परिधिभिश्चतुर्दिशं यथोक्तचन्दनोदककुम्भक्षौमहेमहिरण्यरजतमणिमुक्ताविद्रुमालङ्कृतं मेध्यभक्ष्यगन्धशुक्लपुष्पलाजसर्षपाक्षतोपशोभितं कृत्वा, तत्र पालाशीभिरैङ्गुदीभिरौदुम्बरीभिर्माधुकीभिर्वा समिद्भिरग्निमुपसमाधाय प्राङ्मुखः शुचिरध्ययनविधिमनुविधाय मधुसर्पिर्भ्यां त्रिस्त्रिर्जुहुयादग्निमाशीः संप्रयुक्तैर्मन्त्रैर्ब्रह्माणमग्निं धन्वन्तरिं प्रजापतिमश्विनाविन्द्रमृषींश्च सूत्रकारानभिमन्त्रयमाणः पूर्वं स्वाहेति।—च०सं०सू०वि०८।१०

इसके बाद शिष्य होम करे, हवन करके अग्नि की परिक्रमा करे। परिक्रमा करके ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन करावे।

इसके बाद उस शिष्य को अग्नि, ब्राह्मण तथा वैद्य के समीप में यह शिक्षा (आदेश) दे कि तुम्हें ब्रह्मचारी (मैथुन के अष्टांगों स्मरणं, कीर्तनं, केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणमित्यादि से रहित होकर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला) श्मश्रुधारी, सत्य बोलने वाला, मांस का असेवी, बुद्धिवर्धक अन्नपानकर्त्ता, परोन्नतिईर्ष्यारहित एवं शस्त्रधारी न हो। मेरे वचन से तुम्हारे लिए कोई भी कार्य अकार्य न होगा अर्थात् 'मैं जो कहूँ' उसे अवश्य मानना परन्तु मेरे कहने से भी राजा से द्वेष, जिससे तुम पर आघात पहुँचे, ऐसा वचन जिसके पालन से बहुत बड़ा अधर्म हो तथा अनर्थ के कारणभूत वचनों (आज्ञाओं) को कार्यान्वित न करना, मदर्पण मुझे ही सब देते हुए, यहाँ मुझे ही प्रधान समझते हुए, मेरे ही अधीन रहते हुए तथा जिस प्रकार मेरा प्रिय और हित हो तथा वही कार्य सर्वदा करते हुए जिस तरह पिता की सेवा पुत्र करता है, स्वामी की सेवा नौकर करता है, अर्थी व्यक्ति धन के लिए धनी की सेवा करता है उसी प्रकार मेरी सेवा प्रतिदिन करते हुए रहना किसी भी मेरे कार्यों में उत्सुकता न रखना (अध्ययन ही में उत्सुक रहना), सावधान, एकाग्रमन, विनय सम्पन्न, प्रत्येक कार्यों को विचारपूर्वक करने वाला, अनसूयक (दूसरे गुणों में झूठा दोषारोपण न करने वाला तुम्हें होना चाहिए) और बिना मेरी आज्ञा से कहीं भी भ्रमण करने नहीं जाना चाहिए। मेरी आज्ञानुसार घूमते हुए तुम्हें सर्वप्रथम गुरु की अभीष्ट वस्तु लाने में यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए, कर्म (चिकित्सा) में सिद्धियाँ, अर्थ सिद्धि, यश की प्राप्ति तथा मरने के बाद स्वर्गप्राप्ति की इच्छा रखते हुए, तुम्हें सबसे पहले गौ, ब्राह्मण और बाद में सभी प्राणिमात्र की शुभकामना प्रतिदिन उठते-बैठते करनी चाहिए, सभी प्रकार से यह चेष्टा करनी चाहिए कि रोगी रोग से अवश्य छुटकारा पा जायें। अपनी जीविका के लिए रोगी से द्रोह नहीं करना चाहिए, मन से भी दूसरे की स्त्रियों की इच्छा नहीं करनी चाहिए, वेष-भूषा ऐसी होनी चाहिए कि सभी जनता उससे प्रभावित एवं उस पर विश्वास रख सके अर्थात् वेश से अभिमान एवं उद्दण्डता न टपकती हो। मद्यपान, पाप एवं पापियों का साथ का त्याग करना चाहिए अर्थात् मदिरापान, स्वयं पाप में न लिप्त न होना और पाप (ब्रह्म हत्या, वेश्यादिगमनादि) करने वाले का साथ भी नहीं करना चाहिए, चिकने, दोषरहित, धर्मयुक्त, कल्याणकारक, सत्य, हितकारी और थोड़े वाक्यों को कहने वाला होना चाहिए, देशकाल का विचार करते हुए, स्मरणशक्ति को ठीक रखते हुए, रोगों का ज्ञान, उत्थान (कारण, निदान), उपकरण (चिकित्सा) ये तीनों कार्य कैसे उत्तम रीति से किया जाय, इसमें सदा प्रयत्न करना चाहिए, कभी भी उनकी

चिकित्सा नहीं करनी चाहिए जिससे राजा द्वेष करता हो या जो राजा से द्वेष करता हो, या जो राजा के समान बड़े प्रभावशाली, धनी-मानी व्यक्ति हों, जिनके प्रभाव में काफी जन-समूह हों, ऐसे महाजन जिससे द्वेष करते हों या जो महाजन से द्वेष रखता हो। और उन सभी प्राणियों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए, जिनका अत्यन्त बिगड़ा हुआ, अनुचित, दुःखमय स्वभाव, आचरण एव चिकित्सा है अर्थात् चिकित्सा में बनाये हुए रोगियों के नियमों का पालन नहीं करते हैं या द्रव्याभाव के कारण अपना जीवन दुःखमय व्यतीत कर रहे हैं, और अनपवाद प्रतीकार हैं अर्थात् चिकित्सा में आये हुए विघ्नों को दूर करने में समर्थ न हो जैसे विश्रामपूर्वक औषध-सेवन आवश्यक हो तो भी विश्राम न कर सके जो मरणासन्न हों, इसी प्रकार जिन स्त्रियों का पति पास न हो, या कोई उसका अध्यक्ष न हो अर्थात् स्वतन्त्र हो तो उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। पति या रक्षक की बिना आज्ञा से यदि स्त्री मांस या कोई भी भोग्य सामग्री दे तो कभी भी नहीं लेना चाहिए। रोगी के घर में प्रवेश करते समय तुम्हें रोगी का वृत्त का ज्ञात है, गृहपति से गृह में लिवा ले जाने की अनुमति मिल चुकी है ऐसे व्यक्ति के साथ, अच्छे स्वच्छ वस्त्र से अंगों को आच्छादित कर, शिर को नीचे कर, स्मरण शक्ति को ठीक रखते हुए, स्थिर मन से सभी बातों का बार-बार विचार कर और अपनी प्रतिष्ठा ठीक रह ऐसा बुद्धि से विचार कर उसी प्रकार आचरण करते हुए आतुर के गृह में प्रवेश करना चाहिए। रोगी के घर में प्रवेश कर वचन, मन, बुद्धि और अपनी इन्द्रियों को रोगी या रोगी के लाभ के विषय को छोड़कर अन्य विषय में नहीं लगाना चाहिए या रोगी के अन्य विषयों में भी अपनी इन्द्रियों को नहीं लगाना चाहिए जैसे रोगी की पारिवारिक स्थिति, गृह आदि वस्तुओं की समालोचना नहीं करनी चाहिए। रोगी की घर की बातें या परिस्थितियों को बाहर दूसरे से नहीं कहना चाहिए। रोगी की आयु समाप्त हो गयी है, यह जानते हुए भी जहाँ कहने से रोगी की शीघ्र या रोगी के अन्य हितैषियों की मृत्यु होने की सम्भावना हो वहाँ नहीं कहना चाहिए। ज्ञानी होते हुए भी अपने ज्ञान की अधिक प्रशंसा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अधिक अपनी प्रशंसा करने वाले आप्तजन (विश्वासपात्र) से भी बहुत लोग घबड़ा जाते हैं।[1]

१. अथनमाग्नसकाशे ब्राह्मणसकाशे भिषक्सकाशे चानुशिष्यात्-ब्रह्मचारिणा श्मश्रुधारिणा, सत्यवादिनाऽमांसादेन, मेध्यसेविना निर्मत्सरेणाशस्त्रधारिणा च भवितव्यं, न च ते मद्वचनात् किञ्चिदकार्यं स्यादन्यत्र राजद्विष्टात् प्राणहरादविपुलादधर्म्यादनर्थसंयुक्तादवाऽप्यर्थात्; मदर्पणेन मत्प्रधानेन मदधीनेन मत्प्रियाहितानुवर्तिना च शश्वद् भवितव्यं, पुत्रवद्दासवदर्थिवच्चोपचरताऽनुवस्तव्योहम्, अनुत्सेकेनावहितेनानन्यमनसा, विनीतेनावेक्ष्यावेक्ष्यकारिणाऽनसूयकेन चाभ्यनुज्ञातेन प्रविचरित-

इसके बाद गुरु शिक्षार्थी से यह कहे कि देवता, अग्नि, द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) गुरु, वृद्ध (वय एवं विद्या में), सिद्ध तथा आचार्य के साथ उचित प्रकार से व्यवहार करना। इन देवता आदि में उचित व्यवहार का पालन करने से ये अग्नि, सम्पूर्णगन्ध, रस, रत्न और बीज एवं ऊपर बताते हुए देवता आदि तुम्हारा कल्याण करेंगे। इससे विपरीत आचरण करने से ये (देवतादि) हानिकारक होंगे जब आचार्य इस तरह कहे तो शिष्य भी 'ऐसा ही होगा' ऐसा कहे। इसके बाद गुरु के उपदेश के अनुसार आचरण करने वाला छात्र पढ़ाने योग्य होता है। यदि उपदेशों को सुनकर भी तदनुसार आचरण न करे तो वह (शिष्य) शास्त्रोपदेश में अयोग्य है।

बिषय

विषय का अर्थ है किसी शास्त्र या ग्रन्थ की प्रतिपाद्य वस्तु। जब तक प्रारंभ में ही अध्येता को सामान्य रूप से यह ज्ञात न होगा कि अमुक शास्त्र या गन्थ का प्रतिपाद्य विषय क्या है ? तब तक उस शास्त्र या ग्रन्थ के अध्ययन में उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जो विषय अध्येता को विशेष रूप से अवगत नहीं होता उसी को जानने के उद्देश्य से वह किसी शास्त्र या ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहता है तथा तद्विषयक—एतन्नामधारी शास्त्र किसी ऐसे ही विषय का प्रतिपादक है जो उसे ज्ञात नहीं है, यह तथ्य उसे तभी ज्ञात हो सकता है जब प्रारम्भ में ही प्रतिपाद्य का

व्यम्, अनुज्ञातेन (चाननुज्ञातेन च) प्रविचरता पूर्वं गुर्वर्थोपहरणे यथाशक्ति प्रयतितव्यं कर्मसिद्धिमर्थसिद्धिं यशोलाभं प्रेत्य स्वर्गमिच्छता भिषजा त्वया गोब्राह्मणादौ कृत्वा सर्वप्राणभृतां शर्माशासितव्यमहरहरुत्तिष्ठता चोपविशता च, सर्वात्मना चातुराणामारोग्याय प्रयतितव्यं, जीवितहेतोरपि चातुरेभ्यो नाभिद्रोग्धव्यं, मनसाऽपि च परस्त्रियो नाभिगमनीयास्तथा सर्वमेव परस्वं, निभृतवेशपरिच्छदेन भवितव्यम्, अशौण्डेनापापेनापापसहायेन च श्लक्ष्णशुक्लधर्म्यशर्म्यधन्यसत्यमित हितवचसा देशकालविचारिणा स्मृतिमता ज्ञानोत्थानोपकरणसंवत्सु नित्यं वाऽप्यौषधमनुविधातव्यं, तथा सर्वेषामत्यर्थविकृतदुष्टदुःखशीलाचारोपचाराणमनपवास्त्रीदत्तमामिषमादातव्यमननुज्ञातं भर्त्राऽथवाध्यक्षेण, आतुरकुलं चानुप्रविशता विदितेनामनसा सर्वमाचरता सम्यगनुप्रवेष्टव्यम्, अनुप्रविश्य च वाङ्मनोबुद्धीन्द्रियाणि न क्वचित् प्रणिधातव्यान्यन्यत्रातुरादातुरोपकारार्थादातुरगतेष्वन्येषु वा भावेषु न चातुरकुलप्रवृत्तयोबहिर्निश्चारयितव्याः, ह्रसितं चायुषः प्रमाणमातुरस्य जानताऽपि त्वया न वर्णयितव्यं तत्र यत्रोच्यमानमातुरस्यान्यस्य वाऽप्युपघाताय संपद्यते, ज्ञानवताऽपि च नात्यर्थमात्मनो ज्ञाने विकत्थितव्यम्, आप्तादपि हि विकत्थमानादत्यर्थमुद्विजन्त्येके।—च० सं० वि० ८।१३

का निर्देश कर दिया जाय । इसी दृष्टि से विषय को अनुबन्ध शास्त्र या ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवर्तक माना जाता है ।[1]

संस्कृत के चिकित्सा शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय है आयु । सुश्रुतसंहिताकार का कथन है कि इस शास्त्र के द्वारा आयु का ज्ञान होता है अथवा इससे आयु प्राप्त होती है इसलिए यह आयुर्वेद है ।[2] चरकसंहिताकार का कहना है 'आयु की वृद्धि करने वाला वेद आयुर्वेद कहलाता है ।'[3] चरकसंहिताकार का कहना है 'यह आयुर्वेद (आयु) के लक्षण के द्वारा, सुख तथा दुःख के द्वारा, हित तथा अहित के द्वारा तथा प्रमाण एवं अप्रमाण के द्वारा आयु का ज्ञान कराता है ।[4] अष्टांगहृदय के टीकाकार अरुणदत्त का कहना है—जो आयु का ज्ञान कराता है, जनवाता है तथा प्रकृति रसायन, दूत, अरिष्ट के उपदेशों को करता है वह आयुर्वेद है ।[5] काश्यप-संहिताकार कहते हैं आयुर्वेद 'आयु' शब्द से 'विद्ज्ञाने' अथवा विद्लृ लाभे धातु से बना है । इसका अर्थ है जिस ज्ञान के द्वारा आयु का ज्ञान प्राप्त हो अथवा आयु की प्राप्ति हो—उसका नाश न हो उसे आयुर्वेद कहते हैं ।[6] आयुर्वेद के इन सभी लक्षणों का समाहार चरकसंहिताकार ने एक स्थल में ही किया है, "जिस शास्त्र में हितायु तथा अहितायु, सुखमय तथा दुःखमय आयु के लिए हितकर तथा अहितकर, आयु का प्रमाण (एवं अप्रमाण) तथा आयु का स्वरूप कहा गया है उसे आयुर्वेद कहते हैं अर्थात् आयु को सर्वथा सम्पूर्ण ज्ञान को करवाने वाला आयुर्वेद है ।[7]

---

१. अतः परमिदं ब्रूयात्—देवताग्निद्विजगुरुवृद्धसिद्धाचार्येषु ते नित्यं सम्यग्वर्तितव्यं, तेषु ते सम्यग्वर्तमानस्यायमग्निः सर्वगन्धरसरत्नबीजानि यथेरिताश्च देवताः शिवाय स्युः, अतोऽन्यथा वर्तमानस्याशिवायेति । एवं ब्रुवति चाचार्ये शिष्यः 'तथा' इति ब्रूयात् । यथोपदेशं च कुर्वन्नध्याप्यः, अतोऽन्यथा त्वनध्याप्यः ।
—च० वि० ८।१४

२. आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वा आयुर्विन्दति इत्यायुर्वेदः ।—सु० सं० स० १।१५

३. 'वेदं वर्धनमायुषः' ।—च० सं० सू० १।२७

४. कथमिति चेत् ? उच्यते स्वलक्षणतः सुखासुखतो हिताहितत प्रमाणाप्रमाणातश्च ।
—च० सू० ३०।२३

५. आयुः वेदयति ज्ञापयति प्रकृतिरसायनदूतारिष्टाद्युपपदेशादित्यायुर्वेदः ।
—अ० हृ० सू० अ० १।२ पर अरुणदत्त की टीका

६. 'विद्' ज्ञाने धातुः, 'विद्लृ' लाभे च, आयुरनेन ज्ञानेन विद्यते ज्ञायते, विन्दन्ते लभ्यते न रिष्यतीत्यायुर्वेदः ।—का० सं० वि० १।१०

७. हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम् ।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ।।—च० सू० सू १।४१

इतने विवेचन का सार यही है कि आयुर्वेद आयु का ज्ञान कराता है। व्यापक अर्थ में वेद से हमारा तात्पर्य किसी भी वस्तु के सच्चे तथा वास्तविक ज्ञान से है। अतः आयुर्वेद से हमारा तात्पर्य उस शास्त्र अथवा ज्ञान की उस शाखा से है जो हमें आयु का सच्चा तथा वास्तविक ज्ञान प्रदान करें। हिन्दी विश्वकोष के अनुसार जिस शास्त्र में आयु के स्वरूप, आयु के विविध भेद, आयु के लिए हितकारक एवं अहितकारक आहार, आचार, चेष्टा आदि विषयों का आयु के प्रमाण तथा अप्रमाण तथा उनके ज्ञान के साधनों का एवं आयु के उपादानभूत शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा इनमें से सभी अथवा किसी एक के विकास के साथ हित, सुख और दीर्घायु की प्राप्ति के साधनों तथा इनके बाधक विषयों के निराकरण के उपायों का विवेचन हो उसे ही आयुर्वेद कहते हैं।[1]

सम्बन्ध

श्लोकवार्तिककार कहता है—श्रोता ज्ञातव्य विषय तथा उसके सम्बन्ध को सुनने के लिए प्रवृत्त होता है अतः शास्त्र के प्रारम्भ में ही प्रयोजन सहित सम्बन्ध बतला देना चाहिए।[2] सम्बन्ध का इस संदर्भ में अर्थ है शास्त्र या ग्रन्थ के साथ विषय का प्रतिपादकत्व अथवा विषय के साथ शास्त्र या ग्रन्थ का प्रतिपाद्यत्व सम्बन्ध। अध्ययन में प्रवृत्ति के लिए अध्येता को इसका ज्ञान भी आवश्यक है क्योंकि आरम्भ में विषय का यदि उल्लेख कर दिया जाय, किन्तु उसका प्रतिपादन न किया जाय, अपितु प्रसंगवश अन्य विषय के ही प्रतिपादन में शास्त्र या ग्रन्थ की समाप्ति कर दी जाय तो उस दशा में आरम्भ में विषय का ज्ञान हो जाने पर भी उस विषय के जिज्ञासु अध्येता की उस शास्त्र या ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः उसे इस बात का ज्ञान होना भी आवश्यक है कि एतन्नामधारी शास्त्र एतद्विषयप्रतिपादक है अथवा एतद्विषय एतन्नामधारी ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है। इस प्रकार शास्त्र या ग्रन्थ में विषय के प्रतिपादकत्व का अथवा विषय में शास्त्र या ग्रन्थ के प्रतिपाद्यत्व का ज्ञान शास्त्राध्ययन या ग्रन्थाध्ययन में अध्येता की प्रवृत्ति के लिए आवश्यक होने से विषय का शास्त्र या ग्रन्थ के साथ प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध भी एक अन्यतम अनुबन्ध है।[3]

१. हिन्दी विश्वकोष, खण्ड १, पृ० ३८७

२. सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥—श्लो० वा० १।१।१७

३. ज्ञातप्रयोजनं ज्ञातसम्बन्धं च शास्त्रं श्रोतुः श्रोतारः प्रवर्तन्ते, तस्मात्-सम्बन्धोऽपि शास्त्रावतारभूतः शास्त्रादावेव वक्तव्यः-अनेनसम्बन्धवेदं शास्त्रमायातमिति।
—पार्थसारथि मिश्र

संस्कृत के चिकित्सा शास्त्रों में सम्बन्ध नामक अनुबन्ध की चर्चा स्पष्ट रूप से नहीं मिलती। परन्तु अष्टांगहृदय के सूत्र स्थान के प्रारम्भिक श्लोक[1] की व्याख्या में 'शशिलेखा' नामक टीका में यह कथन प्राप्त होता है—"इससे सम्बन्ध इत्यादि का कथन भी हो गया। यहां पर उपेयउपायभावलक्षण सम्बन्ध है आयुर्वेद का उपदेश है उपाय एवं आयु उसका उपेय है"।[2] इसी प्रकार सामान्य रूप से सभी चिकित्सा शास्त्रों का उनके विषय (आयुर्वेद) के साथ प्रतिपाद्य प्रतिपादक सम्बन्ध है।

प्रयोजन

'प्रयुङ्क्ते प्रयोजयति वा प्राधान्येन यत् तत्प्रयोजनम् अथवा प्रयुज्यते प्रवर्त्यते येन त प्रयोजनम्' प्रयोजन शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रयोजन शब्द का अर्थ है प्रधान प्रवर्तक। कोई मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी प्रयोजन से रहित होकर किसी कार्य में क्रियाशील नहीं होता।[3] इसलिए प्रयोजन की चरमता तो स्वयंसिद्ध है क्योंकि जगत का सम्पूर्ण कार्य व्यापार प्रयोजन को ही दृष्टि में रखकर किया गया है। न्यायसूत्रकार कहते हैं कि प्रमाता जिस अर्थ (वस्तु) को अनुकूल या प्रतिकूल निश्चय कर प्रवृत्त हो उसे प्रयोजन कहते हैं।[4] वस्तुतः प्रमाता जिस अर्थ को उपादेय या हेय निश्चित करके उसकी प्राप्ति या त्याग का प्रयत्न करता है उसे ही प्रयोजन समझना चाहिए क्योंकि वही प्रमाता की प्रवृत्ति का हेतु होता है। इसके अनुसार मनुष्य की समस्त प्रवृत्ति का मूल प्रयोजन है सुख की प्राप्ति तथा दुःख का परिहार। मनुष्य या तो सुख के लिए प्रयत्नशील होता है या दुःख के परिहार के लिए प्रयत्नशील होता है। उसके ये मूलभूत प्रयोजन जिन साधनों से सम्पन्न होते हैं वे भी प्रयोजन कहलाते है यदि कोई ऐसी शंका करे तो यह उचित नहीं क्योंकि वे मूलभूत मुख्य प्रयोजन न होकर अवान्तर प्रयोजन, उपायात्मक प्रयोजन होते हैं। डा० जी० एन० झा का कथन है कि सूत्र में

---

१. आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेय परमादरः ॥—अ० सं० सू० अ० १।४

२. "अनेन सम्बन्धादीन्यप्युक्तानि भवन्ति।
अत्रोपायोपेयभावलक्षणः सम्बन्धः।
अस्य तन्त्रस्यायुर्वेदोपदेशत्वादुपायत्वम्' सत्साध्यत्वादायुष उपेयत्वम्"।
—अं० सं० सू० अ० १।४ पर इन्दु

३. प्रयोजनमनुद्दिश्य मूर्खोऽपि न प्रवर्तते।

४. यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्।—न्यायसूत्र
तुलनीय—येन प्रयुक्तः पुरुषः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्।—तर्क-भाषा

'अर्थ' शब्द गौण तथा मुख्य प्रयोजन का अवबोधक है। मुख्य प्रयोजन है सुख की प्राप्ति तथा दुःख का परिहार। गौण प्रयोजन है उसका साधन।[1]

शास्त्र के अध्ययन में अध्येता की प्रवृत्ति के लिए उसे इस प्रयोजन का भी ज्ञान अनिवार्य रूप से अपेक्षित होता है। क्योंकि अध्येता को किसी शास्त्र या ग्रन्थ के विषय का ज्ञान तथा विषय और शास्त्र या ग्रन्थों के बीच प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-भाव सम्बन्ध का ज्ञान होने पर भी जब तक उसे उस शास्त्र या ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय के ज्ञान की उपयोगिता का, उसके प्रयोजन का ज्ञान नहीं होता तब तक उस शास्त्र या ग्रन्थ के अध्ययन में उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी। इस प्रकार प्रवृत्ति के लिए विषय ज्ञान के प्रयोजन का ज्ञान आवश्यक होने से विषय-ज्ञान का प्रयोजन भी एक अन्यतम अनुबन्ध कहा जाता है जो सभी अनुबन्धों में प्रधानतम होता है।

वर्तमान काल में प्राचीन चिकित्सा विज्ञान के प्रयोजन के विषय में लोगों की दृष्टि बड़ी भ्रामक है। लोक में मनुष्य एलोपैथी चिकित्सा पद्धति का अंधाधुंध उपयोग करते हुए स्वास्थ्य लाभ प्राप्त कर नीरोगता प्राप्त करते हैं। नीरोगता प्राप्त कर लौकिक सुखों का उपभोग करते हैं। अतः सामान्य जन यह समझता है कि जिस प्रकार एलोपैथी चिकित्सा का प्रयोजन शारीरिक विकार को दूर कर सुख प्रदान करता है उसी प्रकार प्राचीन भारतीय चिकित्सा विज्ञान का भी एकमात्र प्रयोजन शारीरिक नीरोगता प्रदान कर लौकिक सुख की प्राप्ति कराना है यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति सामान्य जन की ही नहीं है अपितु चिकित्सा कर्म में लगे हुए अधपढ़े चिकित्सकों की भी है।

वस्तुतः उपर्युक्त भ्रमपूर्ण दृष्टि पर्याप्त अध्ययन एवं सूक्ष्म दृष्टि के अभाव के कारण ही उत्पन्न हुयी है। यदि संस्कृत के चिकित्साशास्त्रों का भलीभांति सूक्ष्मेक्षिका-पूर्वक अध्ययन किया जाय तो हमें पता चलेगा कि यह विज्ञान अत्यन्त वैज्ञानिक है एवं अभेद्य दार्शनिक आधार पर स्थित है। इसी दार्शनिक ज्ञान एवं दृष्टि के अभाव में अधिकतर चिकित्सक, चिकित्सा-कर्म में सफल नहीं हो रहे हैं। इसी दार्शनिक दृष्टि से शून्य अज्ञानी चिकित्सकों का सहारा लेने वाला आतुर-समूह आरोग्य लाभ के न होने पर आयुर्वेद में अविश्वास कर उठता है। तथा भारतीय चिकित्सा विज्ञान जैसे परम वैज्ञानिक और परम दार्शनिक चिकित्सा विज्ञान की उपेक्षा करता है। अतः आयुर्वेद पद्धति से चिकित्सा करने वाले चिकित्सकों को इस पद्धति के दार्शनिक तत्वों

१. अत्र सूत्रेऽर्थशब्दो गौणमुख्यप्रयोजनावबोधार्थः। तत्र मुख्यम्सुखस्यप्राप्ति-दुःखस्य-परिहारश्च। गौणं तु—तत्साधनम्।

—न्यायसूत्र (डा० झा, पूना, ओरियन्टल बुक एजेन्सी, १९३९)

एवं तात्त्विक दृष्टि से सुपरिचित होना चाहिए। वस्तुतः इसी दार्शनिक दृष्टि एवं स्वरूप के कारण ही हजारों वर्ष पूर्व का यह विज्ञान आज भी अपने मूल स्वरूप के साथ ही उपलब्ध होता है। क्योंकि दार्शनिक तत्त्वों से परिपूर्ण होने के कारण कुछ छिट-पुट अमहत्त्वपूर्ण परिवर्तन व संशोधन भले ही हो जायँ परन्तु उनके मूल सिद्धांतों पर किञ्चित परिवर्तन की सम्भावना नहीं रहती।

चरक-संहिताकार का कथन है कि जिस अर्थ की कामना से (मनुष्य) प्रवर्तित होता है, वह प्रयोजन है।[1] उदाहरणार्थ 'यदि अकाल मृत्यु होती है तो मैं अपने लिए आयु को बढ़ाने वाले या आयु के लिए जो अहितकर, असात्म्य आहार-विहार है उसका त्याग कर दूँगा, कैसे मुझे अकाल मृत्यु मार सकेगी।' प्रकृत वाक्य में अकाल मृत्यु से बचना प्रयोजन है।

दीर्घ जीवन की इच्छा से अग्निवेश आदि शिष्यों के शिष्टाचारपूर्वक प्रश्न करने पर भगवान आत्रेय पुनर्वसु ने आयुर्वेद का उपदेश देने के लिए सर्वप्रथम दीर्घञ्जीवितीय नामक अध्याय का प्रारम्भ किया।[2] क्योंकि प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकैषणा इन तीन एषणाओं में सर्वप्रथम प्राणैषणा आती है। प्रत्येक मनुष्य की यह इच्छा रहती है कि मैं किसी समय न होऊँ ऐसा न हो। प्राणैषणा इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि प्राण का त्याग होने पर (समस्त सुखात्मक सुखदात्री वस्तुओं का) मनुष्य के लिए अभाव हो जाता है।[3] उस प्राण की रक्षा के लिए मनुष्य को स्वस्थ वृत्त के पालन तथा रोगी मनुष्य को रोग के चिकित्सा करने में सावधानी रखकर आरोग्य लाभ करना चाहिए क्योंकि यह आरोग्य ही समस्त सुखों का मूल है। शरीर के नीरोग होने पर ही अन्य दुःखों से छुटकारा पाने के लिए उपाय किये जा सकते हैं—तथा वे फलीभूत हो सकते हैं। शरीर ही यदि रोगी है उसके कारण अन्तरात्मा

---

१. प्रयोजनं नाम यदर्थं कामयमानः प्रवर्तते।—च०स०वि० ८।४४

२. अथातो दीर्घञ्जीवितीयमध्यायम् व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः।
—च० सं० सू० १।१-२

३. आसां तु खल्वेषणानां प्राणैषणां तावत्पूर्वतरमापद्येत्। कस्मात्? प्राणपरित्यागे हि सर्वत्यागः।—च० सं० सू० ११।४

तुलनीय—

तत्रप्राणैषणां पूर्वं समापद्येत मानवः। धर्मार्थकामप्राप्तिर्हि सद्भिः प्राणैः प्रपद्यते।
धर्मादीनामवाप्तिश्च पुरुषार्थः परः स्मृतः। तस्माच्छरीरं परिरक्षेद्धि शास्त्रतः॥
—भेल० सू० अ० १५

भी स्वस्थ न हो तो कठोर तपस्या, तीर्थभ्रमण, परोपकार आदि धार्मिक विषय, शिल्प, वाणिज्य, वार्त्ता, देशान्तर-भ्रमण आदि आर्थिक प्रयत्न, अभीष्ट आहार-विहार, विषय भोगादि रति प्रयोग तथा मानसिक विचार क्रोध, लोभ आदि आन्तरिक शत्रुओं का दमन, इन्द्रिय निग्रह, ईश्वर भजन आदि मोक्ष के उपाय भी सम्यक् प्रकार से होना सम्भव नहीं है। जैसा कि चरक-संहिताकार का कथन है—'आरोग्यावस्था का नाम ही सुख है।'[1]

सम्पूर्ण जगत का कार्य-व्यापार सुख की प्राप्ति के लिए होता है। चरक-संहिताकार कहते हैं कि सभी प्राणियों की प्रवृत्ति (कार्य) सुख (प्राप्ति) के लिए होती है। पर जो मनुष्य ज्ञानपूर्वक कार्य करता है वह सुखकर मार्ग में रहता है तथा जो अज्ञानपूर्वक कार्य करता है वह अकार्य दुःख का भागी होता है।[2]

वाग्भट्ट का भी कथन है कि सब प्राणियों की सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ सुख के लिए होती हैं।[3] ग्रन्थान्तरों से यह सिद्ध है कि सुख बिना धर्म के नहीं मिलता। अतः मनुष्य को धर्मपरायण होना चाहिए। जो कर्म धर्मसम्मत होता है उसके पालन से स्वास्थ्य ठीक रहता है तथा मानसिक शान्ति होती है। लोक में भी उक्ति मिलती है, धर्मेण हन्यते व्याधिः धर्मेण प्राप्यते सुखम् अर्थात् धर्म से रोगों का नाश होता है तथा सुख की प्राप्ति होती है।

चिकित्सा विज्ञान का प्रयोजन है धातुओं में साम्य करना।[4] धातुसाम्य करने की प्रक्रिया सामान्यतः आयुर्वेद के प्रयोजनद्वय से निहित है। यह प्रयोजनद्वय हैं–आतुर की रोग मुक्ति एवं स्वस्थ पुरुष की स्वास्थ्य रक्षा। यह दोनों कार्य धातुओं की समता पर निर्भर है। भगवान धनवन्तरि कहते हैं—वत्स सुश्रुत ! इस आयुर्वेद का प्रयोजन व्याधि से ग्रस्त मनुष्यों की रोग से मुक्ति तथा स्वस्थ हुए (पुरुष) के स्वास्थ्य की रक्षा करना है।[5] आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार भी Preventive

१. सुखसंज्ञकमारोग्यं।—च० सू० ९।४

२. सुखार्थः सर्वभूतानां मताः सर्वा प्रवृत्तयः।
ज्ञानाज्ञानविशेषात्तु मार्गामार्गप्रवृत्तयः॥—च० सू० २८।३५

३. सुखार्थः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।—अ० हृ० सू० २।२०

४. धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्।
कार्यं धातुसाम्यमिहोच्यते॥—च० सू० १।५३

५. वत्स सुश्रुत ! इह खलु आयुर्वेद प्रयोजनं व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः। स्वस्थस्य रक्षणं च।—सु० सं० सू० अ० १।२२

तथा Curative दो प्रकार की चिकित्सा मानी गयी है। काश्यपसंहिताकार का कहना है—यह चिकित्सा शरीर तथा आयु की अव्याहत रूप में वृद्धि तथा विकारों की शान्ति के लिए चिकित्सा कही गयी है,[1] अर्थात् चिकित्सा के दो प्रयोजन हैं—१—शरीर तथा आयु की वृद्धि (स्वस्थ वृत्त), २—उत्पन्न हुए रोगों की शान्ति करना। चरकसंहिताकार का कथन है कि चिकित्सा शास्त्र का प्रयोजन स्वस्थ पुरुष की स्वास्थ्य रक्षा एवं रोगी के विकारों का शान्त करना है।[2] आयुर्वेद नीरोगता ही नहीं प्रदान करता अपितु यह धर्म, अर्थ, सुख का देने वाला है। वाग्भट्ट का कथन है कि धर्म, अर्थ (काम) सुख के साधनस्वरूप आयु की इच्छा वाला आयुर्वेद के उपदेशों में आदर एवं श्रद्धा करें।[3] भगवान् आत्रेय कहते हैं—"परीक्षक मनुष्य हितकर तथा अहितकर कार्यों की परीक्षा करके जो हितकर कार्य होते हैं, वहीं करते हैं। जिन लौकिक मनुष्यों की आत्मा रजोगुण तथा तमोगुण से आवृत है वे तत्काल प्रिय लगने वाले कार्य करते हैं।[4] कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि श्रेय तथा प्रेय दोनों ही मनुष्य के समक्ष मिले-जुले रूप में आते हैं। धीर पुरुष उन दोनों के स्वरूप की सम्यक् विवेचना कर दोनों को पृथक्-पृथक् जान लेता है तथा प्रेय की तुलना में श्रेय को उत्कृष्ट समझकर श्रेय का ही वरण करता है। परन्तु मन्दबुद्धि वाला मनुष्य सांसारिक अभ्युन्नति के लिए प्रेय को अपनाता है।[5]

भगवान् आत्रेय का मत है कि विवेकी पुरुष शास्त्र ज्ञान, बुद्धि, स्मृति, दक्षता, धृति, हितसेवन, वाणी की शुद्धि, शान्ति तथा धैर्य आदि गुणों का आश्रय बन जाता है। लेकिन मोह एवं रजोगुण के आश्रित लौकिक पुरुष में इन गुणों का अभाव होता है। इतना ही नहीं अपितु मोह तथा रजोगुण से होने वाले बहुत से शारीरिक तथा मानसिक रोग हो जाते हैं क्योंकि अज्ञानी पुरुष प्रज्ञापराध के कारण चक्षु आदि

---

१. अव्याहतशरीरायुरभिवर्धेत वा कथम्। इत्यर्थं भेषजं प्रोक्तं विकाराणां च शान्तये।
—का० सं० सू० २७।७

२. प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च।
—च० सू० ३०।२६

३. आयुःकामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः॥—अ० सं० सू० १।४

४. हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः।
रजोमोहावृतात्मानः प्रियमेव तु लौकिकाः॥—च० सू० २८।३६

५. श्रेयश्चप्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥—कठो० १।२।२

पंचेन्द्रियों के अहितकारी विषयों का सेवन करता है, वेगों को धारण करता है, साहसिक कर्मों को करता है तथा तत्काल सुखप्रद कार्य में अनुरक्त होता है। परन्तु विवेकी मनुष्य विज्ञान के निर्मल हो जाने पर क्षणिक सुखों में आसक्ति नहीं करते।[1]

जो क्षणिक इन्द्रिय सम्बन्धी सुखकर भावों में प्रवृत्त होते हैं वे रोगग्रस्त होकर दुःख से पीड़ित होते हैं। चरकसंहिताकार का कथन है कि विकार ही दुःख हैं।[2] प्रत्येक मनुष्य की यह चेष्टा रहती है कि वह दुःख से निवृत्त रहे। जैसा कि महर्षि पतञ्जलि का कथन है कि दुःख प्रतिकूल वेदनीय होता है।[3] पातञ्जल योगसूत्र के अनुसार दुःख वह है जिसके विरोध में मनुष्य प्रतिक्रिया करता है। उस दुःख के उपघात का प्रयत्न करता है।[4]

सुश्रुतसंहिताकार के अनुसार यह दुःख तीन प्रकार का होता है—आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक।[5] सांख्य शास्त्र भी तीन प्रकार के दुःख मानता है।[6] इनमें से आध्यात्मिक दुःख शारीरिक तथा मानसिक रूप से दो प्रकार का होता है। वात, पित्त, कफ नामक त्रिदोष की विषमता से उत्पन्न दुःख को 'शारीरिक', तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह (अज्ञान) भय, ईर्ष्या (परोत्कर्षासहिष्णुता), विषाद (प्रिय पदार्थ के विनाश से उत्पन्न व्याकुलता) तथा सुन्दर शब्द, स्पर्श, आदि श्रेष्ठ विषयों के अभाव से उत्पन्न दुःख को मानसिक कहते हैं। आधिभौतिक दुःख मनुष्य, पशु-मृग, पक्षी, सर्प तथा वृक्षादि से उत्पन्न

---

१. श्रुतं बुद्धिः स्मृतिर्दाक्ष्यं धृतिर्हितनिषेवणम्। वाग्विशुद्धिः शमो धैर्यमाश्रयन्ति परीक्षकम् लौकिकं नाश्रयन्त्येते गुणाः मोहरजः श्रितम्। तन्मूला बहवो यान्ति रोगाः शारीरमानसाः प्रज्ञापराधाद्धर्यहतानर्थान पञ्च निषेवते। संधारयति वेगांश्च सेवते साहसानि च। तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते। रज्यते न तु विज्ञाता विज्ञाने ह्यमलीकृते।—च० सं० सू० २८।३७-४०

२. विकारो दुःखमेव च।—च० सू० ६।४

३. प्रतिकूलवेदनीय दुःखम्····।—योग सू०

४. येनाभिहताप्राणिनस्तदुपघातायप्रयतन्ते तद्दुःखम्।—यो० सू० ३१ का भाष्य

५. तच्च दुःखं त्रिविधमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकमिति।

—सु० सू० २४।४

६. दुःखानामत्रयमिति दुःखत्रयम्। तत्खलु आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधि-दैविकश्च।—सां० का १ की वाचस्पति मिश्र की तत्व कौ०

होता है। आधिदैविक दुःख यज्ञ, राक्षस, विनायक, ग्रह इत्यादि के दुष्ट प्रभाव से होने वाला दुःख आधिदैविक कहलाता है।[1]

इसी दुःखत्रय समूह के अपघात के लिए लोककल्याण की पुण्य भावना से महर्षियों ने शास्त्रों का प्रवर्तन इस मर्त्यलोक में किया। इहलोक में, आयुर्वेद का प्रवर्तन, करुणामयी पृष्ठभूमि में हुआ। सुश्रुत संहिता के इस वर्णन से यही आभास होता है—'रोगों से एवं अनेक प्रकार की वेदनाओं की पीड़ा से कष्ट भोगते हुए मित्र, स्वामी, नौकर आदि से सनाथ होते हुए भी अनाथों की भाँति चेष्टा करते हुए तथा चिल्लाते हुए मनुष्यों को देखकर हमारे मन में दुःख होता है।'[2] इस दयनीय स्थिति से अवगत होकर भगवान् धन्वन्तरि ने उन ऋषियों को आयुर्वेद का उपदेश दिया। चरकसंहिता में भी आयुर्वेदावतरण के मूल में लोककल्याण की भावना थी—"सभी ऋषि आपस में यह विचार करने लगे कि रोग आरोग्य, अभ्युदय एवं जीवन को नष्ट करने वाले हैं। मनुष्यों के लिए ये रोग विघ्नरूप हो गये हैं। इसलिए इन रोगों की शान्ति का उपाय कहिए।"[3] इसके पश्चात् शिष्य-परम्परा से प्राप्त आयुर्वेद को अग्निवेशादि के ऋषि संमत तंत्रों ने प्राणिसमूह की नीरोगजीवन-यात्रा के लिए ससार में प्रतिष्ठा प्राप्त की।[4] इस वर्णन से स्पष्ट है कि प्राणियों के प्रति जिस कारुणिक भावना से प्रेरित होकर आदि विद्वान् कपिल ने जिज्ञासु आसुरि को उपदेश देने के लिए अवतार लिया था उसी कारुण्य के उद्दाम वेग से द्रवित होकर परम कारुणिक अग्निवेश तथा महर्षि सुश्रुत आदि ने दुःखों से बिलबिलाते हुए सांसारिक मनुष्यों के कल्याण के लिए 'आयुर्वेद' शास्त्र की सृष्टि की। इस प्रकार से जिस कारुण्यभावना की पृष्ठभूमि में सांख्य योगादि अन्य दर्शन शास्त्रों का जन्म हुआ उसी भावना ने इस शास्त्र को भी जन्म

---

१. आत्मनि देहे मनसि वेति अध्यात्मम्। तत्र जायमानमाध्यात्मिकं शारीरं मानसं च। आधिदैविकं शीतोष्णवातवर्षाशन्यवश्यायावेशनिमित्तम्-युक्ति दी० देवान् यक्षादीन् दिवःप्रभवान् वातवर्षातपशीतोष्णादीन् वा निमित्तीकृत्य जायमानं दुःखमाधिदैविकम्-बालरामः। केचित्तु देवपदेन दिवःप्रभवाणां वातवर्षादीनामपि ग्रहणं वदन्ति, भूतपदेनैव तेषां लाभसम्भवात् देवपदेन ग्रहणं व्यर्थमेवेति प्रतिभाति-सुषमा।

२. व्याधिभिर्विविधवेदनाभिघातोपद्रुतान् सनाथऽप्यनाथवद्विचेष्टमानान् विक्रोशतश्च मानवानामभिसमीक्ष्य मनसि नः पीडा भवति।—सु० सू० १।३

३. रोगस्यापहर्त्तारः श्रेयसो जीवितस्य च। प्रादुर्भूतो मनुष्याणामन्तरायो महानयम्। —च० सू० १।१५

४. च० सं० सू० अ० १।४०

दिया है। अतएव इस शास्त्र का दार्शनिक दृष्टि से महत्व किसी भी प्रकार कम नहीं है। अपितु अनेक दार्शनिक पद्धतियों का परस्पर समन्वय करने के कारण इसका महत्त्व अन्य दर्शन शास्त्रों की अपेक्षा कुछ अधिक हो हो जाता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दुःखत्रय का नाश चिकित्सा शास्त्र से ही सम्भव है।

विशुद्ध आयुर्वेदिक दृष्टि से दुःख की उत्पत्ति व्याधि से होती है। जैसा कि सुश्रुत संहिता में कहा गया है—'जिसके संयोग से पुरुष को दुःख होता है वे व्याधियाँ हैं।[1] ये व्याधियाँ दोषों के वैषम्थ से उत्पन्न होती है। महर्षि आत्रेय के अनुसार ये व्याधियाँ तान प्रकार की होती है। १—निज, २—आगन्तुक, ३—मानसिक। निज रोग वे हैं जो वात, पित्त, कफादि त्रिदोषों की विषमता स उत्पन्न हाते हैं। आगन्तुक रोग वे हैं जो जलने आदि से उत्पन्न होते हैं तथा मानसिक रोग वे हैं जो इष्ट के लाभ से तथा अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होतें हैं।[2] महर्षि सुश्रुत चार प्रकार के रोग मानते हैं (१) आगन्तुक (२) शारीरिक (३) मानसिक (४) स्वाभाविक। इनमें आगन्तुक रोग अभिघात के कारण, शारीरिक रोग त्रिदोषों में वैषम्य के कारण, मानसिक रोग क्रोध-शोकादि के कारण एवं स्वाभाविक रोग क्षुधा-पिपासा आदि के कारण उत्पन्न होते हैं।[3] चरक तथा सुश्रुत में रोगों की संख्या के सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण मतभेद नहीं है। सुश्रुताचार्य ने चरकसम्मत तीनों रोग-भेद के अतिरिक्त क्षुधा-पिपासा जन्य एक चौथा रोग भेद स्वीकार कर लिया है। वाग्भट्ट रोगों का वर्गीकरण करते हुए कहते हैं कि रोग सात प्रकार के होते हैं—(१) सहज (२) गर्भज (३) जातज (४) पीडाज (५) कालज (६) प्रभावज (७) स्वभावज रोग।[4]

१. ....तद्दुःखसंयोगाः व्याधयः उच्यन्तें।—सु० सं० सू० १।२३
तु० धातुस्थूणात्मवैषम्यं तद्दुःखं व्याधिसंज्ञकम्।—का० सं० सू० २७।६

२. त्रयो रोगा इति—निजागन्तुमानसाः! तत्र निजः शारीरदोषसमुत्थः, आगन्तुर्भूतविषवाय्वग्निसंप्रहारादि समुत्थः, मानसः पुनरिष्टस्यालाभाल्लाभाच्चानिष्टस्योपजायते।—च० सं० सू० ११।४५

३, तेषामागन्तवोऽभिघातनिमित्ताः। शारीरस्त्वन्नपानमूला वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ताः। मानसास्तु क्रोधशोकभयहर्ष विषादेर्ष्याभ्यसूयादैन्यमात्सर्यकामलोभप्रभतयः इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्तिः। स्वाभाविकास्तु क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः।—सु० सं० सू० १।२४.

४. सप्तविधा खलु रोगाः भवन्ति। सहगर्भजातपीडाकालप्रभावस्वभावजाः।
—अ० स० सू० २२।२

रोगों की संख्या कितनी है ? इस प्रश्न पर एक परिचर्या काश्यप संहिता में मिलती है—"प्रमति भार्गव ने कहा रोग, एक ही प्रकार का होता है क्योंकि रोगों में पीड़ा समान रूप से होती है अर्थात् रुक्-वेदना के विद्यमान होने से प्रत्येक रोग को रोग ही कहते हैं। वार्योविद ने कहा, रोग निज एवं आगन्तुक भेद से दो प्रकार का होता है। काङ्कायन ने कहा रोग साध्य, असाध्य तथा याप्य भेद से तीन प्रकार का होता है। कृष्णभारद्वाज ने कहा, रोग आगन्तुक तथा वात, पित्त एवं कफ दोष के अनुसार चार प्रकार के हैं। राजर्षि दारुवाह ने कहा, रोग आगन्तुक तथा वात, पित्त, कफ तथा त्रिदोष के भेद से पाँच प्रकार के हैं। (ऋषि षद्भय ?) के अनुसार अन्नपान के कारण रोग ६ प्रकार के हैं। हिरण्याक्ष ने कहा, रोग सात प्रकार के हैं—वातादि दोषों से पृथक् तीन (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक) द्विदोषज (वातपैत्तिक, वातश्लैष्मिक,) तथा त्रिदोषज। वैदेह मुनि ने कहा, रोग आठ प्रकार के हैं। उपर्युक्त सात के अतिरिक्त आठवाँ आगन्तुक। वृद्ध जीवन ने कहा कि दोषों के सम, हीन तथा अधिक होने से रोग असंख्य हैं क्योंकि संसर्ग से दोषों के भेद अनेक हो जाते हैं। इस प्रकार की अवस्था को देखकर भगवान् काश्यप ने कहा "वस्तुतः रोग निज तथा आगन्तुक भेद से दो ही प्रकार के हैं। उनके ही अनेक प्रकार के विस्तार हो जाते हैं।"[1] ऋषियों की इस परिचर्चा का उपसंहार केवल रोगों के दो भेदों से हुआ। इस प्रकार लगता है कि चिकित्सा शास्त्रों का आग्रह रोगों के स्थूल विभाजन पर अधिक था न कि सूक्ष्म विभाजन पर। क्योंकि वाग्भट्ट ने भी जहाँ एक ओर रोगों की संख्या सात मानी है वहाँ दूसरी ओर वे कहते हैं कि आयुर्वेद में निज तथा आगन्तुक विभाग से रोग दो प्रकार के होते हैं।[2] मानसिक रोग (जो चरकादि को अभिमत है) का अन्तर्भाव आगन्तुक में कर

१. एको रोगो रुजाकरणसामान्यादिति भार्गवः प्रमितिः, द्वौ रोगौ निजश्चागन्तुश्चेति वार्योविदः, त्रयो रोगाः साध्ययाप्यासाध्या इति काङ्कायनः, चत्वारो रोगा आगन्तुवातपित्तकफजा इति कृष्णो भारद्वाजः, पंच रोगाः आगन्तुवातपित्तकफत्रिदोषजा इति दारुवाहो राजर्षिः, षड्रोगाः षड्सत्वादन्नपानस्येत्ययृषषद्भयः, सप्त रोगाः वाताद्यैकैकद्वित्रिदोषजा इति हिरण्याक्षः, अष्टौ रोगा वाताद्यैकैकद्वित्रिदोषागन्तुनिमित्ता इति वैदेहो निमिः, अपरिसंख्येयाः समहीनाधिकदोषभेदादिति वृद्धजीवकः, एवमनवस्थानमुपलभ्याह भगवान् कश्यपोद्वावेव खलु रोगौ निजश्चागन्तुश्च, तावनेकविस्तराविति।—का० सं० सू० २७।३

२. अधिष्ठानं द्वयं तेषां शरीरं मन एव च।
मानसानां च रोगाणां कुर्याच्छारीरवत् क्रियाम्।—का० सं० सू० २७।५

देते हैं क्योंकि मानसिक रोग भी तमस् या रजस् दोषों के आने के कारण होता है। अतः मानसिक रोग भी आगन्तुक रोग में गिन लिया जाना चाहिए। वाग्भट्ट ने अष्टांगसंग्रह में एक स्थल पर कहा है—"व्याधियों के बहुत से भेद होने पर भी वे निज तथा आगन्तुक भेदों से बाहर नहीं जातीं। सारांश, व्याधियाँ अनन्त होने पर भी वे निज तथा आगन्तुक इन दो ही जाति की रहती हैं। यहाँ पर जो निज व्याधियाँ हैं वे वातादि तीन दोषों से उत्पन्न होती है, इनमे पहले वातादि दोष विषमता को प्राप्त करते हैं तथा फिर व्याधि का प्रादुर्भाव होता है। आगन्तुक व्याधियाँ वे हैं जो बाहरी कारणों से होती हैं। इनमें पहले शस्त्रप्रहार, चोट लगना, गिर पड़ना, आदि नाना प्रकार के बाह्य कारणों से व्यथा होती है तथा व्यथा के पश्चात् दोष-वैषम्यता होती है एवं दोषवैषम्य से अनेक रूप पीड़ा होती है। इस प्रकार देखा जाय तो किसी भी रोग का प्रादुर्भाव दोषों को छोड़कर नहीं होता। यह विशेष अवश्य है कि एक में दोष पहले से ही रहते हैं तथा दूसरे में पीछे आकर प्राप्त हो जाते हैं। इस दोष-भेद को देखा जाय तो सभी रोग एक ही स्वरूप के हैं और रोग-भेद या रुक्सामान्य से देखा जाय तो रोगों के भेदों की संख्या ही नहीं हो सकती, अतः रोग असंख्य हैं। इसलिए कि रोगों के समुत्थान, स्थान, संस्थान (लक्षण), धर्म (स्वभाव) नाम (ज्वर, अतिसारादि), वेदना (शूल, दाहादि), प्रभाव (रोग शक्ति) तथा उपक्रम (चिकित्सा) आदि विशेषों के कारण इनकी गिनती करना कठिन ही नहीं असम्भव है।"[1] इस प्रकार से यह सत्य है कि निज तथा आगन्तुक रोगों के भेद के इस स्थूल विभाजन के अतिरिक्त अधिक सूक्ष्म विभाजन करने पर अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ेगा।

वातादि तीन दोष ही सम्पूर्ण रोगों के एकमात्र कारण हैं। जैसे शकुनि (पक्षी) दिन भर सर्वतः (नदी, तडाग, वन, समुद्र आदि समस्त स्थानों पर) उड़ता हुआ अपनी छाया को नहीं छोड़ता तथा जैसे विश्वरूपेण व्यवस्थित सम्पूर्ण विकारजात (मनुष्यादि) गुणत्रय (सत्, रज, तम) को छोड़कर नहीं रहते तथैव ज्वरादि समस्त विकार भी

१. सुबहुशोऽपि भिद्यमाना व्याधयो निजागन्तुतां न व्यभिचरन्ति। तत्र निजास्तु दोषोत्थास्तेषु पूर्वं वातादयो वैषम्यमापद्यन्ते ततो व्यथाभिनिर्वतत्ते। बाह्यहेतु जास्त्वागन्तवस्तेषु व्यथा पूर्वमुपजायते ततो दोषवैषम्यम्। दोषवैषम्येणैव च बहुरूपा रुगनुबध्यते प्रवर्धते च। एवं च कृत्वा न दोषव्यतिरेकेण रोगानुबन्धः केवलं पौर्वापर्ये विशेषः। तस्मादेकाकारा एव रोगास्तथा रुक्सामान्या-दसंख्यभेदा वा प्रत्येकं समुत्थानस्थानसंस्थानधर्मनामवेदना प्रभावोपक्रम विशेषास्ते यथास्थूलं यथास्वमेवोपदेक्ष्यन्ते।—अ० सं० सू० २२।४

दोषत्रय को छोड़कर नहीं रहते हैं। इससे सिद्ध है कि वात, पित्त, कफ ये तीनों दोष सदैव शरीर में वर्तमान रहते हैं। फिर भी रोग की उत्पत्ति कभी-कभी ही करते हैं इसका क्या कारण है ? अष्टांगसंग्रहकार इसका उत्तर देते हुए कहते हैं जैसे बिजली, वर्षा आदि सदैव आकाश में अवश्य रहते हैं परन्तु सदैव बिजली, वर्षा नहीं होती किन्तु निमित्त को पाकर अवश्य होती है, ठीक इसी प्रकार तीनों दोष शरीर में रहते हुए भी रोगोत्पत्ति नहीं करते हैं किन्तु असात्म्येन्द्रियार्थ-संयोगादि निमित्त को पाकर अवश्य रोग के उत्पादक होते हैं।[1] इस प्रकार से दोष एवं रोग समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। इस (दोष) समवाय कारण के साथ रोगोत्पत्ति में निमित्तकारण भी होना आवश्यक है। ये निमित्तकारण त्रिविध हैं—(१) असात्मेन्द्रिय-संयोग, (२) प्रज्ञापराध, (३) परिणाम।[2] इन तीनों प्रत्येक निमित्त कारणों के हीनयोग, मिथ्यायोग एवं अतियोग के भेद से तीन-तीन उपभेद होते हैं। असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग का तात्पर्य है अपनी आत्मा को न सुहाने वाला हानिकारक, चक्षु आदि, इन्द्रियों के अर्थ का संयोग। चक्षु आदि इन्द्रियों के रूपादि अर्थों का अतिसंसर्ग अतियोग है। स्वल्प या नहीं होने वाला संसर्ग, अयोग किंवा हीनयोग है। इनके अतिरिक्त चक्षु आदि इन्द्रियार्थों का संसर्ग मिथ्या योग है यथा सूक्ष्म, अतिदूर, अतिसमीप, अतिप्रकाशमान्, भयंकर, अप्रिय, विकृतादि का देखना चक्षु के अर्थों का मिथ्यायोग है इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के मिथ्यायोग होते हैं।

काय (देह), वाक् (वाणी) तथा मन इन तीनों के द्वारा किये जाने वाला अहित कर्म प्रज्ञापराध है। कायादि (शरीर, वाणी, मन) द्वारा किये जाने वाले कर्मों की अतिप्रवृत्ति अतियोग है। अल्प प्रवृत्ति, हीनयोग है। विषमाङ्गचेष्टन, निन्दा, पुरुष, व्यापाद (बुरा चिन्तन), अभिध्या (परधनेच्छा) इत्यादि मिथ्यायोग हैं।

परिणाम, काल को कहते हैं। अपने प्रमाण से अधिक होने पर वह उस काल का मिथ्यायोग है। हीन लक्षण वाला अयोग है। विपरीत लक्षण होने से मिथ्यायोग होता है।

---

१. दोषा एक सर्वरोगैककारणम्। यथैव शकुनिः सर्वतः परिपतन् दिवसं स्वां छायां नातिवर्तते। यथा वा कृत्स्नं विकारजातं वैश्वरूपेण व्यवस्थितं गुणत्रयमव्यतिरिच्य वर्तते तथैवेदमपि कृत्स्नं विकारजातं दोषत्रयमिति। यथा च विद्युद्वर्षादयो नभसि भवन्ति न त्ववश्यं निमित्ततस्त्ववश्यमपि। तरङ्गबुदबुदायश्चाम्भसि तथा दोषेषु रोगाः।—अ० सं सू० २२।६

२. त्रिविधं तु निमित्तमेषामसात्म्येन्द्रियार्थ संयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्च।

—अं० सं० सू० २२।६

धर्म, अर्थ तथा काम की उपलब्धि के पश्चात् सुख की उपलब्धि होती है। 'सुख' की व्याख्या करते हुए अष्टांगसंग्रह के टीकाकार अरुणदत्त ने कहा है—"सुख द्विविध होता है। १—तात्कालिक सुख, २—आत्यन्तिक सुख। तादात्विक सुख वह है जो कुछ समय पश्चात् अस्थायी होने से समाप्त हो जाता है वह वास्तविक सुख नहीं अपितु सुखावभास है। जैसा कि कहा गया है तात्कालिक सुख-सञ्ज्ञक भावों (वस्तुओं) में अल्पज्ञ व्यक्ति अनुरक्त होता है। आत्यन्तिक सुख मोक्ष संज्ञा वाला वह सुख है, जहाँ दुःखों की श्लिष्टता (किसी भी काल) में नहीं होती।"[1] टीकाकार अरुणदत्त की इस व्याख्या से यह स्पष्ट हो गया कि धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति तो चिकित्सा विज्ञान का तात्कालिक प्रयोजन है वस्तुतः चिकित्सा-विज्ञान का पर्यवसान तो मोक्ष में ही होता है। इसीलिए तो भगवान आत्रेय का यह डिण्डिम घोष है—यह आयुर्वेद मनुष्यों के लिए इस लोक और परलोक में हितकारी है।[2] क्योंकि आयुर्वेद विहित कर्मों का अनुष्ठान करने से मनुष्य को इस लोक में आयु-आरोग्यादि की प्राप्ति होती है। जिससे कि स्वस्थ रहते हुए धर्मादि का अनुष्ठान करने से स्वर्ग की प्राप्ति कर लेता है। भगवान आत्रेय ने एक स्थल पर कहा है—आरोग्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चतुर्विध पुरुषार्थ का उत्तम कारण हैं।[3] सुश्रुताचार्य कहते हैं कि इस आयुर्वेद में ही इहलौकिक कल्याण तथा पारलौकिक श्रेय है।[4] आयुर्वेद का महत्त्व बताते हुए महर्षि काश्यप कहते हैं–'जिस प्रकार वेदों में ब्रह्मज्ञ ऋषियों के द्वारा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) युक्त पुरुष निश्रेयस् का विचार किया गया है उसी प्रकार इस वेद (आयुर्वेद) में भी निदान, रोगोत्पत्ति, लक्षण, अरिष्ट तथा चिकित्सा द्वारा हितकारी, सुखकारक तथा त्रिवर्ग के सारभूत पुरुष निश्रेयस् का ही विचार किया गया है। जिस प्रकार से विविध ज्ञान-विज्ञान से युक्त, भाव्य वचन आदि के पण्डित, अष्टांग बुद्धि से युक्त, लंघन, प्लवन, आसन, गमन तथा आगमन आदि क्रियाओं में समर्थ होते हुए भी मनुष्य देश का ज्ञान न होने पर सदा उस स्थान के जानने वाले तथा उस निवासी के पास ही पहुँचते हैं उसी प्रकार शिक्षा, कल्प सूत्र,

---

१. सुखं द्विविधं। तादात्विकमात्यन्तिकं च। तादात्विकं किल-कालान्तरास्थायित्वात्सुखावभासं न परमार्थतः सुखम्। तथा चोक्तम्—तादात्वसुखसंज्ञेषु भावष्वज्ञोऽनुरज्यते।.........आत्यन्तिकं सुखं मोक्षाख्यं यत्र न दुःखानां श्लेषः।

—अ० सं० सू० १ पर अरुणदत्त की टीका

२. वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्।—च० स० सू० १।४३

३. धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।—च० सं० सू० १।१५

४. अत्रायत्तमैहिकमामुष्मकं च श्रेयः इति।—सु० सं० १

निरुक्त, वृत्त तथा छन्द, यज्ञसंस्तर तथा ज्ञानराशि के विशेषज्ञ भी वेदना (रोग कष्ट) होने पर आयुर्वेद की ही शरण में जाते हैं। रोगी मनुष्य का आरोग्य तथा स्वस्थ मनुष्य की शेष क्रियाएँ धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में निवृत्त हो जाती है। अर्थात् स्वस्थ एवं रोगी व्यक्ति के लिए धर्मार्थकाममोक्षरूप चतुर्विध पुरुषार्थ चरमध्येय होता है।[1] आयुर्वेद को अन्यत्र भी धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का साधन बताया गया है। स्कन्दपुराण[2] में कहा गया है—रोग से पीड़ित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वणिक्, शूद्रों का परिपालन करके जो पुण्य प्राप्त होता है वह सभी प्रकार के महत्वपूर्ण यज्ञों के करने से भी नहीं प्राप्त होता। अतः भोग तथा अपवर्ग के लिए रोग से पीड़ित व्यक्ति का उपचार करना चाहिए तथा वह व्यक्ति सदैव अपने को अनुगृहीत भी मानता है। रोग से पीड़ित व्यक्ति के मुक्त होने पर (आरोग्यदाता) संसार सागर को पार कर जाता है। नन्दि पुराण[3] में भी कहा गया है—'आरोग्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन है। आरोग्यदान से (आरोग्यदाता) सभी (वस्तुओं) का दाता बन जाता है।

संस्कृत साहित्य के चिकित्सा-ग्रन्थों में ऐसे वर्णन मिलते हैं जिनके प्रमाण से यह कहा जा सकता है कि आयुर्वेद का उद्देश्य मनुष्य को पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति कराना है। संस्कृत साहित्य के सभी प्रमुख चिकित्सा-ग्रन्थों में इस लोक में आयुर्वेद के अवतरण का कारण मनुष्यों को धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को दिलाना बताया गया है। चरक-संहिता में हिमालय के पार्श्व में हुई ब्रह्मज्ञ ऋषियों की सभा में यह चर्चा हुई—'आरोग्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चतुर्विध पुरुषार्थ का उत्तम मूल है।

---

१. यथाहि वेदेषु सततं ब्रह्मज्ञैस्त्रिवर्गसंयुक्तं पुरुषनिश्रेयसं चिन्त्यते, एवमस्मिन्नपि वेदे निदानोत्पत्तिलिङ्गारिष्टचिकित्सतैः सततमेव हितसुखकरं त्रिवर्गसारभूतं पुरुषनिनिश्रेयसं चिन्त्यते, तद्यथा च विविधविज्ञानज्ञानोपपन्ना भाष्यवचनविदोऽष्टाङ्गया बुद्धयोपपन्ना लङ्घनप्लवनस्थानासनगमनागमनसमर्था अपि च मनुष्या अदेशज्ञानवन्तो नित्यमेव देशज्ञं दैशिकेमन्वयुरेवमेव खलु वेदनासु शिक्षाकल्पसूत्रनिरुक्तवृत्तछन्दोयज्ञसंस्तरज्ञानसमुच्चयविशेषज्ञा आयुर्वेदमेवानुधावन्ति। व्याधितस्यारोग्यमरोगस्य च शेषाः क्रिया धर्मार्थकाममोक्षेषु निवर्तन्ते।—का० सं० विमान० ११

२. ब्रह्मक्षत्रियविटशूद्रान् रोगार्तान् परिपाल्य च। यत्पुण्यं महदाप्नोति न तत्सर्वैर्महामखैः। तस्मादभोगापवर्गार्थं रोगार्तं समुपचारेत्। योऽनुगृहीमात्मानं मन्यमानो दिने-दिने। उपसर्पेत् रोगार्तास्तीर्णस्तेन भवार्णवः।—स्कन्दपुराण

३. धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं साधनं यतः। अतस्त्वारोग्यदानेन नरो भवति सर्वदः।

—नन्दिपुराण

रोग उसी कल्याणकारी एवं मूलस्वरूप आरोग्य को नष्ट करने वाले हैं, इस रोग की शान्ति का उपाय क्या होगा।'[१] आगे चलकर इन्द्र भारद्वाज को त्रिसूत्री आयुर्वेद का ही उपाय रूप में उपदेश करते हैं। सुश्रुतसंहिता,[२] अष्टांगसंग्रह[३] एवं काश्यपसंहिता[४] इत्यादि ग्रन्थों में प्राप्त स्पष्ट वचनों से यह प्रमाणित होता है कि देवताओं एवं ऋषियों के द्वारा इस लोक में आयुर्वेद का अवतरण, प्रचार एवं प्रसार इसलिए किया गया कि चिकित्सा विज्ञान का अनुसरण कर इस लोक के निवासी चतुर्विध पुरुषार्थ को प्राप्त करें।

संस्कृत के प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर चिकित्सा विज्ञान को पुण्य शब्द के द्वारा कहा गया। सुश्रुतसंहिताकार कहता है—'यह चिकित्सा शास्त्र शाश्वत पुण्य स्वर्ग्य, यश एवं आयु एवं वृत्ति को दिलाने वाला है।[५] काश्यपसंहिताकार यह कहते हैं कि यह (चिकित्सा विज्ञान) पुण्य तथा अनन्त आयु देने वाला है।[६] चरकसंहिता में भगवान आत्रेय कहते हैं कि उस आयु का पुण्यतम वेद है एवं इसको (जानने वालों) से पूजित है क्योंकि यह मनुष्यों के लिए इस लोक एवं परलोक में हितकारी है। चरकसंहिता के टीकाकार चक्रपाणि कहते हैं[७]—'इस शास्त्र को पुण्यतम इसलिए कहा गया क्योंकि ऋग्वेदादि अन्य शास्त्र केवल परलोक सम्बन्धी हित का विवेचन करते हैं इसलिए वे पुण्य हैं (किन्तु) आयुर्वेद तो पुण्यतम है क्योंकि

---

१. धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्। रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य प्रादुर्भूतो मनुष्याणामन्तरायो महानयम्। कः स्यात्तेषां शमोपाय इत्युक्त्वा ध्यानमास्थिताः ॥—च० सं० सूत्र १।१५।१६

२. सुखैषिणां रोगोपशमनार्थमात्मनः प्राणयात्रार्थञ्च प्रजाहितहेतोरायुर्वेदम् श्रोतुमिच्छामः इहोपदिश्यमानं। अत्रायत्तमैहिकमामुष्मिकञ्च श्रेयः। तद्भगवन्तमुपन्नाः स्मः शिष्यत्वेनेति।—सु० सं० सू० १।४-६

३. धर्मार्थकाममोक्षाणां विघ्नकारिभिरामयैः। नरेषु पीड्यमानेषु पुरस्कृत्य पुनर्वसुम्।
—अ० सू० सू० अ० १।६-८

४. धर्मार्थकामोक्षशक्तिपरिपालनार्थं चेति एवमुत्पन्नः।—का० सं० वि० १।१०

५. यदिदं शाश्वतं पुण्यं स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्य वृत्तिकरं चेति।—सु० सं०

६. ततस्तं पुण्यमायुर्वेदमनन्तमायुषो····।—का० सं० वि० १।१०

७. तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः। वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्।—च० सू० १।४३

यह मनुष्यों के उभयलोकहितकारी आयु आरोग्य साधन तथा धर्म साधन का उपदेश करता है ।[1]

आयुर्वेद को 'अनन्तपार' भी कहा गया है । चक्रपाणि इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—अनन्त शब्द मोक्ष का पर्यायवाची है । मोक्ष ही है पार अर्थात् उत्कृष्ट फल जिसका वह आयुर्वेद अनन्तपार है ।[2] 'भगवान आत्रेय के वैद्य की प्रशंसा में कहे हुए वचन द्रष्टव्य हैं—देह सुख तथा आयु का दान देने के कारण वैद्य धर्म, अर्थ, काम तथा मनुष्य के इहलोक तथा परलोक दोनों का ही दाता बन जाता है ।[3] नन्दिपुराण में कहा गया है—'आरोग्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का साधन है । अतः आरोग्यदान से मनुष्य समस्त वस्तुओं का दाता बन जाता है ।'[4] यह सिद्ध हुआ कि आयुर्वेद मोक्षपरक है । यही कारण है कि प्राचीन भारतीय चिकित्सा-पद्धति का ही वर्णन नहीं करती अपितु मोक्षप्रदात्री नैष्ठिकी चिकित्सा का प्रतिपादन भी करती है । चरकसंहिताकार कहते हैं यह नैष्ठिकी चिकित्सा उपधा से रहित होती है ।[5] प्रश्न यह उठता है कि यह उपधा क्या है । महर्षि कणाद कहते हैं—भावदोष ही उपधा है ।[6] ये भावदोष तीन हैं—राग, द्वेष, मोह । इन तीनों से ही मनुष्य भवबन्धन में पड़ता है इसलिए यह उपधा ही दुःख तथा दुःख का आश्रयभूत शरीर की उत्पत्ति में मूल कारण है, सभी प्रकार की उपधाओं का त्याग करना सम्पूर्ण दुःखों का नाशक कहा जाता है । जिस प्रकार रेशम को पैदा करने वाला कीट वध्रप्रद अंशुओं (रेशों) को स्वयं उत्पन्न करता है । उसी प्रकार मूर्ख पुरुष अर्थों के द्वारा स्वयं तृष्णा को प्राप्त करता है तथा सदा रोगी, दुःखभागी बना रहता है । जो ज्ञानी पुरुष हैं वे उन विषयों को अग्निवत् दुःखदायी जानकर उससे निवृत्त हो जाते हैं । पुनः रज, तम के अभाव

१. यदन्ये ऋग्वेदायः प्रायः परलोकहितमेवार्थं वदन्ति तेन पुण्याः । पुण्यतमश्चाय-मायुर्वेदो यद् यस्मान्मनुष्याणामुभयोरपि लोकयोर्हितमायुमारोग्यसाधनं धर्म-साधनं च तद्वक्ष्यते ।—च० सू० १।४३ पर चक्रपाणि

२. किंवा अनन्तो मोक्षः एव पारमुत्कृष्टं फलं यस्यायुर्वेदस्यासावनन्तपारः ।
—च० सं० सू० १।२५ चक्रपाणि की टीका

३. धर्मस्यार्थस्य कामस्य नृलोकस्योभयस्य च ।
दाता सम्पद्यते वैद्यो दानाद्देहसुखायुषाम् ॥—च० सं० सू० १६।३८

४. धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं साधनं यतः । अतस्त्वारोग्यदानेन नरो भवति सर्वदः ।
—न० पुराण

५. उक्तं चिकित्सा तु नैष्ठिकी या विनोपधाम् ।—च० सं० शा० १।९४

६. भावदोष उपधा, अदोषोऽनुपधा ।—वैशे० ६।२।४

के कारण किसी कार्य का आरम्भ नहीं करते। कार्यों के आरम्भ के अभाव से तथा इसके कारण ही शरीर का संयोग न होने से आत्मा दुःख को प्राप्त नहीं होती—

उपधा हि परो हेतुर्दुःखदुःखाश्रयप्रदः। त्यागः सर्वोपधानां च सर्वदुःखव्पोहकः।
कोषकारो यथा ह्यंशूनुपादत्ते वधप्रदान्। उपादत्ते तथाऽर्थेभ्यतृष्णायज्ञः सदातुरः।
यस्त्वग्निकल्पानर्थान् यो ज्ञात्वा तेभ्यो निवर्तते। अनारम्भादसंयोगात्तं दुःखं नोपतिष्ठते।
—च० सं० शा० १।९५-९७

अल्पज्ञ पुरुष विषयों से तृष्णा को ग्रहण करता है एवं दुःखी होता रहता है। उपधारहित नैष्ठिकी चिकित्सा के द्वारा दुःखों की आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत्ति सम्भव है। केवल यह निवृत्ति ही उपरम या सुखरूप है।[1] मनुष्य के दुःख का कारण उसकी प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति का स्वरूप जानने की इच्छा वाले अग्निवेश से भगवान् आत्रेय ने कहा—प्रवृत्ति का कारण मोह, इच्छा तथा द्वेषजन्य कर्म होते हैं। उस प्रवृत्ति से अहंकार, संग, संशय, अभिसम्प्लव (परस्पर विरुद्ध), अभ्यवपात (मिथ्या ज्ञान), विप्रत्यय (विपरीत ज्ञान), अविशेष (साम्यता) अनुपाय (याज्ञिक कर्म) उत्पन्न होते हैं। ये पुरुष को उसी प्रकार व्याप्त कर बढ़ते हैं जिस प्रकार छोटे वृक्ष को बड़ी शाखा वाले वृक्ष दबाकर ऊपर बढ़ते हैं तथा दबे हुए छोटे वृक्ष की सत्ता ही समाप्त हो जाती है। उसी प्रकार इन अहंकार आदि से पराभूत पुरुष प्रवृत्ति या प्रवृत्तिमूलक सत्ता का अतिक्रमण नहीं कर पाता। यह पुरुष बुद्धि, धैर्य, स्मरण शक्ति से शून्य होकर अहंकार में लिप्त, संग तथा संशय से युक्त, अभिसंप्लुत, ममता-युक्त, विपरीत बुद्धि से युक्त ज्ञानी तथा अज्ञानी मित्रता न समझने वाला, विमार्ग में गमन करने वाला पुरुष, सत्व (मन) तथा शरीर के दोषों के कारणों का निवास वृक्ष बन कर सभी दुःखों का मूल कारण बनता है। इस प्रकार अहंकारादि दोषों[2] से युक्त होकर संसार में जन्म-मरण के चक्र में पड़कर प्रवृत्ति मार्ग का अतिक्रमण नहीं कर पाता, अतः बार-बार जन्म तथा मृत्यु स्वरूप बन्धन से युक्त होकर संसार में विचरा करता है। यह प्रवृत्ति सभी पापों (दुःखों) का मूल होती है। निवृत्ति मार्ग को अपवर्ग कहते हैं, वह अपवर्ग सर्वश्रेष्ठ और अत्यन्त शान्त, अविनाशी एवं ब्रह्मस्वरूप है उसे मोक्ष कहते हैं।[3]

---

१. निवृत्तिरपवर्गः।—च० सं० ५।१०
२. अहंकारो विषमिदं शरीरे वर्तते नृणाम्।—स्कन्द पु० काशी खण्ड-२२
३. भगवानुवाच—मोहेच्छाद्वेषकर्ममूला प्रवृत्तिः। लज्जाह्यहङ्कारसंगसंशयाभि-संप्लवाभ्यवपातविप्रत्ययाविशेषानुपायास्तरुणमिव द्रुममतिविपुलशाखास्तखो-

इस निवृत्ति मार्ग में मुमुक्ष पुरुष किस प्रकार से मोक्ष प्राप्त कर सकता है? इसका उपाय बताते हुए चरकसंहिताकार कहते हैं—"यह संसार दुःखमय है। ऐसे लोक में रहने को दोषस्वरूप देखने वाला एवं मोक्ष की इच्छा रखने वाला पुरुष, सर्वप्रथम आचार्य (गुरु) के पास जाय, जिस प्रकार गुरु उपदेश करें उसे उसी रूप में पालन करे, अग्नि की सेवा करे अर्थात् सायं प्रातः अग्निहोत्र करे। धर्मशास्त्र में बताये हुए कर्म एवं मार्गों का अनुसरण करे। धर्मशास्त्र के अर्थों का ज्ञान करे एवं तदनुसार अपने चित्त को स्थिर करें एवं धर्मशास्त्रोक्त क्रियाओं का पालन करे, सत्पुरुषों की सेवा करें तथा उनके पास बैठे, असज्जन पुरुषों को छोड़ दें, दुर्जन पुरुषों का साथ न करे, प्राणिमात्र के हितकर, कोमल, यथासमय परीक्षा कर सत्य बोले, प्राणिमात्र को अपने समान देखे, सभी स्त्रियों का स्मरण, संकल्प, प्रार्थना तथा उनके साथ बार्तालाप का त्याग करे, सभी परिग्रह (बन्धन लाने वाली वस्तुओं) का त्याग, शरीर ढँकने मात्र के लिए कौपीन धारण करना, गेरुए वस्त्र धारण करना, कथरी सीने के लिए सुई एवं पिप्पलक (सुई धारण करने के लिए पात्र विशेष) रखना, शौच के लिए जलकुण्डिका (कमण्डलु) तथा आधान (चलते समय लड़खड़ाकर गिरते समय उससे बचाव) के लिए दण्ड धारण करना, भिक्षा माँगने के लिए पात्र धारण करना, प्राण रक्षार्थ एक समय अग्राम्य (कन्दमूल फलादि) का भोजन करना, थकावट दूर करने के लिए सूखे पत्तें एवं तिनकों का बिछौना एवं तकिया का सहारा लेना, ध्यान के लिए योगासन लगाना, जंगलों में बिना घर के निवास करना, तन्द्रा, निद्रा तथा आलस्योत्पादक कर्मों का त्याग करना, सभी इन्द्रियों के प्रिय विषयों में अनुराग तथा अप्रिय विषयों में उपताप (दुःख) इन दोनों का निग्रह करना, सोने, बैठने, चलने, देखने, भोजन करने तथा प्रत्यंग की चेष्टा के प्रारम्भ में हित-अहित का स्मरण कर प्रवृत्ति होना, सत्कार, प्रशंसा, निन्दा तथा अपमान को सहना अर्थात् इनमें समभाव रखना, भूख प्यास, परिश्रम, थकावट, शीत उष्ण, हवा (आँधी), वर्षा और सुखकर एवं दुःखकर स्पर्श को सहना, शोक, दीनता, मान, उद्वेग, मद, लोभ, राग, ईर्ष्या,

---

मिभूय पुरुषमवतत्यैवोत्तिष्ठन्ते; यैरभिभूतो न सत्तामतिवर्तते। एवमयमधीधृतिस्मृतिरहङ्काराभिनिविष्टः सक्तः संशयोऽभिसंप्लुतबुद्धिरभ्यवपतितोऽन्यथादृष्टिरविशेषग्राहीं विमार्गगतिर्निवासवृक्षः सत्वशरीरदोषमूलानां सर्वदुःखानां भवति। एवमहङ्कादिर्मिदोषैर्भ्राम्यमाणो नातिवर्तते प्रवृत्ति, सा च मूलमघस्य। निवृत्तिरपवर्ग, तत् परं प्रशान्तं तदक्षरं तद्ब्रह्म स मोक्षः।

—च० सं० शा० ५।१०-११

५

भय, क्रोध आदि से विचलित न होना, अहंकार, संग, संशय आदि को उपद्रव समझना, संसार एव पुरुष के सृष्टि आदि कार्यों में समान बुद्धि रखना, कार्य के उचित समय बीतने में भयभीत होना, योगाभ्यास के आरम्भ करते समय सदा शारीरिक एवं मानसिक चिन्ताओं से रहित होना, मन में उत्साह रहना, मोक्ष प्राप्ति के लिए बुद्धि-धैर्य-स्मरणशक्ति के बल को अपने शरीर में संचित रखना, चित्त में इन्द्रियों का तथा आत्मा में मन का नियमन करना, धातु भेद से आत्मा के शरीरावयवों का ज्ञान रखना, सभी कारणों से उत्पन्न होने वाले उत्पत्तिधर्मा पदार्थ दुःखदायी, तत्वहीन एवं अनित्य हैं यह बार-बार स्वीकारना, सभी प्रकार के प्रवृत्ति मार्ग का नाम दुःख है तथा सर्वसन्यास में ही यथार्थ सुख है,[1] ऐसे उपयुक्त विभिन्न तथ्यों का ज्ञान रखना, यही मोक्ष का मार्ग है इन बताये हुए नियमों के विपरीत चलने पर मनुष्य बन्धन को प्राप्त होता है ।[2]

किसी भी व्यक्ति को मोक्षोपरान्त चित्त की स्थिति बताते हुए पुनः भगवान् आत्रेय कहते हैं—इन ऊपर बताये हुए शुद्धि के उपायों (मोक्षसाधक) द्वारा रज तथा तम से रहित होकर मन वैसे ही शुद्ध हो जाता है जैसे तेल, कपड़े के तथा बाल के

---

१. सर्वसन्यासः सुखानाम् ।—च० सू० २५।४०

२. तत्रलोकदोषदर्शिनो मुमुक्षोरादित एवाचार्याभिगमनं, तस्योपदेशानुष्ठानम्, अग्नेरेवोपचर्या, धर्मशास्त्रानुगमनं, तदर्थावबोधः, तेनावष्टम्भः तत्र यथोक्ताः क्रियाः, सतामुपासनम्, असतां परिवर्जनम्, असङ्गतिदुर्जनेन, सत्यं सर्वभूतहितमपरुषमनतिकाले परीक्ष्य वचनं, सर्वप्राणिषु चात्यनीवावेक्षा, सर्वासामस्मरणसंकल्पनमप्रार्थनमभिभाषणं च स्त्रीणां, सर्वपरिग्रहत्यागः, कौपीनं प्रच्छादनार्थं, धातुरागनिवसन, कन्थासीवनहेतोः सूचीपिप्पलकं, शौचाधानहेतोजलकुण्डिका, दण्डधारणं, भैक्षचर्यार्थं पात्रं, प्राणधारणार्थएककालमग्राम्योयथोपपन्नोऽभ्यवहारः, श्रमापनयार्थः शीर्णशुष्कपर्णतृणास्तरणोपधानं, ध्यानहेतोः कायनिबन्धनं वनेष्वनिकेतवासः तन्द्रानिद्रालस्यादिकर्मवर्जनं, इन्द्रियार्थेष्वनुरागोपतापनिग्रहः, सुप्तस्थितगतप्रेक्षिताहारविहारप्रत्यंगचेष्टादिकेष्वारम्भेषु स्मृतिपूर्विका प्रवृत्तिः, सत्कारस्तुतिगर्हावमानक्षमत्वं, क्षुत्पिपासायासश्रमशीतोष्णवातवर्षासुखदुःखसंस्पर्शसहत्वं, शोकदैन्यमानोद्वेगमदलोभरागेर्ष्याभियक्रोधादिभिरसंचलनम्, अहङ्कारादिषूपसर्गसंज्ञा, लोकपुरुषयोः सर्गादिसामान्यावेक्षणं, कार्यकालात्ययभयं, योगारम्भे सततमनिर्वेदः, सत्वोत्साहः, अपवर्गाय धीधृतिस्मृतिबलाधानं, नियमनमिन्द्रियाणाँ चेतसि, चेतस आत्मनि, आत्मनश्च, धातुभेदेन शरीरावयवसंख्यानमभीक्ष्णं, सर्वकारणवद्दुःखमस्वमनित्यमित्यभ्युपगमः, सर्वप्रवृत्तिष्वघसंज्ञा, सर्वसंन्यासे सुखमित्यभिनिवेशः, एष मार्गोऽपवर्गाय, अतोऽन्यथा वध्यते ।—च० सं० शा० ५।१२

बने हुए ब्रश से मलने पर दर्पण पूर्ण साफ हो जाता है। सूर्यादि ग्रह, मेघ, धूलि, धूम कुहरा आदि से न ढँका हुआ सूर्यमण्डल जिस प्रकार चमकता है, ठीक उसी प्रकार वह निर्मल सत्व (मन) चमकता रहता है।[1] वह शुद्ध मन आत्मा से रुद्ध होने के कारण उस प्रकार प्रकाशित होता है जिस प्रकार दीपक की ज्वाला दीपाशय में प्रकाशित होती है। शुद्ध मन वाले पुरुष में जो सत्या बुद्धि उत्पन्न होती है, जिस सत्या बुद्धि से अतिवलिष्ठ भयंकर मोहस्वरूप तम को भेदन करने में मनुष्य समर्थ होता है, जिसके द्वारा सभी उत्पत्तिधर्माभावों के स्वभाव जानकर मनुष्य निस्पृह हो जाता है, तथा योग की उत्पत्ति होती है जिससे सांख्य (तत्वज्ञाता) हो जाता है, जिस बुद्धि के प्राप्त हो जाने पर अहंकार नहीं होता, जिससे (अनात्म पदार्थों की) उपासना नहीं करता, जिससे किसी (रागद्वेषादि) का आलम्बन नहीं लेता, जिससे सभी वस्तुओं का त्याग दिया जाता है, जिससे नित्य, अजर, शान्त तथा अक्षर ब्रह्म को प्राप्त किया जाता है उस सत्याबुद्धि को ही विद्या, सिद्धि, यति, मेधा, प्रज्ञा तथा ज्ञान कहा जाता है। (जिससे) लोक में स्वयं को और स्वयं में लोक को व्याप्त देखते हुए ब्रह्म और महदादि प्रकृति को समझने वाले तत्वदर्शी पुरुष की ज्ञानजन्य शक्ति कभी भी नष्ट नहीं होती तथा सर्वदा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में सब लोक एवं शरीरगत भावों को तुल्य रूप में देखते हुए जीवन्मुक्त शुद्ध पुरुष का धर्म (सुख), अधर्म (दुःख) से संयोग नहीं होता। करण (शरीरादि इन्द्रियों) का अभाव होने से आत्मा का चिह्न भी नहीं पाया जाता। तब पुरुष सभी करण आदि का त्याग कर देने से मुक्त कहा जाता है। विपाप, विरज, शान्त, पर, अक्षर, अव्यय, अमृत, ब्रह्म, निर्वाण तथा शान्ति—ये मोक्ष के पर्याय कहे जाते हैं। सौम्य यह वह शरीर विचय नामक विज्ञान है जिसे जानकार संदेह रहित मुनिगण मोह और रज से पृथक् होकर शान्ति (मोक्ष) को प्राप्त कर गये।''[2]

---

१. वागभट्ट कहते हैं—'मन बुद्धि आदि प्रणीत हितोपदेश करने वाले शास्त्रों में और भी कोई मार्ग हो तो उसको भी ग्रहण करे। इस प्रकार करने से मनुष्य सब प्राणियों के लिए हित करने वाले जीवन को प्राप्त कर बड़े-बड़े सद्गुणों के समूह से प्रख्यात होता है, देवता उसकी रक्षा करते हैं, सौ वर्षों से भी अधिक वह जीता है सुखी तथा पुण्यकर्मा होकर वह सन्मार्गगामी तथा नम्र होता है। देह का नाश हो जाने पर भी वह मोक्ष को प्राप्त होता है।—अ० सं० सू० ४

२. एतैरविमलं सत्वं शुद्धयुपायैर्विशुध्यति। मृज्यमान इवादर्शस्तैलचेलकचादिभिः। ग्रहाम्बुदरजोधूमनीहारैरसमावृतम्। यथाऽर्कमण्डलं भाति-भाति सत्वं तथाऽमलम्। ज्वलत्यात्मनि संरुद्धं तत् सत्वं संवृतायने। शुद्धः स्थिरः प्रसन्नार्चिदीपो दीपाशे यथा।

इस प्रकार जिस विज्ञान में मोक्ष तथा मोक्ष के उपायों का इतना सविस्तार एवं स्पष्ट वर्णन मिलता है उसको केवल लौकिक अभ्युदय का ही उपाय समझने की स्थिति न केवल अज्ञानमूलक है अपितु उस विज्ञान के साथ अन्याय भी करना है ।

फिर भी ऐसे परम् दार्शनिक एवं वैज्ञानिक चिकित्सा विज्ञान में कुछ अल्पज्ञ व्यक्ति यह कीचड़ उछालने का प्रयत्न करेंगे कि जो शास्त्र रसायन एवं वाजीकरण जैसे उपायों का वर्णन करते हैं उनको मोक्षपरक कहाँ तक माना जा सकता है ? इसका कारण यह है कि वे आयुर्वेद की दृष्टि से परिचित नहीं हैं । वाग्भट्ट कहते हैं—"प्रशस्त रस रक्त आदि धातुओं की प्राप्ति के उपाय का नाम रसायन है । रसायन का सेवन करने से दीर्घ आयु की, स्मरण शक्ति का, मेधा की, स्वास्थ्य की, वयस् की, प्रभाव की, वर्ण को, स्वर की, उदारता को, शरीर पुष्टि की, इंद्रिय शक्ति की, बल वृद्धि, वाक्सिद्धि की वृषत्व एवं कांति प्राप्ति होती है ।"[1] इससे यह स्पष्ट है कि रसायनों के प्रयोग द्वारा आयुवृद्धि धर्मार्थ ही उपदिष्ट है । इसलिए दूषित चित्त वाला व्यक्ति इन रसायनों के प्रयोग से वर्जित है । अष्टांगहृदयकार कहते हैं–'ब्रह्मचारी, धीर गम्भीर, श्रद्धालु, जितेन्द्रिय, दानशील, दया, सत्य तथा धर्मपरायण रहकर इष्ट देवताओं का स्मरण करता हुआ, औषध का आदर करता हुआ तथा मधुर वाणी का

शुद्धसत्वस्य या शुद्धा सत्या बुद्धि प्रवर्तते । यथाभिनत्यतिबलं महामोहमयं तमः । सर्वभावस्वभावज्ञो यया भवति निःस्पृह । योगं यया साधयते सांख्यः संपद्यते यया । ययानोपैत्यहङ्कारं नोपास्ते कारणं यया । यया नालम्बते किंचित सर्वं संन्यस्यते यया ।

याति ब्रह्म यया नित्यमजरं शान्तमव्ययम् ।
विद्यासिद्धिर्मतिमेधा प्रज्ञा ज्ञानं च सा मता ।।

लोके विततात्मनं लोकं चात्मनि पश्यतः । परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति । पश्यतः सर्वभावान् हि सर्वावस्थासु सर्वदा । ब्रह्मभूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपपद्यते । नात्मनः करणाभावाल्लिङ्गमप्युपलभ्यते । स सर्वकरणान्योमान्मुक्त इत्यभिधीयते । विपापं विरजः शान्तं परमक्षरमव्ययम् । अमृतं ब्रह्म निर्वाणं पर्यायैः शांतिरुच्यते । एतत्तत् सौम्य ! विज्ञानं यज्ज्ञात्वा मुक्तसंशया । मुनयः प्रशमं जग्मुर्वीतमोहरजः स्पृहा ।—च० सं० शा० ५।१३-२४

१. लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् । दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः । प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रिय बलोदयम् वाक्सिद्धिं वृषतां कान्तिमवाप्नोति रसायनात् ।—अं० हृ० उ० ३९।१-२

प्रयोग करता हुआ रसायन सेवन प्रारम्भ करें ।[1] इन रसायनों का प्रयोग प्राचीन काल में ब्रह्म प्राप्ति के लिए करते थे । ब्राह्म रसायन[2] के बारे में महर्षि आत्रेय कहते हैं—"प्राचीन काल में बालखिल्य वानप्रस्थ एवं अन्य तपस्वी लोगों ने इसका उपयोग करके अमित आयु प्राप्त की थी । उन्होंने जीर्ण शरीर को बदले में युवावस्था पायी थी । इसके उपयोग से वे श्रमजनित थकान, तन्द्रा तथा श्वांस से रहित नीरोग होकर मेधा स्मृति तथा बल से युक्त होकर मन को एकाग्र करके अत्यन्त निष्ठा के साथ दीर्घ काल तक ब्राह्म तप तथा ब्रह्मचर्य का आचरण करते थे ।"[3]

इन रसायनों का उपयोग सद्गुणों की प्राप्ति कराना ही था । वाग्भट्ट की यह मान्यता है, जो व्यक्ति सद्गुणों से युक्त हो, वह मानों प्रतिदिन रसायन का सेवन करता है भले ही वह किसी रसायन योग का किसी काल में उपयोग न किए हुए हों । उनका कथन द्रष्टव्य है—"जो मनुष्य सत्य का भाषण करता है, क्रोध नहीं करता, जिसकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुख रहतीं हैं (अर्थात बहिर्मुख नहीं हैं), जो अध्यात्म में प्रवीण हो, जो शान्त प्रकृति का हो तथा (आयुर्वेदसम्मत) सद्वृत्त का पालन करता हो, उसे नित्य (आचार) रसायन समझना चाहिए ।"[4] इन रसायनों का उपयोग कामेन्द्रिय-सुखप्राप्ति में नहीं अपितु बलयुक्त होकर मोक्ष की प्राप्त करना है । महर्षि आत्रेय कहते हैं—"जो पुरुष रसायन का विधि सहित सेवन करता है, वह न केवल इस लोक में दीर्घ आयु प्राप्त करता है, अपितु परलोक में भी वह देवर्षिसेवित शुभ गति को

---

१. ब्रह्मचारी धृतियुतः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः । दानशीलदयासत्यव्रतधर्मपरायण देवतास्मृतियुतः ।
युक्तस्वप्नप्रजागरः । प्रियौषधः पेशलवाक् प्रारभेत् रसायनम् ।
—अ० हृ० उ० ३९।९-१०

२. ब्रह्म से साक्षात्कार करने वाला रसायन ही ब्राह्म रसायन है ।

३. वैखानसाः बालखिल्यास्तथा चान्ये तपोधनाः ।
रसायनमिदं प्राश्य बभुवुरमितायुषः ।
मुक्त्वा जीर्णं वपुश्च,
वीततन्द्राक्लमश्वासा निरातङ्कासमाहिताः ।
मेधास्मृतिबलोपेताश्चिररात्रं तपोधनाः ।
ब्राह्म तपो ब्रह्मचर्यं ।—च० सं० चि० १।५४-५६

४. सत्यवादिनमक्रोधमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम् । शान्तं सद्वृत्तनिरतं विद्यान्नित्य रसायनं ।
—अ० हृ० उ० ४०।१८०

प्राप्त करता हुआ अक्षय ब्रह्म को प्राप्त करता है।"[१] रसायन का सेवन करके शक्ति-सम्पन्न हुआ अजितेन्द्रिय एवं पापकर्मा व्यक्ति मोक्षमार्ग की ओर प्रवृत्त न होकर गर्हित आचरण करेगा इसलिए सुश्रुतसंहिताकार ने सात प्रकार के व्यक्तियों को रसायन द्वारा आयु-वृद्धि के लिए मना कर दिया है। उनका आदेश है—"अजितेन्द्रिय, आलसी, दरिद्र, प्रमादी, व्यसनी, पापकर्म करने वाले, औषध का अपमान करने वाला पुरुष (आयुर्वेदोक्त) रसायनों का उपयोग न करें।"[२]

इसी प्रकार चिकित्सा ग्रन्थों में वर्णित वाजीकरण के विषय में सामान्य जन यह शंका कर सकता है कि वाजीकरण का उपयोग केवल कामेन्द्रिय सुख के लिए ही है, क्योंकि आयुर्वेद के अनुसार ही तो वाजीकरण वह विधि है जिसके अभ्यास से निरन्तर सेवन करने पर घोड़े के समान अतिशय वेगवान बनकर मनुष्य स्त्री को संतुष्ट कर सकता है।[३] परन्तु यह तर्क निराधार है क्योंकि महर्षि वाग्भट्ट का कथन है कि नर-नारी का संसर्ग केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए होना चाहिए अर्थात् कामवासना की पूर्ति मात्र के लिए नहीं।[४] वाजीकरण का प्रयोग कामवासना की पूर्ति के लिए न करें। इसीलिए भगवान् आत्रेय ने आदेश किया कि वे ही लोग वाजीकरण के अधिकारी हैं जो आत्मवान् हैं। अन्यथा दूषित चित्त वाला मनुष्य वाजीकरण के उपयोग से शुक्रादि धातुओं में वृद्धि होने पर अगम्यागमन भी कर सकता है।

हमने ऊपर की पंक्तियों में संकेत किया है कि आयुर्वेद में वाजीकरण का उपयोग केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही अभीष्ट है, रति के लिए नहीं। महर्षि व्यास का आदेश है कि मैथुन प्रजा के निमित्त से है, रति के लिए नहीं। अज्ञानविमूढ़ व्यक्ति अपने धर्म को नहीं पहचानते।[५] जो लोग पुत्रोत्पादन में असमर्थ हो चुके हैं वे वाजीकरण योगों का प्रयोग करके पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ हो सकते हैं। चक्रपाणि

---

१. न केवलं दीर्घमिहायुश्नुते रसायनं यो विधिवन्निषेवते।
गतिं स देवर्षिनिषेवितां शुभां प्रपद्यते ब्रह्म तथेति चाक्षयम्॥
—च० सं० चि० १।१।८०

२. अथ खलु सप्त पुरुषाः रसायनं नोपयुंजीरन् तद्यथा-अनात्मवानलसो दरिद्रः प्रमादी व्यसनी पापकृत्।—सु० सं० चि० ३०।४

३. सेवमानो यदौचित्यादवाजीवत्यर्थवेगवान्। नारीस्तर्पयते तेन वाजीकरणमुच्यते।
—सु० सं० चि० २६।६

४. सन्तो ह्याहुरपत्यार्थं दम्पत्योः संगतिः रहः।—अ० हृ० शा० १।३०

५. एवं व्यवायः प्रजया न रत्या इमं विशुद्ध न विदुः स्वधर्मम्।
—श्रीमद्भागवत् ११।५।११,१३

कहते हैं कि वृष्य प्रयोग से उत्पन्न हुआ पुत्र पिता के लिए धर्मादि का सम्पादन करता है।[1] वाग्भट्ट कहते हैं—सन्तान को देखने एवं स्पर्श से जो सुख मिलता है उसकी उपमा संसार के किस पदार्थ से दी जा सकती है ? और जब वह सन्तान बड़ी होकर यश, धर्म, सम्मान, लक्ष्मी एवं कुल की वृद्धि करती है तब तो कहना ही क्या ?[2] इसलिए यह वाजीकरण धर्मार्थ ही उपदिष्ट है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति में तीनों ऋणों का चुकाना परमावश्यक था। ऋणों का सिद्धान्त चिकित्सा विज्ञान को भी मान्य है क्योंकि सुश्रुताचार्य का कहना है, "सन्तानोत्पत्ति से माता-पिता पितृ ऋण से मुक्त होते थे।[3] ऋण से मुक्त हुए बिना मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति में अधिकारी नहीं। महाभाष्यकार का कहना है—बिना तीनों ऋणों से मुक्त हुए व्यक्ति मोक्ष के लिए प्रयत्न ही नहीं कर सकता। अन्यथा अधोगति को प्राप्त होगा।[4] जिसमें पितृ ऋण से मुक्ति सन्तानोत्पादन से ही मिल सकती थी। प्राचीन भारत में सन्तानहीन व्यक्ति की बहुत निन्दा एवं बहुप्रज व्यक्ति की प्रशंसा की जाती थी।

चरकसंहिताकार का कथन है—"जिसको सन्तान नहीं होती वह भित्ति लिखित दीपक की तरह, सूखे तालाब की तरह, खोटे सुवर्ण की तरह तथा घास की तरह का माना जाता है क्योंकि उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं होती, वह नंगा शून्य तथा एकाकी होता है तथा क्रिया-हीन होता है। इसके विपरीत जिसके बहुत सन्तान होती है वह अनेक मूर्तियों वाला, अनेक मुखों वाला, अनेक व्यूहों वाला, अनेक क्रियाओं वाला, अनेक नेत्रों वाला, अनेक ज्ञानों वाला, आत्माओं वाला, माङ्गलिक, प्रशंसनीय, धन्य, वीर्यवान्, अनेक शाखाओं वाला समझकर स्तुति का पात्र होता है क्योंकि प्रीति, बल, सुख, वृत्ति, विस्तार, ऐश्वर्य, कुल तथा स्वर्ग-लाभ सन्तान से ही प्राप्त कर

---

१. वृष्यप्रयोगजनितः पुत्रो धर्मादीन् पितुः सम्पादयतीत्यर्थः।
—च० सू० चि० २।१।३।४ पर चक्रपाणि

२. अपत्यं तुल्यता केन दर्शनस्पर्शादिषु। किं पुनयद्यशोधर्ममानश्रीकुलवर्धनम्।
—अ० हृ० ३।४०।११

३. एवं जाता रूपवन्तो महासत्वाश्चिरायुषः
भवन्त्यृणस्य मोक्तारः सत्पुत्राः पुत्रिणेहिताः।—सु० शा० २।३४

४. ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनोमोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षस्तु सेवमानो व्रजत्यधः॥—महाभारत

सकते हैं। अतः सन्तान से उपलब्ध होने वाले प्रीति आदि गुणों तथा कामजनित सुखों को चाहने वाला सदैव वाजीकरण का सेवन करे।''[१]

इतना विस्तृत विवेचन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकला कि संस्कृत के चिकित्सा शास्त्रों में वर्णित रसायन एवं वाजीकरण योग कामेन्द्रिय सुख के उपाय नहीं अपितु धर्म तथा मोक्ष का प्रतिपादन करने वाले हैं।

इस प्रकार अब तक इस आलोडन से यह निर्विवाद रूप सिद्ध है कि प्राचीन भारतीय चिकित्सा विज्ञान जहाँ एक ओर प्रारम्भ में धर्म, अर्थ तथा काम की उपलब्धि कराता है वहीं दूसरी ओर अन्त में मोक्ष के उपायों को बताते हुए मोक्ष प्राप्त करने के लिए लोगों को प्रेरित करता है। अन्य शब्दों में यदि हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि चिकित्सा विज्ञान का पर्यवसान मोक्ष में ही होता है। अतः चिकित्सा-विज्ञान एक मोक्षपरक विज्ञान है।

---

१. चित्रदीपः सरः शुष्कमधातु धातुसन्निभः।
निष्प्रज तृणपूलीति ज्ञातव्या पुरुषाकृतिः॥
अप्रतिष्ठश्च नग्नश्च शून्यश्चैकेन्द्रियश्च नरः॥
मन्तव्यो निष्क्रियश्चैव यस्याऽपत्यं न विद्यते।
बहुमूर्तिर्बहुमुखो बहुव्यूहो बहुक्रियः॥
बहुचक्षुर्बहुज्ञानो बह्वात्मा च बहुप्रजाः।
मङ्गल्योऽयं प्रशस्योऽयं धन्योऽयम् वीर्यवान् अयम्॥
बहुशाखोऽयमिति च स्तूयते ना बहुप्रजः।
प्रीतिर्बलं सुखं वृत्तिर्विस्तारो विभवं कुलम्।
यशोलोकाः सुखोदर्कास्तुष्टिश्चापत्यसंश्रितान्॥
वाजीकरण नित्यः स्यादिच्छेत् कामसुखानि च।—च॰चि॰ २।१६-२२

प्रमाण निरूपण

भारतीय दर्शन साहित्य में ज्ञान के अन्तर्गत यथार्थ एवं अयथार्थ दोनों प्रकार के ज्ञान सम्मिलित हैं। अर्थ विषयक यथार्थ ज्ञान को ही प्रमा कहा जाता है। जैसे रजत को देखकर, रजत का ज्ञान होना, रजत रूप अर्थ की यथार्थ प्रतीति है। किन्तु इसके विपरीत शुक्ति को रजत समझना अयथार्थ ज्ञान है। यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इस सत्यता को परखने के लिए कसौटी क्या है? अथवा सत्य का बोध कराने के लिए साधन क्या है? अर्थ विषयक यथार्थ ज्ञान, साधन के अभाव में हो ही नहीं सकता। जैसे, नेत्रों को बन्द कर लेने पर प्रमाता सामने उपस्थित पुस्तक आदि किसी विषय का ज्ञान उपलब्ध नहीं कर पाता। प्रमाता को जिन साधनों द्वारा विषय की यथार्थ प्रतीति होती है, उन्हें दार्शनिक शब्दावली में प्रमाण कहा जाता है। कहा भी है—"मानाधीना मेयसिद्धिर्मानासिद्धिश्च लक्षणात्"[1] अर्थात् प्रमाणों के प्रमेय की व्यवस्था और प्रमाणों की व्यवस्था उनके लक्षणों पर अवलम्बित होती है।

प्रमाण शब्द का अर्थ

व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रत्येक शब्द की सिद्धि छः कारकों तथा भाव साधन द्वारा होती है। सिद्धर्षिगणि[2] के अनुसार प्रमाण शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ 'कर्त्ता कारक' में आत्मा, 'कर्म कारक' में अर्थ, 'करण कारक' में साधन, 'सम्प्रदान कारक' में अर्थ क्रिया, 'अपादान कारक' में कारणसमूह, अधिकरण कारक में क्षयोपशम एवं भाव में फल रूप प्रमिति का परिचायक है। प्रकृत में तृतीय करण कारक प्रमाण रूप साधन एवं भाव में प्रमिति रूप फल ही इष्ट है। प्रमाण निरूपण में यही दोनों उपादेय है। प्र+मान इन दोनों शब्दों के योग से ही प्रमाण शब्द बना है, जिसका अर्थ है यथार्थ ज्ञान। 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'मा' धातु में 'ल्युट' प्रत्यय करने पर 'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार साधन अर्थ में प्रमाण गृहीत होता है।

करण अर्थ को लेकर ही सर्वसाधारण प्रमाण लक्षण-प्रमाकरणं प्रमाणम्'[3]

---

१. तत्वप्रदीपिका, श्लो० १८, पृ० ३५६

२. न्या० व० टी०, पृष्ठ १५-१६

३. त० भा० पृ० १३, वे० प० पृष्ठ ८, त० सं०, न्याय, सि० मु०। प्रमाण की परिभाषा अन्य ग्रन्थों में भी प्राप्त होती है।
तत्वानुभवः प्रमा। प्रमायोगव्यवच्छिन्नं प्रमाणम्।—स० प० १४०, १४४

का प्रादुर्भाव हुआ जान पड़ता है। जो प्रमा साधन हो, उसे प्रमाण कहा जाता है। इस लक्षण में 'प्रमा' तथा 'करण' ये दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। प्रमा की व्याख्या पूर्व में की जा चुकी है फिर भी यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि प्रमाण-सामान्य का यह सर्वसामान्य लक्षण होते हुए भी विभिन्न दर्शन ग्रन्थों में प्रमाण के अनेक लक्षणों का आविर्भाव क्यों हुआ ? इसका समाधान यह है कि यद्यपि प्रमा को यथार्थ ज्ञान मानने में कहीं भी विप्रतिपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती, तथापि यथार्थ ज्ञान की व्याख्या सभी दार्शनिकों ने अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में की है। अतः प्रमा के स्वरूप की विशिष्टता को ध्यान में रखते हुए प्रमाण के अनेक लक्षण दार्शनिकों द्वारा व्यक्त किये गये हैं।

'करण' शब्द की व्याख्या करते हुए महर्षि पाणिनि ने कहा है—'साधकतमम् करणम्'[1] अर्थात् क्रिया की सिद्धि में जो सबसे प्रकृष्ट उपकारक अथवा सर्वाधिक सहायक कारक होता है उसे करण कहा जाता है। जैसे हरिण को वेधकर मारने में धनुष, बाण, प्रत्यञ्चा, शिकारी के हाथ आदि सब सहायक उपकरण हैं, अतः सभी साधन या साधक कहे जा सकते हैं। किन्तु इनमें से अतिशय साधक अर्थात् चरम साधन बाण ही है, क्योंकि धनुष-प्रत्यञ्चा आदि साधन क्रिया के उपकारक होते हुए भी दूरवर्ती कारण है। इनमें तथा क्रिया के फल 'वेधन' में अन्तराल या व्यवधान है, इसलिए इन्हें साधक होते हुए भी, साधकतम नहीं कहा जा सकता। साधकतम उसे कहते हैं, जो क्रिया का प्रकृष्टोपकारक अर्थात् सबसे अधिक समीपवर्ती हो, जिसका व्यापार होते ही क्रिया के फल की निष्पत्ति हो जाये तथा बीच में किसी वस्तु का व्यवधान नहीं हो। उक्त उदाहरण में बाण लगने पर हरिण की मृत्यु हो जाती है; बीच में कोई व्यवधान नहीं रहता है।

प्रकारान्तर से करण की व्याख्या इस प्रकार भी की जाती है—'व्यापारवद-साधारणं कारणं करणम्'[2] एवं फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणं।'[3] प्रथम व्याख्या के अनुसार व्यापार वाले असाधारण कारण को करण कहा जाता है। दूसरी व्याख्या के अनुसार, जो कारण, फल के अयोग से शून्य हो, उसको करण कहते हैं। सूत्रकारों

उपलब्धसाधनानि प्रमाणानीति समाख्यानिर्वचन सामर्थ्यात् बोद्धव्यम्। प्रमीय-तेऽनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाण शब्दः।—न्याय॰ भा॰, पृष्ठ ६१, पृष्ठ २४

१. अष्टाध्यायी १।४।४२

२. न्यायकु॰ वो॰, पृ॰ २५

३. सां॰ प्र॰ भा॰, पृ॰ ४७

में केवल महर्षि कपिल[१] ने ही स्पष्ट रूप से पाणिनि के सूत्र को प्रमा करण की व्याख्या में प्रस्तुत किया है। वात्स्यायन दोनों लक्षणों से परिचित जान पड़ते हैं।[२] उद्योतकर ने करण की व्याख्या में साधकतम करण को ही अतिशय कारण बतलाया है।[३] वाचस्पति मिश्र ने दोनों लक्षणों की व्याख्या की है। दोनों लक्षणों में साधकतम कारण से ही क्रिया की निष्पत्ति होती है।[४] चरक संहिता के व्याख्याकार चक्रपाणि का कथन है कि कर्त्ता के अधीन व्यापार में साधकतम की करण संज्ञा होती है।[५]

आयुर्वेद में धातु साम्यक्रिया की निष्पत्ति में प्रकृष्ट उपकारक होने से भेषज का साधकतम करण रूप में वर्णन है।[६] कार्य की समाप्ति में प्रयत्नशील कर्त्ता को उस कार्य की समाप्ति में जो अत्यन्त उत्कृष्ट सहायक बनता है, वह करण कहलाता है।[७] यहाँ पर 'कर्त्तरि प्रयतमानस्य' इस विशेषण के द्वारा वात-रोग के शमन के लिए प्रयोग में लाये गये मधुरादि अचेतन द्रव्य वातरोग के शमन में जो द्रव्य समर्थ है, वह भी सहायक होने से वातरोग विनाश का करण बनती है क्योंकि प्रयत्न चेतन वस्तु का लक्षण है जो अचेतन में नहीं होता है, अतः चिकित्सा में प्रयत्नशील वैद्य आदि कर्त्ता के लिये औषध आदि साधन के रूप में होते हैं।

चक्रपाणि ने भी कार्य के विषय में किसी प्रेरक कारण को ही कर्त्ता अथवा करण कहा है और कर्त्ता के अधीन उत्कृष्ट सहायक व्यापार को करण स्वीकार किया है और बुद्धि के साथ प्रयत्न से अन्य प्रेरक कारण के विषय में प्रधान रूप से कर्तृत्व स्वीकार किया है, जहाँ कहीं अचेतन द्रव्य के विषय में भी कर्तृत्व कहा गया है तो यहाँ पर 'प्रयतमानस्य' इस निर्देश के कारण स्वातंत्र्यपूर्वक प्रेरककारण के अभाव से इसे लाक्षणिक प्रयोग समझना चाहिये।

चरक ने भी कार्ययोनि, कार्यफल, अनुबन्ध, देश, काल, प्रवृत्ति तथा उपाय– इन आठ विद्योपायों से इसकी विशेष रूप से प्रधानता, कर्त्ता का सहायक होने के कारण करण रूप से प्रतिपादित किया है। इस प्रकार कार्ययोनि का कार्य के रूप में

---

१. सां० सू० १।८७

२. न्याय० भा० ८६-८७

३. न्या० वा०, पृ० १८

४. न्या० वा० ता० टीका, पृ० १६-१७

५. यत्तु कर्त्रधीनव्यापारं साधकतमं तत्करणम्।—च० वि० ८।७० पर चक्रपाणि

६. करणं पुनर्भेषजम्।—च० वि० ८।७०

७. करणं पुनस्तद्यदुपकरणायोपकल्पये कर्त्तुः कार्याभिनिवृत्तौ प्रयतमानस्य।
—च० वि० ८।७०

निष्पन्न हो जाने से तथा कार्ययोनि के कर्मदेश होने से करण से भिन्नता है। कार्य तथा कार्यफल चूँकि कार्य ही है अतः वे भी इससे पृथक् हैं। अनुबन्ध कार्य से उत्पन्न होता है, शुभाशुभरूप होता है, और वह कार्यान्तर ही है। देश तथा काल तो कार्य-मात्र के प्रति असाधारण कारण होने से साधकतम नहीं है। अतः यह भी पृथक् है। प्रवृत्ति कर्त्ता का धर्म है और उपाय करण का धर्म है अतः ये भी पृथक् हैं। इसलिये औषध ही करण है—यह निर्विवाद सिद्ध है। यह करण विभिन्न आस्तिक तथा नास्तिक मतवादों में भिन्न-भिन्न माना गया है। न्याय में प्रमा का यह सातिशय करण इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आदि माने जाते हैं प्रमाता और प्रमेयादि नहीं, क्योंकि प्रमाता और प्रमेय के होते हुए भी प्रमा की उत्पत्ति नहीं होती। इन्द्रियसंयोग आदि के सत्ता में आते ही प्रमा की उत्पत्ति होती है।[1] जैसे दारु, कुठार और कर्त्ता के होते हुए भी बिना कुठारदारुसंयोग के छिदा रूप फल की सिद्धि सम्भव नहीं है परन्तु उक्त कुठार दारु संयोग से तत्काल छिदा की उत्पत्ति होती है। प्रत्यक्षात्मक प्रमा के करण चक्षुरादि इन्द्रियाँ हैं, अनुमिति रूप प्रमा का करण लिङ्गदर्शन होता है। उपमिति रूप प्रमा का करण सादृश्य ज्ञान होता है और शाब्द रूप प्रमा के सन्दर्भ में वक्ता के मुख से उच्चरित शब्द समूह जिससे श्रोता को शाब्दी प्रमा हो, करण है। अलौकिक शाब्दी प्रमा के सन्दर्भ में वेदादि ग्रन्थराशि ही करण हैं।[2] सांख्य योग की अवधारणा में प्रमा का स्वरूप पौरुष बोध माना जाता है ओर उस पौरुष बोध का सातिशय करण बुद्धिवृत्ति होती है। इसलिये प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीनों के सन्दर्भ में यह करण तत्प्रकारक चित्तवृत्ति ही होता है। इसलिये हर प्रमा के सन्दर्भ में प्रमाण चित्तवृत्ति बनती है।

आयुर्वेद में उक्त विवेचनानुरूप ही प्रमाण शब्द का प्रयोग प्रमा के अर्थ में किया जाता है। चक्रपाणि के अनुसार प्रमाण शब्द का पर्याय परीक्षा है। प्रमाण के अनुरूप ही परीक्षा का अर्थ है कि जिसके द्वारा वस्तु के स्वरूप की परीक्षा की जाय या वस्तु के स्वरूप का निर्धारण किया जाय।[3] चरक के टीकाकार गङ्गाधर

---

१. अत्रेदं बोध्यम्। इन्द्रियसंयोगादिरेव प्रमाकरणम्। न तु प्रमातृप्रमेयादीनि। सत्यपि प्रमातरि प्रमेये च प्रमानुत्पत्तेः। इन्द्रियसंयोगादौ तु सत्यविलम्बेन प्रमोत्पत्तिः। अतः इन्द्रियसंयोगादिरेव करणं, न प्रमातादि।—तर्कभाषा

२. यथा चक्षुरादि प्रत्यक्षात्मकं प्रमायाः प्रमाणम्। अनुमितौ च लिङ्गदर्शनं प्रमाणम्। उपमितौ च सादृश्यज्ञानं प्रमाणम्। शाब्दे च वेदाः प्रमाणम् इत्यादौ शब्दः प्रमाणम्।—न्यायकोश, पृष्ठ ५५३

३. परीक्ष्यते व्यवस्थाप्यते वस्तुस्वरूपमनयेति परीक्षाप्रमाणानि।

—च० सू० ११।६ पर चक्रपाणि

'उपलब्धि साधन' एवं 'ज्ञान' को भी प्रमाण का पर्याय मानते हैं ।[1]

आयुर्वेद में प्रमाण की आवश्यकता

प्रमाणों के द्वारा ही रोग के लक्षणों का ज्ञान सम्भव है । रोग के लक्षणों को समझकर ही उचित औषध के द्वारा मनुष्य का उपचार सम्भव हैं । वाग्भट का कथन है—आयुर्वेद शास्त्रानुसार वैद्य को भलीभाँति इन बातों को देख लेना चाहिए कि यह रोग इस प्रकार का है, इस प्रकार के रोग का प्रकोप हो रहा है, वातादि दोषों के द्वारा अमुक एक, दो या अनेक दोषों से यह रोग हुआ है, अमुक स्थान में यह रोग है, इसकी वेदना हो रही है; रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श—इस प्रकार के हो रहे हैं; इस रोग का इस प्रकार पूर्वरूप तथा उपद्रव हुआ था या होता है । इसकी वृद्धि, स्थिति, क्षय—इस प्रकार दिखाई दे रहे हैं, इसका फल तथा नाम इस प्रकार से है । इस रोग की चिकित्सा में इस प्रकार प्रवृत्त होना चाहिए या नहीं इत्यादि बातों का भलीभाँति विचार करके प्रत्यक्ष रोगी की इन्द्रियाँ, वर्ण, लक्षण, रोग प्रमाण,

---

१. उपलब्धिसाधनं ज्ञानं परीक्षाप्रमाणमित्यनर्थान्तरं समाख्यानिर्वचनसामर्थ्यात् । परीक्ष्यते यथा बुद्ध्या सा परीक्षासाधनं परीक्षा । प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानः प्रमाणशब्दः ।—च० सू० ११।६ पर गङ्गाधर

संस्कृत भाषा के उपलब्ध दार्शनिक साहित्य में 'प्रमाण' के लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं—उपलब्धिहेतुः प्रमाणम् (न्या० वा० पृ० १५) । यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते—(न्या० कु० ४।१), त० कौ० पृष्ठ ८ । भासर्वज्ञ के लक्षण में वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र तथा उदयन के मतों का संकलन मिलता है—'सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम् । सम्यग्ग्रहणं संशयविपर्ययापोहार्थम् । स्मरणज्ञानव्यवच्छेदार्थमनुभवग्रहणम् । प्रमातृप्रमेय व्यवच्छेदार्थ फलाद् भेदज्ञापनार्थं च साधनग्रहणम्' (न्या० सा० पृ० २-६) । यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभवः प्रमा, तद्वति तत्प्रकारकानुभवो वा (त० चि० १, पृ० ४००), त० पृ० ११, न्या० सू० वृ०, पृ० ८१, त० स०, पृ० २३ । तस्मादज्ञाततत्वार्थज्ञानसाधनमेव नः । प्रमाणमिति-निर्णीतम-(मा० मे० पृ० ४७) । त० सि० र० पृष्ठ ३२ । प्रमाणलक्षणन्तु अविसंवादिज्ञानं प्रमाणमिति (भो० वृ० पृ० २०) । अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम् (प्र० स० वृ० पृ० ११) । प्र० वा० १।३ । आ० मी० श्लो० १०१ । न्या० यो० पृष्ठ ९ । तत्व सं० प० पृ० ३९८ । वी० त० भा० पृष्ठ ११ । प्र० मी० १।१।२, स्वयम्भूस्त्रोत्र श्लोक ६३ । प्र० प० पृ० ५३ । प्र० न० त० १।२ । म० सू० ५।४।१९१-९२ । स्थानांगसूत्र ३३८ । अनुयोगद्वार सूत्र, पृ० २११ ।

रोग की वृद्धि, रोगी की कान्ति, मलमूत्रादि, वमनादि की अधिकता—इनका नेत्रों से अवलोकन कर अंतड़ियों का बोलना, अङ्गुलि आदि सन्धि-स्थानों का स्फुटन—इन्हें कानों से सुनकर, देह, पुरीष, व्रण आदि की गन्ध को घ्राणेन्द्रिय द्वारा अनुभव कर, चर्म में सुप्तता, शरीर या त्वचा की शीतलता, उष्णता, कठिनता, स्पन्दन, नरमी तथा खरस्पर्शत्व—इनका स्पर्श द्वारा निश्चय करके; इतना ही नहीं—प्रकृति, विकृति (सुख-दुःख) कैसा हो रहा है ? भोजन की क्या व्यवस्था है ? अन्न खाया जाता है या नहीं ? खाते समय जिह्वा पर इसका स्वारस्य, वैरस्य कैसा प्रतीत होता है ?—यह निश्चित पूछकर, श्वासोच्छ्वास का सुख से, दुःख से आना, मृदु है या क्रूर है, सोना, जागना आदि और इसी प्रकार इस व्याधि की प्रवृत्ति जन्म से तो नहीं है ? ग्रह, नक्षत्रादि से तो नहीं है ? कौन-कौन सी बातें रोगी को अच्छी लगती हैं या नहीं अच्छी लगतीं ? इस समय रोगी की वय क्या है ? इन सबका निश्चय प्रत्यक्ष से करना चाहिए। यूका के कारण शरीर का वैरस्य, मक्खियों के बार-बार उपसर्पण से शरीर के माधुर्य को अनुमान से तथैव जठराग्नि से, पाचनशक्ति को, बल को व्यायाम से, छिपे हुये लक्षणों वाली व्याधि को उपशय तथा अनुपशय से, दोषप्रमाण को उपचारविशेष से, तथा आयु के क्षय का निश्चय रिष्ट से एवं प्रकृति, मन, वीर्य, सात्म्य तथा बल का परीक्षण इनके अनुशीलन द्वारा करें।[1]

इस विस्तृत परीक्षा का उद्देश्य है प्रतिपत्ति का ज्ञान। प्रश्न यह उठता है कि यह प्रतिपत्ति क्या है। चरक संहिताकार कहते हैं—'जिस रोग का जिस प्रकार आयुर्वेद शास्त्र में रोग की उत्पत्ति, लक्षण आदि बताया है उसे उसी प्रकार जानकर जिस प्रकार शास्त्रों में रोग की अवस्था के अनुसार चिकित्सा बतायी है, उसे उसी प्रकार से करने को प्रतिपत्ति कहते हैं।[2]

इस वर्णन से यह स्पष्ट हो गया कि वैद्य को चाहिए कि वह प्रमाणों के द्वारा सर्वप्रथम रोगी के रोग की परीक्षा करे तथा तदनन्तर चिकित्सा कर्म में प्रवृत्त हो। भगवान् पुनर्वसु का कथन है—रोगज्ञान कराने वाले उपायों में सावधानीपूर्वक पहिले सभी तरह से रोग की परीक्षा कर निश्चय किया जाता है तो भविष्य में चिकित्सा करते समय कभी भी असफलता नहीं होती तथा उसका ज्ञान सत्य होता है।[3]

---

१. अ० सं० सू० २२।१३

२. परीक्षायास्तु खलु प्रयोजनं प्रतिपत्तिज्ञानम्। प्रतिपत्तिनाम यो विकारो यथा प्रतिपत्तव्यस्तस्य तथाऽनुष्ठानज्ञानम्। च० वि० ८।१३२

३. त्रिविधेन खल्वनेन ज्ञानेन ज्ञानसमुदायेन पूर्वं परीक्ष्य रोगं सर्वथा सर्वमोत्तरकाल-मध्यवसानमदोषम् भवति।—च० वि० ४।५

इसी प्रकार का दृष्टिकोण अन्य स्थलों में भी मिलता है। 'विद्वान् पुरुष को आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा रोगी की ठीक-ठीक परीक्षा करनी चाहिए। अर्थ को ठीक समझने वाले वैद्य सभी प्रकार से, सबका, जितना सम्भव हो सके, विचार करके रोग निश्चय करने में तथा उसके बाद चिकित्सा करने में अपनी बुद्धि निश्चित करें। कार्य तत्व को जानने वाला पुरुष किसी विषय को निश्चित करने में असफल नहीं होता तथा वह मोहरहित पुरुष अमोह से उत्पन्न होने वाले फल को नहीं प्राप्त करता। जो तत्व को जानने वाला विद्वान् ज्ञान तथा बुद्धि रूपी दीपक लेकर अपने कार्य क्षेत्र में या रोगी की आत्मा में प्रवेश नहीं करता वह चिकित्सा कर्म में सफल नहीं होता।[1]

प्रमाण सख्या

विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों में अन्य विषयों के समान प्रमाणों की संख्या के सम्बन्ध में वैमत्य है। विभिन्न दर्शनों को मान्य प्रमाणों को इस प्रकार संगृहीत किया गया है—

प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणाद सुगतो पुनः
अनुमानञ्च तच्चापि सांख्याः शब्दञ्च तेऽपि च ।।
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केचन् ।
अर्थापत्तया सहेतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः ।।
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टाः वेदान्तिनस्तथा ।
सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिकाः जगुः ।।[2]

चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार करते हैं और अनुमानादि का चार्वाकों ने तर्कपूर्वक खण्डन किया है।[3] वैशेषिकों को प्रत्यक्ष आर अनुमान—दो ही प्रमाण मान्य हैं[4] और ये ही दो प्रमाण बौद्धों को अभीष्ट हैं।[5] जैन दार्शनिक भी प्रमाणों का समावेश प्रत्यक्ष और परोक्ष नाम के दो प्रमाणों में करते हैं।[6] सांख्य-

१. च० वि० ४।११।१३
२. मानसोल्लास २।१६।२०
३. अजितकेशकम्बलिकृत—तत्वोपप्लवसिंह
४. सर्वसिद्धान्तसार संग्रह—५।३३
५. प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति—न्यायबिन्दु १।३
६. प्रमाणमीमांसा—हेमचन्द्र

दार्शनिक, प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द से सभी प्रमाणों को सिद्ध मानते हैं।[१] और योग सूत्रकार पतञ्जलि का भी यही मन्तव्य है।[२] जरन्नैयायिक भासर्वज्ञ भी इन्हीं तीन प्रमाणों को मानते हैं।[३] अक्षपाद और उनके सभी व्याख्याकार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण मानते हैं।[४] यद्यपि पूर्व मीमांसा के आदि आचार्य जैमिनि ने मीमांसा सूत्रों में तीन ही प्रमाण माना है परन्तु उनके भाष्यकार प्रभाकर अर्थापत्ति के साथ नैयायिकाभिमत सभी चारों प्रमाणों को स्वीकार करते हैं।[५] भाट्ट मीमांसकों के आदि आचार्य कुमारिल भट्ट ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द अर्थापत्ति और अनुपलब्धि छः प्रमाणों का विश्लेषण किया है।[६] श्लोकवार्तिक की टीका न्यायरत्नाकर में पार्थसारथि ने निष्कर्ष स्वरूप छः प्रमाण ही माना है।[७] भाट्ट मीमांसकों को मान्य छहों प्रमाण अद्वैत वेदान्तियों द्वारा व्यवहार में स्वीकार किये गये हैं।[८] पौराणिक सम्भव और ऐतिह्य दो अतिरिक्त प्रमाणों के साथ उक्त प्रमाण षट्क स्वीकार करते हैं—ऐसा विभिन्न वादियों द्वारा परपक्ष द्वारा स्वीकृत प्रमाणों के खण्डन से ज्ञात होता है।

माध्व वेदान्ती प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये तीन ही प्रमाण मानते हैं।[९] रामानुज और उनके अनुयायियों को भी उक्त तीन ही प्रमाण अभिमत हैं।[१०] तान्त्रिकों

---

१. (क) दृष्टमनुमानाप्तवचन च सर्वप्रमाण सिद्धत्वात्।—सांख्यकारिका-४
(ख) सर्वः प्रमाणैः प्रमातृभिः पतञ्जलि प्रभृतिभिः सिद्धत्वात्, प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणनीति स्वीकृतत्वात् उपमानादिकं तु न सर्वप्रमाण सिद्धम्।
—सांख्य चन्द्रिका

२. प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।—योगसूत्र १।७
३. त्रिविधं प्रमाणं प्रत्यक्षमनुमानमागम इति।—न्यायभूषण, पृष्ठ १०५
४. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा प्रमाणानि।—न्यायसूत्र १।१।३
५. शाबर भाष्य १।१।५ पर वृहती एवं शालिकनाथ कृत प्रकरण—
६. (क) श्लोकवार्तिक—प्रत्यक्ष से अभाव परिच्छेद तक
(ख) श्लोकवार्तिक पर न्यायरत्नाकर—अभाव परिच्छेद, पृष्ठ ५२ से ३४९ तक
७. तस्मात् षडेव प्रमाणानि न न्यूनानि नाधिकानि वेति।—न्यायरत्नाकर
८. तानि च प्रमाणानि षट्—प्रत्यक्षानुमानोपमानागम अर्थापत्यनुपलब्धिभेदात्।
—वेदान्त परिभाषा, पृष्ठ २०
९. फिलासफी आफ द्वैत वेदान्त—टी० पी० रामचन्द्रम
१०. (क) 'श्रीतत्वमुक्ताकलापः' में 'बुद्धिसरः' परिच्छेद।
(ख) ए क्रिटिकल स्टडी आफ फिलासफी आफ रामानुज।
—अनिमादास गुप्ता, पृष्ठ २०

ने उक्त आठ प्रमाणों के अलावा चेष्टा नाम का एक अतिरिक्त प्रमाण स्वीकार किया है।

विभिन्न दर्शनों को अभिमत प्रमाणों की एक सारिणी इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

क्रमांक	दर्शन	प्रमाण	संख्या
१.	चार्वाक	प्रत्यक्ष	१
२.	बौद्ध, जैन मतानुयायी वैशेषिक	प्रत्यक्ष, अनुमान	२
३.	माध्व	प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द	३
४.	सांख्य, योग, रामानुज, जरन्नैयायिक	प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द	३
५.	अर्वाचीन-प्राचीन नैयायिक	प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द	४
६.	प्रभाकर मतानुयायी मीमांसक	प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति	५
७.	कुमारिलभट्ट मतानुयायीं मीमांसक, वेदान्ती	प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अभाव	६
८.	पौराणिक	प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव, ऐतिह्य	८
९.	तान्त्रिक	प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिह्य, चेष्टा।	९

पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी यथार्थ ज्ञानार्थ प्रमाणों की आवश्यकता मानी है। वे विशेषरूप से प्रत्यक्ष (Perception) और अनुमान (Inference) प्रमाणों को स्वीकार करते हैं।[1] संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों का अध्ययन करने पर रोगीपरीक्षोप-

1. "Western philosophy has generally recognised two ultimate sources of knowledge; Immidiate knowledge or perception & mediate knowledge or Inference."

—Six ways of knowledge, by M. Dutta

योगी उपायरूप प्रमाणों की संख्या एवं स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मतों की प्राप्ति होती है। मतभेद की यह स्थिति केवल विभिन्न ग्रन्थों में ही नहीं है अपितु केवल एक ही ग्रन्थ में अन्तर्विरोधी धारणाएँ एवं विचार मिलने से स्ववचोव्याघात दोष से युक्त होने की शंका होने लगती है। चरक संहिता में विमान स्थान में प्रमाणों की संख्या तीन मानी गयी है। प्रमाणों की संख्या में भगवान् आत्रेय के वचन ही प्रमाण हैं—रोग विशेष का ज्ञान तीन प्रकार का होता है—आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान।[1] चरक संहिता के सूत्र स्थान में ही युक्ति को एक अलग प्रमाण मानकर आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा युक्ति इन चार प्रमाणों को माना है।[2] चरक संहिता के विमान स्थान के आठवें अध्याय में उपमान को अलग प्रमाण मानकर आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा उपमान ये चार प्रमाण माने हैं।[3]

इस प्रकार चरक संहिता में कहीं पर तीन प्रमाण, कहीं पर चार प्रमाण माने गये हैं। इन दोनों में आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, और अनुमान ये उभयनिष्ठ प्रमाण हैं। परन्तु चौथा प्रमाण कहीं पर युक्ति तथा कहीं पर उपमान माना गया है।

अष्टाङ्ग-संग्रह में वाग्भट्ट ने चरक का ही अनुकरण किञ्चित् परिवर्तन के साथ किया है। उन्होंने आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, प्रश्न तथा अनुमान इन चार के द्वारा रोग परीक्षा का उपदेश दिया है।[4]

वाग्भट ने अन्य ग्रन्थ अष्टाङ्ग-हृदय में रोगी के परीक्षार्थ दर्शन (दृष्टि से देखकर), स्पर्श (हाथ द्वारा शरीर का स्पर्श कर), प्रश्न (रोगी से पूँछकर) ये तीन विधियाँ निर्धारित की हैं।[5] सुश्रुत उपरोक्त त्रिविध परीक्षा से सन्तुष्ट नहीं हैं। उन्होंने दर्शन, स्पर्श तथा प्रश्न इनको एकीय मत बताकर इनका खण्डन किया है। उनका कथन है—'कुछ आचार्यों का मत है कि इन तीन (दर्शन, स्पर्शन तथा प्रश्न) रोगज्ञानोपायों द्वारा रोगों को प्रायः पहिचाना जाता है किन्तु यह मत ठीक नहीं

१. त्रिविधं खलु रोगविशेष विज्ञानं भवति तद्यथा आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति। —च० वि० ४।३

तुलनीय—च० वि० ४।७

२. चतुर्विध परीक्षा आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं युक्तिश्चेति।—स० ११।१७

३. हेतुनामोपलब्धिकारणं तत् प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, ऐतिह्यम् औपम्यमिति। —च० वि० ८।३३

४. अष्टाङ्ग-संग्रह सूत्र २२।१७

५. दर्शनसंस्पर्शप्रश्नैः परीक्षेत् च रोगिणाम्।—अष्टाङ्गहृदय सूत्र १।२१

तुलनीय—दर्शनप्रश्नसंस्पर्शैः परीक्षा त्रिविधा स्मृता।—च० चि० २५।२२

है।' इसके खण्डन के अनन्तर ही वे षड्विध परीक्षा का निरूपण करते हैं। उनका कथन है--'रोगों के जानने योग्य उपाय छः हैं—श्रोत्र, नेत्र, नासिका, जिह्वा, त्वचा एवं प्रश्न ।[1]

उक्त प्रमाणों का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष तथा अनुमान में हो जायेगा जिसका विवेचन आगे यथा स्थान किया जायेगा। चरक सम्मत युक्ति प्रमाण का अन्तर्भाव भी अनुमान प्रमाण में हो जाता है। यह उचित स्थान पर आगे दिखाया जायेगा। अर्थप्राप्ति प्रमाण का अर्न्तभाव अनुमान प्रमाण में हो जाता है।

अब केवल आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान, तथा उपमान प्रमाण ही शेष रहे जिनका कि एक दूसरे में अन्तर्भाव सम्भव ही नहीं है अतः परिशेषानुमान से यह स्पष्ट हुआ कि आयुर्वेद में प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्य (आप्तोपदेश) तथा उपमान प्रमाण मानने में कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं है ।[2]

उपरोक्त आलोडन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जहाँ पर जो भी प्रमाण उपयुक्त है वहाँ पर अवबोध सारल्य के लिये आचार्यों ने उन्हीं प्रमाणों का उपदेश दिया है।

महर्षि सुश्रुत ने भी आगम, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान चार[3] प्रमाण प्रतिपादित किये हैं। इन चारों प्रमाणों में रोगी की परीक्षा एवं निदान कहीं पर दो प्रमाणों से, कहीं पर तीन प्रमाणों से और कहीं पर चार प्रमाणों से किया जाता है।

प्रमाण-क्रम-निर्देश

प्रायः सभी दर्शनों में प्रमाणों का निरूपण प्रत्यक्षपूर्वक किया जाता है।[4]

---

१. त्रिभिरेतैर्विज्ञानोपायैः रोगाः प्रायशो वदितव्याः इत्येके। तत्तु न सम्यक्; षड्विधो हि रोगिणा विज्ञानोपायः। तद्यथा-पञ्चभिः श्रोत्रभिः प्रश्नेन चेति।
—सु० सू० १०।४

२. अथ हेतुः—हेतुर्नामोपलब्धिसाधनम्—तत्प्रत्यक्षानुमानमैतिह्यमौपम्यमिति।
—च० वि० ८।३३

अत्र हेतु पदेन प्रमाणान्युच्यन्ते-यथा हेतुश्चाविनाभाव लिङ्गपूर्वपृष्ठतोऽपि···· वचनं तथापीह लिङ्गग्राहकाणि प्रत्यक्षादिप्रमाणान्येवं यथोक्तहेतुमूलत्वेन हेतुशब्देनाह-इति बोद्धव्यम्। उपलब्धि कारणमिति व्यापकस्य साध्यस्योपलब्धिकारणम्।
—चक्रपाणि

३. तस्याङ्गवरमाद्यमागमप्रत्यक्षानुमानोपमानैरविरुद्धमुच्यमानमुपधारय।
—सु० सू० १।१४

४. प्रत्यक्षपरा हि प्रमितिः।—वात्स्यायन भाष्य (न्या० सू० का)

परन्तु चिकित्सा-शास्त्रों में आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान—इस क्रम से वर्णन किया गया है। इसमें सर्वप्रथम परिगणन आप्तोपदेश प्रमाण का किया गया है क्योंकि इस विज्ञान में तो अनुमानादि अन्य प्रमाणों से ज्ञात होने पर भी यदि द्रव्य शिष्टानुमत नहीं है तो वह प्रयोगशक्य नहीं हैं। चरक मुनि को भी आप्तोपदेश की प्रमुखता अभिमत है। उनका कथन है कि तीन परीक्षाओं में सबसे पहले आप्तोपदेश से ज्ञान होता है, उसके बाद प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा परीक्षा की जायेगी।[1] इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याधि के विशेषों का ज्ञान अत्यन्त दुरूह होता है। उपदेश के बिना उनको समझना कठिन है। जो चिकित्साशास्त्र में पारंगत है, वही किसी व्याधि के सूक्ष्म अनावृत्त रहस्यों को समझने में समर्थ हो सकता है। इसलिये शास्त्र के द्वारा व्याधियों के जिन हेतु, लिङ्ग इत्यादि विशेषों का प्रतिपादन किया गया है, उनको प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा उपलब्ध करके ही व्याधि विशेष का व्यवसाय सम्भव है। जो पुरुष अनुपदिष्ट है, जो शास्त्रीय सूक्ष्मताओं से परिचित नहीं है, वह व्याधिगत लिङ्गादि विशेषों को प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा उपलब्ध करके भी 'यह रोग है' उसमें इस प्रकार की स्पष्ट चित्तवृत्ति नहीं बन सकती। अतः चरक मुनि की यह मान्यता है कि आप्तोपदेश से सर्वप्रथम आतुर के पूर्वरूप उपशम का ज्ञान करके तत्पश्चात् प्रत्यक्ष, अनुमान से आतुर के विशेष भावों की परीक्षा करके ही 'यह व्याधि है' ऐसा निश्चय करना चाहिये। आप्तोपदेश का सर्वप्रथम परिगणन क्यों किया जाता है? चरक संहिता के टीकाकार चक्रपाणि दृष्टान्तपूर्वक यह उत्तर देते हैं कि जिस प्रकार रत्नपरीक्षा से अनभिज्ञ व्यक्ति विविध रत्नों को देखकर उनकी भिन्नता को जानते हुए भी उनके स्वरूप निर्णय करने में असमर्थ रहता है, उसी प्रकार आयुर्वेद में निदान, लक्षण आदि विषयों में अनुपदिष्ट व्यक्ति रोगी को देखता हुआ भी रोग निर्णय करने में समर्थ नहीं होता, अतः आप्तोपदेश प्रमाण का प्रमाणों में सर्वप्रथम उपदेश किया गया है।

अन्यत्र भी आप्तोपदेश का प्रथम परिगणन किया गया है। भगवान् आत्रेय के वचन प्रमाण हैं—'रोग विशेष का ज्ञान तीन प्रकार से होता है, जैसे आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान।[2] चरक संहिता के सूत्र स्थान में कहा गया है कि परीक्षा चतुर्विध

---

१. त्रिविधे तु अस्मिन् ज्ञानसमुदये पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञानं, ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपपद्यत। किं ह्यनुपदिष्टं पूर्वं यत्तत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षमाणो विद्यात।
—च० ४।८

२. त्रिविधं रोगविशेष विज्ञानं भवति, तद्यथा-आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति।
—च० वि० ४।३

होती है—प्रत्यक्ष, आप्तोपदेश, अनुमान तथा युक्ति।[१]

ज्ञानसम्पन्न (ज्ञानवतां)[२] व्यक्तियों के लिए परीक्षा दो प्रकार की बतायी गयी है—प्रत्यक्ष और अनुमान। चक्रपाणि का कथन है कि ज्ञानवतां पद का तात्पर्य है—आप्तोपदेश से ज्ञानवान।[३] इसलिये आप्तोपदेश को यहाँ पर भी सर्वप्रथम स्वीकार किया गया। 'त्रिविधा च सहोपदेशेन' (च० वि० ८)[४] इस वाक्य से भी यह ध्वनित होता है कि व्याधि-परीक्षाकाल में आतुरवचनरूप आप्तोपदेश भी उपकारक हुआ करता है। अन्यथा कभी-कभी गम्भीर स्थितियों में व्याधियों की कोष्ठगत मृदुता या दारुणता का ज्ञान असम्भव सा हो जाता है। इस प्रकार आतुर वाक्यों को प्रामाणिक मानने से उनका आप्तत्व सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार से आप्तोपदेश का सर्वत्र प्राधान्य स्वीकार किया गया है।

महर्षि सुश्रुत भी आगम प्रमाण का प्राधान्य स्वीकार करते हैं। उन्होंने प्रमाण परिगणना प्रसंग में सर्वप्रथम आगम प्रमाण की गणना की है। आगम प्रमाण के पश्चात् प्रत्यक्ष प्रमाण का तदनन्तर प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का और तब उपमान का परिगणन किया गया है।[५]

महर्षि सुश्रुत का कथन है कि यदि हेतुओं से अर्थात् अनेक प्रमाणों से भी यदि किसी द्रव्य का विरेचकत्व प्रमाणित हो जाय तो भी यदि वह आगमसम्मत नहीं है तो उस द्रव्य का विरेचकत्व कथमपि सम्भव नहीं है। महर्षि सुश्रुत का डिण्डिमनाद है कि आगम में श्रद्धा रखे, हेतुओं में नहीं।[६]

---

१. चतुर्विधा परीक्षा आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं युक्तिश्चेति।—च० सू० ११।१७

२. च० वि० ८

३. ज्ञानवतामित्याप्तोपदेशज्ञानवताम्।—च० वि० ८ पर चक्रपाणि

४. त्रिविधा वा इत्ययेन व्याधिपरीक्षासमये ह्याप्तोपदेशोऽपि व्याप्रियते तथा दुरधिगमस्थानसंश्रयादिप्रतिपत्तौ कोष्ठमृदुदारुणत्वादिपरीक्षाया मातुरवचनरूपाप्तोपदेशोऽपि व्याप्रियते इति दर्शयति।—चक्रपाणि

५. अत्र आगमस्य शास्त्रे प्राधान्यात् प्रथमागमः कृतः, तदनुप्रमाणां मूलत्वात् प्रत्यक्षम्, तदनुत्पूर्वकत्वादनुमानम्, तदनु अवशिष्टत्वादुपमानम्।
—सु० सू० १।१४ पर चक्रपाणि

६. प्रत्यक्षलक्षणफलाः प्रसिद्धाश्च स्वभावतः।
नौषधीहेतुर्विद्वान् परीक्षेत् कथञ्चन॥
सहस्रेणापि हेतूनां नाम्बष्ठादिविरेचयेत्।
तस्मात्तिष्ठेत्तु मतिमानागमे न तु हेतुषु॥—सु० सू० ४०।२०-२१

व्याकरण शास्त्र में भी शब्द का महत्व प्रतिपादित किया गया है। अन्य प्रमाणों से भी यथार्थ ज्ञान शब्द के सहारे ही सम्भव है। जैसे कि 'वाक्यपदीय' में कहा गया है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुबद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥

वेदान्तशास्त्र के आदि आचार्य महर्षि बादरायण एवं उनके भाष्यकार भगवान् शङ्कर ने भी आगम को परम प्रमाण माना है। आगम से तात्पर्य यहाँ ऋग्वेदादि शास्त्रों से है। अनुमान, उपमानादि अन्य सभी प्रमाण प्रत्यक्षाश्रित होते हैं और प्रत्यक्ष लौकिक पुरुषों के सन्दर्भ में आविद्यक होने से परमप्रमाणता को नहीं प्राप्त कर सकता। परन्तु ब्रह्मात्मैकत्वबोध प्राप्त मुक्त पुरुषों ने जिस सत्य का साक्षात्कार या प्रत्यक्ष किया है, वही आगम है जो निःसंदेह परमप्रमाण है। अनुमान सदा तर्क पर आधारित होता है और तर्क स्वरूपतः अप्रतिष्ठित होने से परम-प्रमाण नहीं बन सकता।[१] यद्यपि व्यवहार में भाट्ट मीमांसकों द्वारा समर्थित छः प्रमाण इन्हें स्वीकार्य थे परन्तु परमार्थ का ज्ञान कराने में एक मात्र आगम प्रमाण ही समर्थ है। इस प्रकार इनका आलोच्य चिकित्साशास्त्रों के आगम प्राधान्य से तुलना की सामर्थ्य रखता है। इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि इस तन्त्र में सर्वप्रथम आप्तोपदेश का, तत्पश्चात् तब अनुमान और उसके बाद उपमान प्रमाण का वर्णन-क्रम प्राप्त होता है।

आप्तोपदेश

सर्वप्रथम आप्तोपदेश का वर्णन-क्रम प्राप्त है। आप्तपुरुष के वचनों को आप्तोपदेश कहते हैं।[२]

आप्त-लक्षण

यह शङ्का स्वाभाविक रूप से उठती है कि किन लक्षणों वाला वह पुरुष आप्त होता है जिसके वचनों को प्रमाण मानना चाहिये। चिकित्साग्रन्थों में आप्तपुरुष का लक्षण बताया गया है। सुश्रुत संहिता के टीकाकार डल्हण का कथन है कि तत्वार्थदर्शी

·······अम्बष्ठादिः संग्राहिकत्वेन प्रागुक्तो गुणः। अत्र अम्बष्ठादिर्विरेचयति-पृथ्वीतोयगुणयुक्तत्वात् चिवृतादिवत् इत्यादि बहुहेतुभिरपि आगमाबाधितेर्नाम्बष्ठादिविरेचयति, किन्त्वागमोक्तं संग्रहणमेव करोति।—भानुमती

१. तर्काप्रतिष्ठानादन्यथानुमेयमितिचेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः।—ब्रह्मसूत्र २।१।११

२. तत्राप्तोपदेशो नाम आप्तवचनम्।—च० वि० ४।४

व्यक्ति आप्त होता है ।[१] भगवान् आत्रेय आप्त-लक्षण निर्धारित करते हुए कहते हैं—'आप्तपुरुष तर्क रहित अर्थात् निश्चित ज्ञान वाले, स्मरण-शक्ति-सम्पन्न तथा कार्य एवं अकार्य के विभाग को जानने वाले होते हैं जो किसी भी प्राणी के प्रति प्रीति, उपताप अर्थात् राग-द्वेष से रहित हैं, इस प्रकार के व्यक्ति को आप्त माना जाता है।[२] वे इन गुणों से युक्त होने के कारण जो वचन कहते हैं वह प्रमाण रूप होता है।[३]

अन्य स्थलों में भी आप्त के लक्षणों का निर्वचन किया गया है—'अपनी तपस्या एवं ज्ञान के बल से जो रज तथा तम से मुक्त हो गये हैं, जिनको सदा भूत भविष्य, वर्तमान—इन तीनों कालों का ज्ञान निर्बाध रूप से होता रहता है, जिनकी ज्ञान शक्ति कभी भी रुकती नहीं, ऐसे व्यक्तियों को आप्त, शिष्ट तथा विबुद्ध कहा जाता है।[४]

आप्त का लक्षण करते हुए महर्षि वात्स्यायन ने कहा है—जो आप्ति से युक्त है वह आप्त है। प्रश्न हो सकता है कि यह आप्ति क्या है ? यह आप्ति रज तथा तम गुणों के प्रभावदोष का नाश है। महर्षि वात्स्यायन का कथन है—'विषयों के साक्षात्कार को आप्ति कहते हैं तथा उस आप्ति के द्वारा जो कर्म में प्रवृत्त होता है उसे आप्त कहते हैं।[५]

आप्त के लक्षणों का विवेचन हो चुका। इसी आप्त पुरुष को ही शिष्ट तथा विबुद्ध कहा जाता है।[६]

---

१. आप्तास्तत्वार्थदर्शिनः ।—सु० सू० १।१४ पर डल्हण

२. आप्ताः ह्यवितर्कस्मृतिविभागविदो निष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च ।—च० वि० ४।४

३. वहीं

४. रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये ।
येषां त्रिकालममलम् ज्ञानमव्याहतं सदा ॥
आप्ताः शिष्टाः विबुद्धाः…………।—च० वि० ११।१८
तुलनीय—(i) रागद्वेषविनिर्मुक्तः आप्तः इत्यभिधीयते ।
—वि० धर्मो० पुराण ३।५।१५
(ii) नागेश की लघुमञ्जूषा में आप्त की परिभाषा चरक का उद्धरण देते हुए प्राप्त होती है—
स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः
ज्ञानवान्छीलसम्पन्नः आप्तो ज्ञेयस्तु तादृशः ॥

५. साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः तया प्रवर्तत इत्याप्तः ।—न्यायभाष्य

६. च० वि० ११।१८

शिष्ट

ये आप्तजन शिष्ट इसलिये कहे जाते हैं क्योंकि ये अपनी तपस्या, ज्ञान तथा शक्ति के बल से कार्य-अकार्य, हित-अहित, नित्य-अनित्य, इनमें क्रमशः प्रवृत्ति-निवृत्ति के उपदेश द्वारा अर्थों (विषयों) के शासन करने में प्रवृत्त होते हैं।[1]

विबुद्ध

बुद्धि द्वारा ग्राह्य विषयों का विशेष-ज्ञान कर कर्म में प्रवृत्त होने से ये विबुद्ध भी कहलाते हैं।[2]

भगवान् आत्रेय कहते हैं कि ऐसे आप्तजन के वचन या उपदेश सर्वदा सन्देह-रहित अर्थात् सत्य होते हैं। रज तथा तम से शून्य होने से वे असत्य भाषण करेंगे ही क्यों?[3] अर्थात् सदैव सत्य भाषण ही करेंगे। रजस् तथा तमस गुण ही धर्म के प्रतिबन्धक हैं अर्थात् मनुष्य को अधर्म की ओर प्रेरित करते हैं।[4] परन्तु जिस मनुष्य का मन रजस् तथा तमस् गुणों से सर्वथा असम्पृक्त हो चुका है, उसे मिथ्याज्ञान नहीं होगा। मिथ्याज्ञान न होने से वह मिथ्याभाषण नहीं करेगा। अतः यह निश्चित हुआ कि जो यथार्थदर्शी मनुष्य रागद्वेषादि से मुक्त हैं उन्हें ही आप्त कहा जा सकता है।

आप्तोपदेश प्रमाण

उपरोक्त गुणों से युक्त व्यक्ति के वचन प्रमाण होते हैं। परन्तु मतवाले, पागल, मूर्ख का वचन वह चाहे दुष्ट हो चाहे अदुष्ट हो तो भी अप्रमाण माना जाता है क्योंकि इन लोगों के वचन अनिवार्यतः सदैव प्रमाण नहीं होते।

आप्तोदेश प्रमाण को ऐतिह्य प्रमाण भी कहा जाता है।[5] सामान्य रूप से लौकिक-जन 'ऐतिह्य' पद से इतिहास पुराणादि का अर्थ ग्रहण करते हैं। चरक संहिता के टीकाकार चक्रपाणि ने 'ऐतिह्य' पद से वेदादि का ग्रहण किया है क्योंकि अलौकिक

---

१. स्वशक्तिबलेन कार्याकार्यौ, हिताहितं, नित्यानित्ये प्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशस्य चिकीर्षया प्रयुक्तो यथार्थशासनमर्थस्य शिष्टस्तया प्रवर्तन्ते ते शिष्टाः।

—न्यायभाष्य १।१७

२. विशिष्टा यथार्थभूता बुद्धिस्तया प्रवर्तन्ते ये ते विबुद्धाः।—वही

३. तेषां वाक्यमसंशयम्। सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः।

—च० सू० ११।१९

४. दुस्तराः हि धर्मप्रतिबन्धकाः रजस्तमोविकाराः इतीन्दुः।—अ० सं० सू० ४

५. ऐतिह्यं नामाप्तोदेशो वेदादिः।—च० चि० ८

आप्तों के उपदेश को 'ऐतिह्य' पद से कहा जाता है।[1] महर्षि सुश्रुत का कथन है कि आप्तों के शास्त्र को आगम या वेद कहते हैं।[2]

सुश्रुत संहिता की 'भानुमती' टीका में 'आगम' शब्द की व्याख्या इस प्रकार है—आगमयति बोधयति सूक्ष्मविप्रकृष्टानर्थान् इत्यागमः अर्थात् जो सूक्ष्म अप्रकट अर्थों का बोध करावे, आगमन करावे वह आगम है। इस व्युत्पत्ति से निर्दुष्ट वाक्यों का आगमत्व स्वीकार किया गया है। वेदों के वाक्यों को निर्दुष्ट वाक्य कहा जाता है। यह निर्दोषता वेदों के अपौरुषेयत्व से ही है। न्यायशास्त्र में यह निर्दोषता ईश्वर-कर्तृत्व के कारण है। इसी प्रकार से निर्दोष पुरुष से प्रणीत होने के कारण आयुर्वेद भी आगमशास्त्र है।[3]

यहाँ पर एक शंका उठती है कि आयुर्वेद को आगमशास्त्र कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि आयुर्वेद में सुरा इत्यादि के गुण कर्मादि का वर्णन किया गया है। जबकि आगम तो सुरापान की निन्दा करता है। जैसा कि स्मृति में कहा गया है—

गौडी षष्ठी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
यथैवैका तथैवाऽन्या न पेया ब्रह्मवादिभिः॥

इस वचन से ब्राह्मणों के लिये सुरापान आगम विरुद्ध है यह प्रतिपादित किया गया।[4] परन्तु आयुर्वेद में तो किसी वर्ग विशेष के लिये सुरापान का निषेध नहीं है। यदि व्यक्ति आयुर्वेदोक्त आवश्यक गुणों से युक्त है तो वह सुरापान में अर्ह है

---

१. अलौकिकाप्तोदेश ऐतिह्यपदेनोच्यते इत्यादि वेदादिः।
—च० चि० ८ पर चक्रपाणि

२. आगमो वेदः। आप्तानां शास्त्रं वा।
जैसा कि कहा गया है—सिद्धं सिद्धैः प्रमाणैस्तु हितं चात्र परत्र च।
आगमः शास्त्रमाप्तानाप्तास्तत्वार्थदर्शिनः॥
—सु० सू० १।१४ पर डल्हण

३. आगमयति बोधयति सूक्ष्म विप्रकृष्टानर्थान् इत्यागमः। अनेनाप्तवचनं निर्दोष वाक्यं लक्ष्यते। निर्दोषता च वेदास्यापौरुषेयत्वादेव, किं वा न्यायमतानुसारेण निर्दोषपुरुषकृतत्वादेव एवमन्यदपि मनुष्यवाक्यादि य निर्दोषपुरुषप्रणीतं तदाप्त-वचनम्।—सु० सू० १।१४ पर चक्रपाणि

४. आगमविरुद्ध उपदेशो यथा-ब्राह्मणेन न सुरा पेया इति। गौडी षष्ठी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा। यथैवैका तथैवाऽन्या न पेया ब्रह्मवादिभिः इति वेदमूल स्मृतिरूपागमबाधितोऽयम।—सु० सू० १।१४ पर चक्रपाणि

अन्यथा नहीं क्योंकि विधिपूर्वक किया गया सुरापान आरोग्य को प्रदान करता है। चिकित्सा विज्ञान की यह घोषणा है कि आरोग्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का उत्तम मूल है।[१] अन्यत्र भी कहा गया है कि शरीर ही धर्मसाधन का प्रथम साधन है।[२] विशेष रूप से ब्राह्मण का शरीर तो तपश्चर्यार्थ ही विहित है और तपश्चर्यार्थ आरोग्य अभीप्सित है अतः सुरापान में कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं है। यदि कोई व्यक्ति यह सन्देह करे कि आयुर्वेद को आगमशास्त्र कैसे कहा जा सकता है क्योंकि आयुर्वेद में आतुर परिचर्या तथा स्वास्थ्य-रक्षा के लिये मांस भक्षण का विधान किया गया है जबकि आगम में यह प्रतिपादित है—किसी भी प्राणी को हिंसा नहीं करनी चाहिये।[३] अतः आयुर्वेद आगमविरुद्ध है। स्वयं सुश्रुत ने चिकित्सा स्थान के २८वें अध्याय में अहिंसा को आवश्यक बताया है। इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि मांस भक्षण के लिये किसी प्राणी की हिंसा करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि स्वयं मरे हुये पशुओं आदि का मांस भक्षण बिना हिंसा के किया जा सकता है—तो यह उचित नहीं है क्योंकि स्वयं सुश्रुत संहिता में ऐसे मांस का प्रयोग निषिद्ध है।[४]

अब 'आयुर्वेद आगम विरुद्ध है' इस आक्षेप का परिहार किया जायेगा। इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वेद यह सामान्य नियम प्रतिपादित करता है कि किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना चाहिये। 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' आदि वाक्य इस मत के पोषक हैं। इस सामान्य नियम का निषेध 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत्' अर्थात् अग्नि और सोम के लिये समर्पित पशु की हिंसा करे—इस विशेष नियम से होता है। अन्यत्र भी 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' अर्थात् 'यज्ञार्थ की गयी हिंसा, हिंसा नहीं होती' आदि वाक्यों का यह आशय है कि यज्ञार्थ की गयी हिंसा अनर्थकारिणी नहीं होती है। जिस प्रकार से वेद निर्दिष्ट स्थल से

---

१. धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।—च० सू० १
२. शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।—कुमारसम्भव
३. मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि।
४. नन्वेतच्छास्त्रोपदेशस्यागमविरोधोऽस्ति; तथा ह्यागमे श्रूयते 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इति। इह तु रोगवृत्ते स्वस्थवृत्ते च तत्र तत्र मांसोपदेशादहिंसा विधीयते। अथ मृतं मांसं विहितमत्र, तच्च स्वयं मृतस्य ग्राह्यम्। तन्न स्वयं भूतादीनां निषेधात्। तथाहि—'शुष्कपूति व्याधितविषदग्ध सर्वजीर्णकृशबालानामसात्म्यचारिणां च मांसं नाददीत्' (सु० सू० ४६) इति वचनात्। तथा मांस विधौ च प्रत्यग्रमांसवचनाद् हिंसाऽनुमतेवा च। तथेहोक्तं—'ब्रह्मचर्यमहिंसा च' (सु० चि० २८) इति वचनात् हिंसा विरुद्धा।—सु० सं०

भिन्न स्थलों में की गई हिंसा ही अधर्म का कारण होती है, उसी प्रकार वेद का एक भाग होने से आयुर्वेद द्वारा निर्दिष्ट स्वस्थ तथा आतुर के हित के लिये आवश्यक मांस की उपलब्धि के लिये की गयी हिंसा दोषवती नहीं है, अन्य उद्देश्य से की गयी हिंसा ही दोषवती है। इस व्यवस्था से कोई भी दोष नहीं रह जाता।[1]

यह आयुर्वेद वेद के समान सर्वथा धर्म का विधान नहीं करता क्योंकि वेद में जो कुछ भी विहित है, वह सभी धर्म साधन के लिये हैं, जो निषिद्ध है वह अधर्म-साधन है—यह भलीभाँति विद्वानों से स्वीकृत है। परन्तु हमें यह ज्ञात है कि आयुर्वेद का उद्देश्य है आरोग्य। इस आरोग्य के साधन स्वरूप हित तथा अहित का प्रतिपादन किया गया है। इस हित विधान में यत्किञ्चित् अधर्मफल हो जाये वह उपेक्षणीय होगा क्योंकि यह व्यवस्था प्राप्त है—'भूयसां श्रेयसामर्थेऽल्पीयसां पापानामारम्भो न दोषाय।

अधिक कल्याणकारक अर्थ में अल्प पापकारक कृत्य दोष वह नहीं होते।[2] इसलिये आयुर्वेद भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थ-चतुष्टय के साधनस्वरूप आरोग्य का मूल होने से उपेक्षणीय छिटपुट पापों के होने पर भी आगम शास्त्र का आगमत्व बना रहेगा।

वेदों में 'श्येनेनाभिचरन् यजेत्' आदि वाक्यों में श्येन का अभिचार धर्म के लिये है, परन्तु श्येन के अभिचार में रागतः स्वयं प्रवृत्त होने पर अधर्म का हेतु हो जायेगा। इसी प्रकार यहाँ आयुर्वेद में भी यदि मांस भक्षण में प्रवृत्ति रागतः हुई या जिह्वा लोलुपता से हुई तो मांसभक्षण अधर्म का हेतु होगा, परन्तु यदि चतुर्वर्ग-साधक आरोग्य की प्राप्ति के लिये यह प्रवृत्ति हुई तो धर्म हेतु होगा—यह सिद्ध हो गया।

स्वजीविकोपार्जनार्थ यदि किसी वनवासी व्याध के द्वारा हिंसित पशु के मांस को पण्य से खरीदकर भक्षण करने पर हिंसा का दोष प्रतिनिवारित हो जायेगा क्योंकि स्वयं हिंसा सम्पादित नहीं हुई।

सांख्य दर्शन में भी यह प्रतिपादित किया गया है कि यद्यपि यज्ञार्थ स्वयं की गयी हिंसा अधर्म का हेतु होगी तथापि यज्ञ का अभीष्ट स्वर्गादि फल अवश्य प्राप्त होगा, जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने कहा है—

---

१. अत्रैके वदन्ति हिंसानिषेधवाक्यं यथावेदे—'अग्निषोमीयं पशुमालभेत्' इत्यादौ विहित हिंसां परित्यज्यान्यत्र निषिद्धत्वेनाधर्महेतुस्तथेहापि वेदैकदेशरूपे स्वस्थातुर-रहितत्वेन विहितमांसार्थं क्रियमाणाहिंसाव्यतिरेकेणहिंसा दोषवती व्यवस्थाप्येति न विरोधः'।—सु० सू० ४६ पर डल्हण

२. स्यात् स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः।—शंकराचार्य

हिंसा हि पुरुषस्य दोषमावक्ष्यति, क्रतोश्चोपकरिष्यतीति ।

—सा० का० पर कौमुदी[1]

तात्पर्य यह है कि हिंसा पुरुष के पाप का कारण भी होगी तथा यज्ञ का आवश्यक अंग भी होगी । जब यज्ञार्थ स्वयं की गयी हिंसा से वेद का आगमत्व खण्डित नहीं होता तो चतुर्वर्गसाधक आरोग्य के लिये परकृतहिंसोपलब्ध मांस भक्षण करना आगम विरुद्ध नहीं है ।

इस प्रकार आयुर्वेद का आगमत्व निर्विवाद ही हैं ।

अन्य दर्शनों में आप्तोपदेश का व्यपदेश शब्द-प्रमाण के नाम से हुआ है ।[2] आप्तोपदेश शब्दों के माध्यम से होता है । वर्णों के समाम्नाय को शब्द कहते हैं ।[3] यह चतुर्विध होता है—दृष्टार्थ, अदृष्टार्थ, सत्य तथा अनृत ।

जिस वाक्य-समूह[4] का अर्थ प्रत्यक्षरूप से किया जाता है वे दृष्टार्थ कहलाते हैं । उदाहरण के लिये तीन हेतुओं (असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध, परिणाम) से दोष कुपित होते हैं, छः (लंघन, बृंहण, स्नेहन, रूक्षण, स्वेदन, स्तम्भन) उपक्रम से शान्त होते हैं । श्रोतादि इन्द्रियों के रहते वही शब्द आदि विषयों का ग्रहण होता है ।

आप्तोपदेश के भेद

साधारणतः आप्तोपदेश तीन प्रकार का होता है—(१) वैदिक[5], (२) लौकिक, (३) साधारण ।[6]

---

१. हिंसा यागसाधिका अनर्थशून्या ।—डा० गङ्गानाथ झा

२. आप्तोपदेशः शब्दः ।—न्याय सूत्र १।१।७

३. शब्दो नाम वर्णसमाम्नायः । स चतुर्विधः दृष्टादृष्टार्थश्च सत्यश्चानृतश्चेति । तत्र दृष्टार्थस्त्रिभिर्हेतुभिर्दोषाः प्रकुप्यन्ति, षड्भिरुपक्रमश्च प्रशाम्यन्ति । श्रोत्रादिसद्भावे शब्दादिग्रहणमित्यदृष्टार्थः । अदृष्टार्थः पुनरस्ति प्रेत्यभावोऽस्ति मोक्ष इति । सत्यो नाम यथार्थभूतः । सन्त्यायुर्वेदोपदेशाः, सन्त्युपायाः साध्यानाम् सन्त्यारम्भफलावीति । सत्यविपर्ययश्चानृतम् ।—च० वि० ८

४. वर्णसमाम्नाय इति वर्णमेलकं इत्यर्थः । वर्णानां सहस्थायिनां यद्यपि मेलको नास्ति तथाप्येकस्मृतिसमानरूपित्वेन; किं वा पूर्वपूर्वानुभवजनितसंस्कारसहितान्त्यवर्णानुभवारोहेण मेलको ज्ञेयः ।

५. आप्तोपदेशशब्दस्तु द्विविधः परमाप्तब्रह्मादिप्रणीतः लौकिकाप्तप्रणीतश्च । ऐतिह्यशब्देन परमाप्तप्रणीतोऽविरुद्धः लौकिकाप्तप्रणीतश्च शब्दैकदेशरूपः सत्यप्रकारविहितो ज्ञेयः ।—च० वि० ८।३८ पर चक्रपाणि

६. च० वि० ४।५ पर चक्रपाणि

वैदिक—वेद अपौरुषेय हैं या ईश्वरकर्तृक हैं अतः उनका प्रामाण्य निर्विवाद है।

लौकिक—लौकिक आप्त जनों का लक्षण पूर्वोल्लिखित आप्तोपदेश की परिभाषा में विवेचित है। लौकिक आप्त द्विप्रकारक होता है—परमाप्त और सामान्याप्त।

परमाप्त—ऋषि आदि प्राचीन आचार्य परमाप्त कहे जाते हैं।

सामान्याप्त—जो आचार्य वर्तमान काल में अपने अनुभव सत्य विशुद्ध लोकोपकारिणी बुद्धि से वर्णन करते हैं। यद्यपि इनका ज्ञान त्रिकालममल नही होता फिर भी विशुद्ध आचरण से उनका महत्व तो निर्विवाद ही है।

साधारण—यह चिकित्साशास्त्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।[1] साधारणाप्त के वचन आयुर्वेद में व्याधि-परीक्षण तथा परिजन के विशेष उपयोगी हैं। प्रश्न, परीक्षा में एवं उनके उत्तर में, व्याधि-निदान में आप्तोपदेश उपकारक होते हैं। यहाँ पर आयुर्वेद सम्मत आप्तोपदेश के भेद विवरण उपस्थापित किया गया। आयुर्वेद में व्याधित व्यक्ति का आप्तत्व स्वीकृत नहीं है। जैसा कि चरक मुनि ने कहा है कि मतवाले, पागल, मूर्ख का वचन चाहे दुष्ट हो या अदुष्ट हो तो भी, प्रमाण नहीं मानना चाहिये।[2]

वास्तव में व्याधित आतुर व्यक्ति के मानसिक रूप से खिन्न होने के कारण उसमें सत्वगुण का उद्रेक नहीं हो पाता जिससे उसके वचनों में सन्देह हो जाता है। कुछ हीनसत्व व्यक्ति साधारण व्याधि को बढ़ा-चढ़ा कर बताते हैं तथा दृढ़सत्व वाले आतुर गम्भीर व्याधि का भी गोपन करते हैं। इसलिये उनके आप्तत्व में विप्रतिपत्ति है। परन्तु दूसरी ओर यह भी सत्य है कि किसी समय उनके वचनों से चिकित्सा या निदान में सरलता हो जाती है। इतना ही उनका आप्तत्व है। 'यथार्थ वक्ता आप्त होता है' इस लक्षण से व्याधि के यथार्थ स्वरूप को, जब वह अपनी यथार्थ व्यथा को प्रकट करता है, तब उसका आप्तत्व सिद्ध हो जाता है।

---

१. त्रिविधा वा-इत्यनेन व्याधिपरीक्षा समये ह्याप्तोपदेशोऽपि व्याप्रियते। ग्रहण मार्दव स्वप्नदर्शनादिविप्रतिपत्तौ तथा दुरधिगमस्थानसंश्रयादि प्रतिपत्तौ तथा कोष्ठमृदुदारुणत्वादिपरीक्षायां चातुररूपाप्तोऽपि व्याप्रियते इति दर्शयति।
—च० वि० ४।५ पर चक्रपाणि

२. तेषामेवंगुणयोगायद्वचनं तत् प्रमाणम्।
अप्रमाणं पुनर्मत्तोन्मत्तमूर्खरक्त दुष्टादुष्टवचनमिति।—च० सं० ४।४

आप्तोपदेश से ज्ञेय भाव

आयुर्वेद शास्त्र में जो विषय आप्तोपदेश से ज्ञात होते हैं उनका वर्णन किया जायेगा। आप्तोपदेश से अधोलिखित बातें ज्ञेय हैं—

'एक-एक रोग को ऐसे प्रकोपणों वाला, ऐसी प्रकृति वाला, ऐसे करणों वाला, ऐसे स्वरूप वाला, ऐसे स्थान वाला, ऐसी वेदना वाला, ऐसे लक्षण वाला, ऐसे शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध वाला, ऐसे उपद्रवों वाला, ऐसे वृद्धि, स्थान व क्षय वाला, ऐसे भविष्य वाला, ऐसे नाम तथा योग वाला है—इस प्रकार जानना चाहिये। इस रोग में इसे दूर करने के लिये इस प्रकार की चिकित्सा होगी या इस रोग का यह निवृत्ति उपाय है ये सभी बातें उपदेश से जानी जाती हैं।[1]

आप्तोपदेश से प्रत्येक ज्ञेय तथ्य को कतिपय उदाहरणों सहित प्रस्तुत किया जायेगा—

(१) प्रकोप—प्रकृष्ट कारण जैसे वायु की रूक्षता।

(२) योनि—साक्षात् कारण जैसे वायु आदि दोष।

(३) उत्थान—रोगोत्थान के कारणभूत प्रज्ञापराध कारण।

(४) स्वभाव—रोग का स्वभाव जैसे रोहिणी का दारुणत्व।

(५) अधिष्ठान—रोग का अधिष्ठान या आश्रय जैसे सम्पूर्ण देह या कतिपय अवयव या मन।

(६) वेदन—रोग की वेदना।

(७) संस्थान—रोग का लक्षण।

(८) शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध—रोग के प्रत्यक्षइन्द्रियगम्य विषयों का रोगी में ज्ञान।

(९) उपद्रव—रोग के उपद्रवों का अध्ययन।

(१०) वृद्धि—रोग की वृद्धि।

(११) स्थान—रोग की स्थिति।

---

१. तत्रेदमुपदिशन्ति बुद्धिमन्तः—रोगमेकैकमेवं, प्रकोपणमेवं, योनिमेवमुत्थानमेव-मात्मानमेवमधिष्ठानमेवं. वेदनमेवं, संस्थानमेवं शब्दस्पर्शरूपरसगन्धमेवमुपद्रवमेवं, वृद्धिस्थान क्षयसमन्वितमेवमुदर्कमेवं योगं विद्यात्, तस्मिन्नियं प्रतीकारार्था प्रवृत्ति-रथवा निवृत्तिरित्युपदेशाज्ज्ञायते।—च० वि० ४।६

(१२) क्षय—रोग का क्षय।

(१३) भविष्य—रोग का परिणाम।

(१४) नाम—रोग की संज्ञा।

(१५) योग—रोग के प्रतीकार में समर्थ योग।

(१६) प्रतीकारार्थ प्रवृत्ति—इस योग में इस प्रकार प्रतीकारार्थ प्रवृत्ति होती है जैसे 'ज्वर' में लंघन व्यवहार में लाया जाता है।

(१७) निवृत्ति—इस रोग में इस प्रकार प्रतीकारार्थ निवृत्ति होता है जैसे नवज्वर में कफवर्धकदिवास्वप्न स्नानादिकों का निषेध है।

ये समस्त भाव गुरु के उपदेश से ज्ञेय आप्तपदेश रूप शास्त्रों के स्वानुशीलन से ज्ञात होते हैं।

भूमि—जंगल, आनूप तथा साधारण भेद से देश त्रिविध होता है, प्रश्न पूर्वक यह जानना चाहिए कि किस देश में व्याधि का प्रादुर्भाव हुआ है—इसके विपरीत देश में जलवायु परिवर्तन के लिये जाना चाहिये।

आतुर की प्रकृति वातप्रकृति है, कफप्रकृति है, इत्यादि प्रश्नों से ज्ञात करना चाहिये।

काल—भी दो[1] प्रकार का होता है—नित्यग और आवस्थिक।

(क) नित्यग—संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, रात, दिन, मुहूर्त, दण्ड, कला, विकला के भेद से किस काल में किस दोष का प्रकोप विशेष रूप से होता है यह जानना चाहिये। जैसा कि कहा गया है—

'हेमन्ते निचितःश्लेष्मा वसन्ते कफरोगकृत' इति।

(ख) आवस्थिक—इसके भी दो भेद होते हैं—(१) आयुभेद—शिशु, बाल, युवा, तरुण, बुढापा आदि। (२) रुग्ण के ज्वरारम्भादि काल अवस्था का अनुसरण करना रोग निदान में सहायक होता है।

---

१. कालोऽपि नित्यगः ऋत्वादिः आवस्थिकोऽपि बालादिभेदवान्। तथा ज्वराद्य-वस्थाभेदकम्। अयञ्च देशकालभेदो व्याध्युत्पत्यादौ समानासमानत्वादिनां प्रश्न-पूर्वकोत्तर प्रतिपन्नो व्याध्यादिबलवत्वादिज्ञापको भवति।—चक्रपाणि

कालो द्विविधः नित्यगः आवस्थिकश्च। नित्यगऋतुलक्षणः, आवस्थिको द्विविधः—स्वस्थस्य वात्यादिभेदेन व्याधितस्य ज्वरारम्भादिकालवस्थया च।

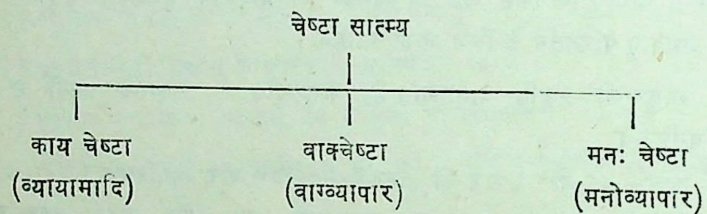
—डल्हण

भिन्न देश में, भिन्न रोगी में, भिन्न ऋतु में तथा भिन्न वय में विभिन्न दोषों का प्रकोप होता है। उदाहरणार्थ वातिक देश में वातप्रकृति के रोगी में वातप्रकोपण ऋतु में वृद्धावस्था में उत्पन्न हुआ वात रोग अतिबलवान होता है--इस प्रकार का ज्ञान रोगनिदान में उपकारक होता है--यह निश्चित हुआ।

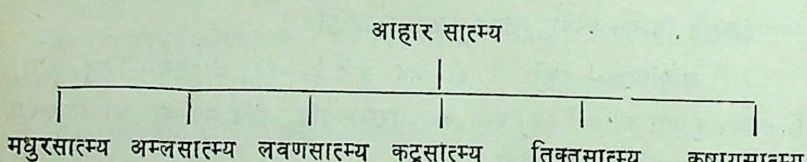
जाति—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि से जाति का बोध होता है, जाति के बोध से व्यवसाय का बोध होता है तथा व्यवसाय में उत्पन्न होने वाली व्याधियों[1] का भी ज्ञान होता है। इस प्रकार से यह जाति प्रसक्त प्रकृति का बोध होता है।

सात्म्य—जो विहार जिसके लिये अनुकूल हो, वे सात्म्य होते हैं। सात्म्य दो[2] प्रकार का होता है--(१) चेष्टा सात्म्य, (२) आहार सात्म्य।

चेष्टा सात्म्य तीन प्रकार का होता है--



आहार सात्म्य छः प्रकार का होता है--



---

१. जातिर्ब्राह्मणत्वादिरूपा, साऽपि प्रकृतिविशेषं जातिप्रसक्तं गमयन्ती व्याधिविशेषं गमयति। अन्ये तु जातिपदं देशकालाभ्यां प्रत्येकमभिसंबध्नन्ति।--चक्रपाणि ....जातिशब्दो ब्राह्मणादिषु वर्तते।--डल्हण

२. सात्म्यं द्विविधम्-चेष्टाहारभेदात्, यदुक्तम्--
यो रसः कल्पते सम्यक् सुखत्वाय निषेवितः।
व्यायामजातमन्यद्वा तत्सात्म्यमिति निर्दिशेत्॥—सु० स० ३५

चरक ने चतुर्विध[1] सात्म्य उपदर्शित किया है—

- सात्म्य
  - ऋतुसात्म्य
    - चेष्टा
    - आहार
  - ओकसात्म्य
    - चेष्टा
    - आहार
  - देशसात्म्य
    - चेष्टा
    - आहार
  - व्याधिसात्म्य
    - चेष्टा
    - आहार

यहाँ पर ऋतुसात्म्य की स्थिति में चेष्टानुसार तथा आहारानुसार के भेद से ऋतुसात्म्य दो प्रकार का होता है। ओकसात्म्य का तात्पर्य है—शरीर के लिये सात्म्य। चेतना निवास-स्थल (गृह) शरीर के लिये सात्म्य (अनुकूल) जो होता है वह ओकसात्म्य कहलाता है।

चरक संहिता के टीकाकार ओकसात्म्य को अभ्याससात्म्य के रूप में ग्रहण करते हैं क्योंकि कुछ लोगों को गाँजा तथा भाँग अभ्यास से सात्म्य हो जाते हैं।

यदि प्रश्न पूर्वक यह पता लगा लिया जाय तो यह ज्ञान उन व्यक्तियों के रोग निदान एवं चिकित्सा में उपकारक हो सकता है। इसी प्रकार देशसात्म्य में भी जो आहार-विहारादि उस देश के गुणों के विपरीत गुण वाले हों वे सात्म्य होंगे। इसी प्रकार व्याधि सात्म्य में भी उस व्याधि के गुणों के विपरीत गुण वाले आहार-विहारादि सात्म्य होंगे।

बल[2]—बल से तात्पर्य शारीरिक व्यायाम शक्ति से है। यहाँ पर बल से मानसिक शक्ति रोगप्रतिबन्धक शक्ति को भी ग्रहण करना चाहिये। अधिक बलवान् व्यक्ति वेदना को सहने में समर्थ होगा परन्तु बलहीन अक्षम रहेगा।

---

१. चतुर्विध वा सात्म्यम्—ऋतुचेष्टादेशव्याधिभेदात्। यदुक्तं चरके इत्युक्तमृतु सात्म्यं यत्।—च० सू० ६

तु०—इत्यादिना चेष्टितं चाद्यमेव च इत्यन्तेन।—सु० सू० १०।५ चक्रपाणि

इत्युक्तं ऋतुसात्म्यं यच्चेष्टाहारव्यपाश्रयम्।
उपशेते यदौचित्यादोकः सात्म्यं तदुच्यते॥
देशानामामयानां च विपरीत गुणं गुणैः।
सात्म्यमिच्छन्ति सात्म्यज्ञाश्चेष्टितमाद्यमेव च॥—च० सू० ६

२. बलं व्यायामगम्यशक्तिः।—डल्हण

अन्तरग्नि[1]—इस रोगी की अग्निमन्द है, तीक्ष्ण है, सम है या विषम है—यह प्रश्न से जानकर अग्नि के अनुसार रोग प्रशमन किया जाना चाहिये। यद्यपि प्रकार-विशेषों को तथा ग्रहिणी के मृदुदारुणत्व आदि को अनुमान से भी जाना जाता है परन्तु प्रश्न परीक्षा से सरलता से जाना जा सकता है। केवल यही नहीं अपितु अनुमान से जानकर पुनः प्रश्न परीक्षा से ज्ञान करने पर अनुमानगम्य ज्ञान की भी पुष्टि हो जायेगी। अतः प्रश्न से भी अन्तरग्नि का ज्ञान अवश्य करना चाहिये।

मूलप्रवृत्ति—मूलप्रवृत्ति[2] से तात्पर्य अपान वायु प्रवृत्ति, मूत्रप्रवृत्ति, पुरीष-प्रवृत्ति, रजः प्रवृत्ति से है। आप्तोपदेश रूपी शास्त्र से इन सबका ज्ञान होता है।

कालप्रकर्ष[3]—आप्तोपदेशरूपी शास्त्र से यह भी ज्ञात होता है कि रोग की अवधि क्या है ? कितने दिनों से रोग का प्रादुर्भाव है। कौन सी व्याधियाँ कष्टसाध्य तथा कौन सी सुख साध्य होती हैं जैसा कि कहा गया है—

ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वम् प्रमेहे तुल्यदूष्यता।
रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥[4]

---

१. अन्तरग्निमिति-कीदृशोऽन्तरग्निः समो विषमो मन्दो वा।—चक्रपाणि
हेत्वर्तुसात्म्याग्निबलं परीक्ष्यवचनाद् बुधैः।—च० चि० २५।२३
....अग्निश्च यद्यपि (अग्निजरणशक्त्या—च० वि० ४।८) इति वचनादनुमान विषयः उक्तस्तथापि प्रश्नेनाग्निरवगम्यते।—च० चि० २५।२३ पर चक्रपाणि
....ग्रहण्यास्तु मृदुदारुणत्वं स्वप्नदर्शनमभिप्रायं द्विष्टेष्टसुखदुःखानिचातुर-परिप्रश्नेनैव विद्यादिति।—च० वि० ४।८ पर चक्रपाणि
....प्रश्नेन चेति वचनेन यद्यपि गृहिणीमार्दवाद्यनुमानोपि ज्ञातुम्, तथापि अनुमानस्य बुद्धिप्रयास बहुत्वेनातुर पृच्छयैव सुखोपचाररूपया विद्याद् गृहिणीमार्दवादीनीति दर्शयन्ति। अभिप्रायो भोजनादीच्छा। द्विष्टेष्टशब्देन तु दुष्टेप्सितप्रेष्यादिग्रहणम्।
—च० वि० ४।८ पर चक्रपाणि
....प्रश्नेन च विज्ञानीयाद्देशं कालं जाति सात्म्यमातंकसमुत्पत्तिं वेदना समुच्छ्रायं बलमन्तरग्निं वातमूत्रपुरीषाणां प्रवृत्तिमप्रवृत्ति काल प्रकर्षादींश्च विशेषान्। आत्मसदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु तत्स्थानीयैजानीयात्।—सु० सू० १०।५
२. वातमूत्रपुरीषाणामित्यत्रादिशब्दो लुप्तो ज्ञेयः तेनार्तवाधोगरक्तचित्तादीनां ग्रहणम्।—डल्हण
३. कालप्रकर्षादींश्च विशेषानिति कियान् कालोऽस्मिन् व्याधावुत्पन्न इत्यादीन् भेदान्।—डल्हण
४. चि० चि० ४

भोजनेच्छा—इससे भी दोष का परिज्ञान होता है, जैसे—चित्त के प्रयोग में जम्बीर नीर मिश्रितशर्करापेय के पान में प्रवृत्ति होती है तथा कफ के प्रकोप में त्रिकटु मिश्रित चाय इत्यादि के पान में प्रवृत्ति हो जाती है तथा दुग्ध आदि में रुचि उत्पन्न हो जाता है। अतः रुचि के अनुसार भी दोष के परिहार का ज्ञान हो जाता है। जैसे कि कहा[1] भी गया है कि किसी दोषविशेष के बढ़ने पर उस दोष को बढ़ाने वाले अन्नपानादि में स्वतः अरुचि हो जाती है तथा इसके विपरीत दोष-शायक अन्न-पानादि में स्वतः प्रवृत्ति हो जाती है।

ऊपर वर्णित विषय तथा अन्य बहुत विषयों का ज्ञान आप्तोपदेश रूपी शास्त्र से होता है। इसलिये आयुर्वेद में आप्तोपदेश प्रमाण को सर्वत्र प्राथमिकता दी गयी है। यदि कोई चिकित्सक चिकित्सा-ग्रन्थों में पारंगत नहीं है तो चिकित्सा कर्म में कैसे सफल हो सकता है। अष्टांगसंग्रहकार का कथन—'सम्पूर्ण जानने योग्य विषय में ज्ञानांश से ज्ञान नहीं होता, इसलिये वैद्य को चाहिये कि वह तन्त्रानुशीलन से असली तत्व को जानने की चिन्ता करे।'[2] सुश्रुत का कथन है—'ठीक प्रकार से शास्त्र पढ़ा हुआ एवं ठीक प्रकार से शास्त्र का अर्थ समझा हुआ छेदन, स्नेहन आदि कर्मों का ज्ञाता होना चाहिये।[3]

जो चिकित्साशास्त्र के किसी एक भाग को जानकर चिकित्सा करता है वह शास्त्रज्ञान तथा चिकित्साकार्य में अल्पबल रखता है। ऐसे अल्पज्ञ चिकित्सक तन्त्र के शब्द सुनकर उसी प्रकार भाग जाते हैं जिस प्रकार धनुष की टंकार सुनकर बटेर पक्षी भाग जाते हैं।[4]

आप्तोपदेश रूपी शास्त्रों की चिकित्सक के लिये यही उपयोगिता है। अतः चिकित्सक को शास्त्रों में अभ्यस्त होना चाहिये। अज्ञवैद्य तो शास्त्रों को दूषित करता हुआ लोक में आयुर्वेद की अप्रतिष्ठा करता है तथा लोगों का अकल्याण ही करेगा। इसीलिये भगवान् आत्रेय का आदेश है—शास्त्रों को दूषित करने वाले

१. त्रयो वृद्धिः स्वधाम्नेव प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु।
विपरीतगुणेच्छा.............................. ॥—अ० हृ० सू० १२।२१५

२. ज्ञानांशेन न हि ज्ञानं कृत्स्ने ज्ञेये प्रवर्त्तते।
बुभुत्सेद् भिषक् तस्मात्तत्वं तन्त्रानुशीलनत्वात् ॥—अं० सं० सू० २३

३. सु० सू० ३४।१९

४. शब्दमात्रेण तन्त्रस्य केवलस्यैकदेशिकाः।
भ्रमन्त्यल्पबलास्तन्ये ज्याशब्देनैव वर्तकाः ॥—च० सं० सू० ३०।७२

इस प्रकार के मूर्ख वैद्यों को यमराज के पाश के समान जानकर त्याग कर देना चाहिये।[1]

प्रत्यक्ष-प्रमाण

आप्तोपदेश-प्रमाण के विवेचन के पश्चात् पूर्वनिर्दिष्ट क्रम से प्रत्यक्ष-प्रमाण का विवेचन किया जाएगा। चिकित्सा-विज्ञान में प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार किया गया है—'आत्मा, इन्द्रिय, मन, अर्थ (शब्दादि विषय) के सन्निकर्ष होने पर उस समय में जो बुद्धि (ज्ञान) स्पष्टतः व्यक्त होती हैं उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।'[2]

इस लक्षण का परीक्षण करना चाहिए। आत्मा को ही सभी वस्तुओं का ज्ञान होता। जैसा कि कहा गया है—'ज्ञानाधिकरणम् आत्मा।' जब आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञान करने में प्रवृत्त होती है तो सर्वप्रथम मन से सम्बन्ध स्थापित करती है, मन इन्द्रियों से तथा इन्द्रियाँ विषयों से सन्निकृष्ट होती हैं—इन सहायक कारणों की सहायता से आत्मा को प्रत्यक्ष का ज्ञान होता है। अतः भ्रमात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान न समझा जाय। इसलिए लक्षण में 'व्यक्ता' यह विशेषण दिया गया है। व्यक्ता का अर्थ है निश्चयात्मक ज्ञान। न्यायसूत्रकार गौतम ने इसी अर्थ में 'अव्यभिचारि' और व्यवसायात्मक पदों का प्रयोग किया है।[3] इसलिए व्यक्ता पद से कालान्तर व्यभिचारिणी, अयथार्थ बुद्धि, संशय तथा विपर्यय आदि का निराकरण हो जाता है।

उपर्युक्त लक्षण में तदात्वे पद भी बहुत महत्वपूर्ण है जिसका तात्पर्य है 'तत्क्षण'। आत्मा आदि चारों के संयोग से अनुमान भी होता है किन्तु अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है अर्थात् प्रत्यक्ष के बाद होता है तत्काल नहीं जबकि प्रत्यक्ष तत्काल होता है। अतः अनुमान में भी यह लक्षण न चला जाय इसलिए प्रत्यक्ष लक्षण में 'तदात्वे' पद ग्रहण किया गया है। महर्षि गौतम के शब्दों में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ऐसा ज्ञान जो अव्यपदिष्ट हो (शाब्दिक ज्ञान का निरास) अव्यभिचारी हो (भ्रम तथा विपर्यय का निरास) और निश्चयात्मक हो (संशय का निरास) प्रत्यक्ष ज्ञान है।[4]

---

१. तान् कालपाशसदृशान् वर्जयेच्छास्त्रदूषकान्।—च० सू० ३०।८३

२. आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते।
व्यक्तातदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते॥

३. न्याय सू० १।१।४

४. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।
—न्यायसूत्र १।१।४

इस प्रकार हम देखते हैं कि यहाँ पर प्रत्यक्ष प्रमाण फल रूप व्यवसायात्मक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है। यह निश्यात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण का फल होने से प्रमा है प्रमाण नहीं।[1] अतः कह सकते हैं कि उपर्युक्त ज्ञान का साधकतम् जो कारण है उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाना चाहिए। लोक में भी इस फल रूप ज्ञान को प्रत्यक्ष शब्द से कहा जाता है।[2] प्रत्यक्ष का लक्षण अन्यत्र भी इस प्रकार मिलता है। 'प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जो स्वयं इन्द्रियों तथा मन के द्वारा जाना जाता है'।[3] यहाँ पर स्वयं पद के द्वारा आत्मा का ग्रहण किया गया है। एक अन्य स्थल में प्रत्यक्ष प्रमाण इस प्रकार लक्षित है। 'जो आत्मा (मन) तथा पाँच इन्द्रियों से स्वयं जाना जाता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि का मन से (अन्तः) प्रत्यक्ष होता है'। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन्द्रियों से (बाह्य) प्रत्यक्ष होता है।'[4]

प्रत्यक्ष के इस लक्षण में आत्म शब्द मन का वाचक है क्योंकि सभी प्रमाणों में समान रूप से उपयोगी आत्मा प्रत्यक्ष के लक्षण में अनिवार्य नहीं है परन्तु मन का विभिन्न इन्द्रियों से विशिष्ट सन्निकर्ष अनिवार्य होने से प्रत्यक्ष के लक्षण में मन किसी प्रकार से अनुल्लिखित नहीं हो सकता।

उक्त प्रत्यक्ष के लक्षण प्रायशः समान तथ्यों का निर्वचन करते हैं। भाषा भेद भले ही हो परन्तु विषय भेद नहीं। इनमें सर्वप्रथम बताया गया लक्षण अधिक व्यापक एवं पूर्ण है। इन तीनों लक्षणों से निम्नलिखित तथ्यों का स्पष्टीकरण होता है—

(i) प्रत्यक्ष (प्रमा रूप) ज्ञान ही प्रमाण हैं।

(ii) यह ज्ञान आत्मा, मन, इन्द्रियों तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है तात्पर्य यह है कि हर प्रत्यक्ष ज्ञान में आत्मा का मन से मन का पाँच ज्ञानेन्द्रियों में से किसी इन्द्रिय से तथा इन्द्रिय का अपने अर्थ से सन्निकर्ष होता है।

(iii) यह ज्ञान व्यवसायात्मक होता है ('व्यक्ता' पद से लक्षित)।

---

१. प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्षम्। अनेन च साक्षात्कारवत् प्रमाण जनकं प्रत्यक्षमिति लक्ष्यते।
—सु० सू० १।१४ पर चक्रपाणि

२. इह हि प्रत्यक्षफलस्वरूपाऽपि बुद्धिः प्रत्यक्षशब्देनाभिधीयते, तथैव लोकव्यवहारात्।—च० सू० ११ चक्रपाणि

३. प्रत्यक्षं तु खलु तद्यत् स्वयमिन्द्रियैर्मनसाचोपलक्ष्यते।—च० वि० ४।५

४. अथ प्रत्यक्षं। प्रत्यक्षं नाम तत् यदात्मना चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते। तत्रात्म प्रत्यक्षाः सुखदुःखेच्छाद्वेषादयः शब्दादयस्त्विन्द्रियप्रत्यक्षाः।—च० वि० ८।३९

(iv) यह ज्ञान बिना किसी व्यवधान के तत्काल उत्पन्न होता है ('तदात्वे' पद से इसकी पुष्टि होती है)।

पञ्च पञ्चक—यह ज्ञान पञ्चेन्द्रियों का उनके अर्थों के साथ संयोग होने पर उत्पन्न होता है। श्रवण, त्वक्, अक्ष, रसन, घ्राण ये पाँच इन्द्रियाँ[1] बाह्य-प्रत्यक्ष ज्ञान की साधक होती है। इन्हीं को बहिरिन्द्रिय या ज्ञानेन्द्रिय भी कहा जाता है। इन्द्रिय-शक्ति सूक्ष्म होती है परन्तु अधिष्ठान के स्थूल होने से स्थानी और स्थान के अभेदोपचार से दृश्यमान होती है। इन इन्द्रियों के अधिष्ठान कर्णविवर, त्वचा, नेत्र, जिह्वा तथा नासिका—ये पाँच हैं।[2] इनके अपने-अपने निश्चित विषय हैं जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।[3] बुद्धि भी पाँच प्रकार की होती है।[4] इन्द्रिय द्रव्य भी पाँच प्रकार के होते हैं।[5]

उपर्युक्त विवरण को इस प्रकार से एक कोष्ठ में प्रदर्शित किया जा सकता है—

पञ्चेन्द्रिय	पञ्चेन्द्रियाधिष्ठान	पञ्चेन्द्रियार्थ	पञ्चेन्द्रिय-द्रव्य	पञ्चेन्द्रिय बुद्धि
१—श्रवण	कर्ण	शब्द	आकाश	श्रोत्र बुद्धि
२—त्वक्	त्वक्	स्पर्श	वायु	स्पार्शन बुद्धि
३—अक्षि	नेत्र	रूप	तेज	अक्षि बुद्धि
४—रसन	जिह्वा	रस	जल	रसन बुद्धि
५—घ्राण	नासिका	गन्ध	भू	घ्राण बुद्धि

यह प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) बाह्य प्रत्यक्ष, (२) मानस प्रत्यक्ष। परन्तु मन के माध्यम से ही ये इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण कर सकती हैं। बाह्य इन्द्रियों से हुआ प्रत्यक्ष को बाह्य प्रत्यक्ष कहा जाता है।

जहाँ पर केवल मन के अव्यवधान से ज्ञान उत्पन्न होता है वह मानस-प्रत्यक्ष होता है। जैसे—सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि के ज्ञान में बहिरिन्द्रियों की

१. तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पंचेन्द्रियाणि।
२. पंचेन्द्रियाधिष्ठानानि—अक्षिणी, कर्णौ, नासिके, जिह्वा, त्वक् चेति।
३. पंचेन्द्रियार्थाः—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः।
४. पंचेन्द्रियबुद्धयः—चक्षुबुद्धयादिकाः।
५. पंचेन्द्रियद्रव्याणि—खंवायुर्ज्योतिरापोभूरिति।—च० सू० ८।८-१२

आवश्यकता नहीं पडती इनका ज्ञान केवल मन से होता है। अतः इस ज्ञान को मानस प्रत्यक्ष कहा जाता है।[1]

चरक के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान का क्रम इस प्रकार है—ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को मन में ले जाती हैं। मन उस विषय में संकल्प-विकल्प करके बुद्धि को समर्पित करता है। बुद्धि में तद्विषयिणी निश्चयात्मक वृत्ति बनती है, वह बुद्धि वृत्ति आत्मा में प्रतिबिम्बित होती है, तभी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। तत्पश्चात् मनुष्य निश्चित होकर व्यापार में प्रवृत्त होता है।[2] इस प्रकार यह ज्ञान आत्मा को होता है।

सांख्य शास्त्र के अनुसार ज्ञान, जिसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है, बुद्धि का धर्म है। सांख्य शास्त्र के अनुसार प्रत्येक कार्य करने वाला मनुष्य पहले कार्य का (बाह्येन्द्रियों से) ग्रहण करने के बाद (मन से) उसका विचार (संकल्प-विकल्प) करके फिर अहंकार से ('मैं इसे करने में अधिकृत हूँ') ऐसा अभिमान करके बुद्धि से ('यह मुझे करना है' ऐसा) निश्चय करता है तब उसमें प्रवृत्त होता है। इन्द्रियसन्निकर्ष रूप सहकारी के कारण 'यह घट है' ऐसी विषयाकार बुद्धि का परिणाम या बुद्धिनिष्ठ ज्ञान ही एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण है। उसके पीछे उत्पन्न हुआ 'मैं घट को जानता हूँ अथवा घटज्ञान युक्त मैं' ऐसा पुरुष-निष्ठ ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमा है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि सांख्य तथा आयुर्वेद—दोनों में प्रत्यक्ष प्रमाण फलरूप व्यवसायात्मक ज्ञान को ही कहा जाता है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण का फल होने से प्रमारूप है।[3]

---

१. स्वमिन्द्रियमनसा चेत्यनेन यदात्मनेन्द्रियैश्च चक्षुरादिभिरव्यवधानेन गृह्यते रूपादि तत्प्रत्यक्षमिति बाह्य-प्रत्यक्षं गृह्णाति। मनसा चेत्यनेन च मनसाऽव्यवधानेन यदुपलभ्यते सुखादि तच्च मानसं-प्रत्यक्षं गृह्णाति।—च० वि० ४।४ पर चक्रपाणि

२. इन्द्रियाभिग्रहः कर्ममनसस्त्वस्य निग्रहः।
ऊहो विचारश्च ततो बुद्धिः प्रवर्तते॥
इन्द्रियोपेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।
कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतो यथा॥
जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका।
व्यवस्यते तथा वक्तुं कर्तुं वा बुद्धि पूर्वकम्॥—च० शा० १

३. इन्द्रिय सन्निकर्षादिना जायमानोऽयंघटः इत्यादि बौद्धोबोधः प्रमाणं, तदनुरूपं जायमानो घटमहं जानामीत्यादि पौरुषेयो बोधश्च प्रमेति भावः।—विद्वत्तोषिणीकार
तुलनीय—इह हि प्रत्यक्ष फलरूपाऽपि बुद्धिः प्रत्यक्ष शब्देनाभिधीयते।
—च० सू० ११ पर चक्रपाणि

परन्तु दोनों में भेद यह है कि आयुर्वेद इस ज्ञान को आत्मनिष्ठ मानता है ।[१] जबकि सांख्य इस ज्ञान को बुद्धि का धर्म मानता है ।[२] 'मैं ज्ञानवान हूँ' ऐसा पुरुष को इसलिए प्रतीत होता है क्योंकि यह पुरुष बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता हुआ उसके साथ तादात्म्य (अभेद) ग्रहण करके उसमें स्थित ज्ञान सुख इत्यादि धर्मों के द्वारा स्वयं भी उनसे युक्त सा प्रतीत होता है ।[३] ऐसी सांख्य दृष्टि है जबकि आयुर्वेद की दृष्टि 'स्वयमिन्द्रियैरमनसाचोपलभ्यते' है अर्थात् स्वयं (आत्मा) के द्वारा ग्रहण किया जाता है ।

चरक संहिता में आत्मा तथा मन के संयोग को ज्ञान सामान्य के प्रति कारण निर्धारित किया है ।[४] यह ज्ञान आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से होता है । परन्तु चक्रपाणि के अनुसार सर्वत्र प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति आत्मेन्द्रिय मन तथा अर्थ का सन्निकर्ष आवश्यक नहीं है । क्योंकि सुख आदि के मानस प्रत्यक्ष में चतुष्टय सन्निकर्ष नहीं होता । इसलिए 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षात् प्रवर्त्तते यः' केवल इतना ही प्रत्यक्ष का लक्षण मानना चाहिए । आत्म-सन्निकर्ष ज्ञानमात्र के प्रति सामान्य होने से उपात्त है ।[५] इस मान्यता में नैयायिकों को मान्य प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण से विरोध भी नहीं है ।

चरक संहिता के व्याख्याता गंगाधर का कथन है कि आत्म-प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष केवल योगियों को होता है यह सभी साधारण जनों को नहीं होता । अतः यह प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, वरन् प्रत्यक्ष प्रमा ही है ।[६] इस प्रकार मन का इन्द्रियत्व आयुर्वेद में स्वीकृत है ।

---

१. आत्मेन्द्रियमनोर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्त्तते ।
२. अध्यवसायश्च बुद्धव्यापारो ज्ञानं ।—सां० का० ५ पर तत्वकौमुदी
३. सोऽयं बुद्धि तत्ववर्तिना ज्ञानसुखादिना तत्प्रतिबिम्बस्तच्छाया ज्ञान सुखादिमानिव भवतीति ।—सांख्य का० ५ पर तत्वकौमुदा
४. आत्माज्ञः कर्ण योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते ।—च० शा० १
मनः पुरःसराणीन्द्रियाणि अर्थग्रहणानि समर्थानि भवन्ति ।—च० सू० ८।७
५. आत्मादिचतुष्टयसन्निकर्षाभिधानं च प्रत्यक्ष कारणाभिधानपरम्, तेन इन्द्रियार्थसन्निकर्षात् प्रवर्तते यः इत्यतावदेवलक्षणं बोधव्यम्, एतेन सुखादि विषयमपि प्रत्यक्ष गृहीतं भवति । तत्र हि हेतु चतुष्टयसन्निकर्षो नास्ति, आत्मसन्निकर्षस्तु प्रमाणज्ञान साधारणत्वेनैव लक्षणार्थमुपयुक्तः ।—च० सू० ११।२० पर चक्रपाणि
६. अर्थाश्च पंचशब्दादयः न तु मनोरथाश्चेत्यादिः । प्रमाणाधिकारात् मानस प्रत्यक्षस्याप्रामाण्यात् । मानसः प्रत्यक्षाहि वक्ष्यन्ते चिन्त्यविचार्यादयो मनोरथा इति । आत्मप्रत्यक्षास्तु ज्ञानेच्छा, द्वेष, सुख दुःख प्रयत्न इति । तेषां येन कश्चिद्

प्रत्यक्ष ज्ञान समुदय में चार वस्तुओं की अपेक्षा होती है—

(१) प्रत्यक्ष प्रमाता—जिस पुरुष को प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।[1]

(२) प्रत्यक्ष विषय—जिस विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।[2]

(३) प्रत्यक्ष प्रमा—जो ज्ञान होता है।

(४) प्रत्यक्ष प्रमाण—जिस इन्द्रिय से प्रत्यक्ष प्रमा उत्पन्न होती है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रकार

प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का होता है—निर्विकल्पक तथा सविकल्पक।[3] गौतम ने 'अव्यपदेश्य' तथा 'व्यवसायात्मक' इन दो पदों के द्वारा इस भेद-द्वय को प्रदर्शित किया है।[4] प्रत्यक्ष ज्ञान प्रक्रिया सन्निकर्ष होने पर सर्वप्रथम निर्विकल्पक ज्ञान ही होता है तदनन्तर सविकल्पक ज्ञान होता है। जब यह निर्विकल्पक ज्ञान होता है तब इन्द्रिय प्रमाण और इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष अवान्तर व्यापार है, परन्तु जब सविकल्पक ज्ञान होता है तो यह इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष ही प्रमाण बनता है। अवान्तर व्यापार निर्विकल्पक ज्ञान होता है और जब हानोपानादि प्रवृत्ति बुद्धि होती है तो निर्विकल्पक ज्ञान प्रमाण बनता है और सविकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार। घटत्व के वैशिष्टय से रहित 'यह कुछ है' इस प्रकार का जो नाम, जाति, योजना रहित ज्ञान है वह निर्विकल्पक ज्ञान है तथा एतदनन्तर जाति, गुण, क्रिया, नाम सहित जो ज्ञान होता है वह सविकल्पक होता है।

किमपि यादृशं चिन्तयति विचारयति, अपरो यथा चिन्तयति विचारयति, तथा येन कश्चित् सुखमनुभवति शत्रुमरणेन, तेन तच्छत्रुवान्धवाः दुःखमनुभवन्तीति साधारणविषयत्वाभावन्न तन्मानस प्रत्यक्षमात्मप्रत्यक्षं च प्रमाणम्। योगिनांयोग समाधौ यत्प्रत्क्षं तदपि तेषामेव, न सर्वेषां जनानां प्रत्यक्षं सम्भवति, तैरुपदेशश्चाप्तोपदेश इति। तस्मान्मानस प्रत्यक्षमात्मप्रत्यक्षं च प्रत्यक्षज्ञानमेव न प्रमाणम्।

—च० सू० ११।२० पर गंगाधर

१. तत्र यस्येप्साजिहासा प्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता।—वात्स्यावन

२. योऽर्थः प्रमीयते तत्प्रमेयं।—वात्स्यायन

३. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नंज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।

—न्यायसूत्र १।१।४

४. एतदयो सूत्रे व्यपदेश्यपद व्यवसायात्मक पदाभ्यां भगवता गौतमेन सूचितम्।

—पदार्थ विज्ञान (ले०—सत्यनारायण शास्त्री, पृष्ठ ११६)

पाश्चात्य दर्शन और मनोविज्ञान में भी 'संवेदन रूप' (Sensation) और 'प्रत्यक्ष रूप' (Perception) ये दो प्रकार के ज्ञान माने जाते हैं। वह क्रमशः निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पक ज्ञान होते हैं। वस्तु के ग्रहण करते समय पहले वस्तु सम्बन्धी संवेदन होता है अर्थात् वस्तु का गुणमात्रक ज्ञान होता है। यह निर्विकल्पक ज्ञान है। 'यह पुस्तक है' इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान से पूर्व 'यह कुछ है' इस प्रकार का संवेदन अवश्य होता है। 'यह घट है' इस ज्ञान में तीन अंश सम्मिलित हुए भासते हैं—(१) घटत्व विशेषण से युक्त होना, (२) घट वस्तु का ज्ञान होना। (३) घट और घटत्व के बीच समवाय सम्बन्ध का होना। यह स्पष्ट है कि 'यह घट है' इस ज्ञान में घट ज्ञान के अतिरिक्त घटत्व विशेषण से युक्त वस्तु का विशिष्ट ज्ञान होता है और विशिष्ट ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि उससे पहले विशेषण का ज्ञान हो जिससे यह ज्ञान विशिष्ट होता है। घटत्व विशेषण के ज्ञान के बिना 'यह घट है' ऐसा ज्ञान सम्भव नहीं है। इसलिए यह मानना पड़ता है कि 'यह घट है' इस ज्ञान से पूर्व इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से सबसे पहले घट और घटत्व विशेषण से रहित 'वैशिष्टचानवगाहि' ज्ञान होता है। यही निर्विकल्पक ज्ञान है। इस स्थिति में घट और घटत्व दोनों अलग-अलग भासते हैं उनके मध्य समवाय आदि किसी भी सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता। इसीलिए निर्विकल्पक ज्ञान को अतीन्द्रिय माना गया है। निर्विकल्पक ज्ञान के अनन्तर 'वैशिष्टयावगाहि' विशेषणविशेष्य सम्बन्ध युक्त 'यह घट है' इस प्रकार का ज्ञान होता है जिसे सविकल्पक ज्ञान कहते हैं।

न्यायदर्शन में इसका समुचित विवरण मिलता है—

अव्यपदेश्य—विशेषणोपलक्षण शब्दजात्यादि का व्यपदेश जिसमें न हो वह अव्यपदेश्य है। जिसमें विशेष व्यपदेश्य न हो वह अव्यपदेश्य है। निर्विकल्पक ज्ञान में जात्यादि की विशेषता आभासित नहीं होती इसलिए कुछ विशेष ज्ञान न होने से निर्विकल्पक ज्ञान अव्यपदेश्य होता है।

व्यवसायात्मक—विषय विषयक तत्त्वज्ञान व्यवसायात्मक होता है। इसमें 'गाय है', 'पुरुष है', 'हाथी है' इस प्रकार का विषय विषयक ज्ञान होता है अर्थात् विशेषता प्रकारता सहित अथवा नाम जाति योजना सहित ज्ञान व्यवसायात्मक होता है। इस प्रकार के सम्पूर्ण व्यवहार के योग्य ज्ञान को को सविकल्पक ज्ञान कहते हैं।

अव्यपदेश्य तथा व्यवसायात्मक पदों से स्पष्ट होने वाले भेदद्वय को वाचस्पति मिश्र ने अपनी 'तात्पर्यटीका' में स्पष्ट किया है।

कुमारिलभट्ट ने अपने 'श्लोक वार्तिक' ग्रन्थ में प्रत्यक्ष के इन दो भेदों को बौद्ध-सम्मत प्रत्यक्ष के खण्डन के अवसर पर स्वीकार किया है। वैयाकरण निर्विकल्पक ज्ञान

नहीं स्वीकार करते हैं जबकि वेदान्त मत में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को मान्य है। परन्तु न्याय में ये दोनों भेद स्वीकृत हैं।

निर्विकल्पक—इस पद की निरुक्ति इस प्रकार है—निर्गतो विकल्प प्रकारतादिकृतो विशेषो यस्मातन्निर्विकल्पकम्।

तत्व चिन्तामणि में निर्विकल्पक ज्ञान का लक्षण इस प्रकार से वर्णित है—नामजात्यादियोजनारहित वैशिष्ट्यानवगाहि निष्प्रकारक ज्ञान को निर्विकल्पक कहते हैं।

इस प्रकार से प्रकारता (विशेषणता) शून्य विशेषणता शून्य संसर्गता (सम्बन्ध) शून्य के स्वरूपमात्र का परिचायक ज्ञान निर्विलपक ज्ञान होता है। जैसे 'पीत वस्त्र' के देखने पर 'पीतवस्त्र' के ज्ञान के पूर्व जो विशेषता रहित पीत ज्ञान का अनुमान पूर्व दृष्ट वर्ण के ज्ञान से होता है वह पीत-ज्ञान (पीतवस्त्र ज्ञान के पूर्व) निर्विकल्पक ज्ञान होता है। इसको अन्य उदाहरण से इस प्रकार समझा जा सकता है। घोर अन्धकार में पैर फैलाकर बैठे हुए किसी व्यक्ति के पैरों में अचानक किसी वस्तु के स्पर्श होने पर वह पैरों का आकुञ्चन तो कर लेता है परन्तु स्पर्श के विषय में विशेष्य रूप से कुछ भी कहने में असमर्थ होता है। यही संवेदन निर्विकल्पक ज्ञान है।

चक्षु का घट से संयोग होने के अनन्तर ही यह घट है इस प्रकार का घटत्वादि विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न होता है। इस प्रकार से प्रथमतः घट घटत्वयोः वैशिष्ट्यानवगाहि 'यह कुछ है' इस प्रकार का नाम जाति योजना रहित जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह निर्विकल्पक होता है।

श्रीधरस्वामी ने अपने 'न्यायकन्दली' ग्रन्थ में प्राचीन परम्परानुसार निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमा रूप में स्वीकार किया है। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में आचार्य विश्वनाथ ने 'भ्रम भिन्नं ज्ञानं प्रमा' यह कहकर प्रमा में ही इस ज्ञान का अस्तित्व स्वीकार किया है। परन्तु गङ्गेशोपाध्याय के मत में न तो यह भ्रम है न यह प्रमा है अपितु दोनों से भिन्न विलक्षण ज्ञान है।[1]

महाकवि माघ ने निर्विकल्पक ज्ञान का वर्णन अपने ग्रन्थ 'शिशुपालवध' में किया है।[2]

---

१. न प्रमा नाऽपि भ्रमः ज्ञानं स्यान्निर्विकल्पकम्।
प्रकारातादिशून्यं हि सम्बन्धानवगाहि तत्॥—तत्त्वचिन्तामणि

२. चयस्त्विवसामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुम् नारद इत्यबोधि सः॥
—शिशुपालवध १।३

इस श्लोक में आकाश से उतरते हुए नारद को श्रीकृष्ण द्वारा पहचानने का वर्णन है। यहाँ पर प्रारम्भ में 'कोई तेजोराशि है' धुंधुले रूप में लक्षित होने पर 'कोई शरीरधारी है' अंगप्रत्यंगों के स्पष्ट दृष्ट होने पर 'कोई पुरुष है' इस प्रकार का त्रिविध ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान को तथा 'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि' यह ज्ञान सविकल्पक ज्ञान है।

सविकल्पक ज्ञान—विकल्पेन सहितं ज्ञानं सविकल्पकम्। अर्थात् विकल्प के सहित ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान कहते हैं। जैसे 'गाय है', 'पुरुष है', 'हस्ती है', 'डित्थ है' 'ब्राह्मण है' इस प्रकार का प्रकारतासहित ज्ञान सविकल्पक ज्ञान होता है।

लक्षण—विशेषणविशेष्य सम्बन्धावगाही ज्ञान, विशेषणतानिरूपक, विशेष्यतानिरूपक, संसर्गतानिरूपकज्ञान सविकल्पक ज्ञान होता है। इससे नाम, जाति, गुण, क्रिया सहित ज्ञान होता है। इसको इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—

(१) नामबोधक—डित्थ है।
(२) जातिबोधक—ब्राह्मण हैं।
(३) गुण बोधक—श्याम है।
(४) क्रियाविशेष्य बोधक-पाचक है।
इत्यादि ज्ञान सविकल्पक होता है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—(१) लौकिक, (२) अलौकिक। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यज्ञान लौकिक होता है। यह सन्निकर्ष छः प्रकार का होता है—संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवतसमवाय, विशेषणविशेष्य भाव।[1] ग्रन्थान्तरों में इन सन्निकर्षों का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

इन्द्रिय का द्रव्यादि अर्थों से सन्निकर्ष संयोग होता है क्योंकि इन्द्रिय और घट पट आदि द्रव्य दोनों द्रव्य ही हैं और दो द्रव्यों के बीच संयोग सम्बन्ध ही सम्भव है। जब इन्द्रिय का घटादि द्रव्य से सन्निकर्ष होता है तो घटादि के साथ ही तद्‌गत गुण, क्रिया, जाति आदि का भी सन्निकर्ष होता है। अतः इन्द्रिय और घटरूप का सन्निकर्ष संयुक्तसमवाय होता है अर्थात् इन्द्रिय से द्रव्य का संयोग सम्बन्ध है और द्रव्य का तद्‌गत गुण से समवाय सम्बन्ध। इसी प्रकार द्रव्याश्रित गुण, कर्म आदि में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली गुणत्व, कर्मत्व आदि जातियों का इन्द्रिय से संयुक्त

१. प्रत्यक्ष ज्ञानहेतुः इन्द्रियार्थसन्निकर्षः षडविधः—संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्यभावश्च।
तर्कसंग्रह

समवेत समवाय सन्निकर्ष होता है। इन्द्रिय से घट में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला नील रूप में समवेत नीलत्व जाति का इन्द्रिय से संयुक्त समवेतसमवायसन्निकर्ष होता है। श्रवणेन्द्रिय से शब्द के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय और शब्द अर्थ का समवाय सन्निकर्ष होता है क्योंकि शब्द श्रवणेन्द्रिय रूप आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसी प्रकार शब्दत्व आदि शब्दगत जाति के प्रत्यक्ष में समवेत समवाय सन्निकर्ष होता है क्योंकि श्रवणेन्द्रिय में समवेत शब्द में शब्दत्व जाति समवाय सम्बन्ध से अवस्थित है।

समवाय और अभाव का इन्द्रिय से प्रत्यक्ष माना जाता है। समवाय और अभाव अपने अधिकरण में संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध से नहीं रहते। जैसे—अभाव स्वरूप सम्बन्ध से रहता है। स्वरूप सम्बन्ध का तात्पर्य है अभाव अपने अधि-करण का विशेषण का विशेष्य होता है। यही बात समवाय के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। भूतल में रहने वाले घटाभाव का भूतल से विशेष्यता या विशेषणता का सम्बन्ध होता है इसलिए अभाव और समवाय के प्रत्यक्ष के लिए विशेष्य विशेषण भाव सन्निकर्ष माना जाता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान चाक्षुष, स्पार्शन, श्रावण, घ्राण, रासन और मानस छः इन्द्रियों से छः प्रकार का होता है। जब द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है तो चक्षुःसंयोग में चक्षुः संयुक्तसमवाय कारण है और द्रव्य रूपत्व के चाक्षुष प्रत्यक्ष में चक्षुः संयुक्त-समवेतसमवाय कारण है। शब्द के श्रावण प्रत्यक्ष में श्रवण समवाय कारण है और शब्दत्व के प्रत्यक्ष में श्रवण, समवेतसमवाय कारण है।

यद्यपि संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों में इन छः सन्निकर्षों का वर्णन नहीं मिलता है परन्तु चरक संहिता के व्याख्याता चक्रपाणि ने इन छः संसर्गों का वर्णन किया है।[1] लौकिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—आभ्यान्तर प्रत्यक्ष एवं बाह्य प्रत्यक्ष।[2] इनमें से आभ्यन्तर प्रत्यक्ष मनोभव होता है।[3]

---

१. ....सन्निकर्षादिति सम्बन्धात् स च सम्बन्धः संयोगः, समवायः, संयुक्त समवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवेतसमवायः, तदविशेषणविशेष्यभाव लक्षणो बोद्धव्यः।—च० सू० ११।२० पर चक्रपाणि

२. अथ प्रत्यक्षं नाम तद्यदात्मना चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते।
तत्रात्मप्रत्यक्षाः सुखदुःखेच्छा द्वेषादयः, शब्दादयस्त्विन्द्रिय प्रत्यक्षाः॥
—च० वि० ८।३९

३. या यदिन्द्रियमाश्रित्य जन्तोर्बुद्धिः प्रवर्तते।
याति सा तेन निर्देशं मनसां च मनोभवा॥—च० शा० १।३२

मनुष्य की बुद्धि जिस इन्द्रिय के सहारे कार्य में लगती है वह बुद्धि उसी इन्द्रिय के नाम से जानी जाती है, जैसे चक्षु से ग्रहण करने वाले विषयों में चक्षुर्बुद्धि त्वक् से ग्रहीत विषयों में स्पार्शनबुद्धि इसी प्रकार श्रोत्रबुद्धि, रसनबुद्धि, घ्राणबुद्धि तथा केवल मन के सहारे प्रवृत्त होने वाली बुद्धि को मनोभवबुद्धि कहते हैं। इस प्रकार से मनोभव आभ्यन्तर प्रत्यक्ष एकविध होता है तथा पञ्चेन्द्रियों से उत्पन्न बाह्य-प्रत्यक्ष पंचविध होता है।[1] यह पंचविध[2] ज्ञान चक्षुः, श्रोत्र, घ्राण, रसन, स्पर्शन, इन्द्रियों के भेद से होता है।

यह हुआ लौकिक सन्निकर्ष का वर्णन। इसके अतिरिक्त अलौकिक सन्निकर्ष भी होता है जिसका कि अब वर्णन किया जायेगा।

अलौकिक प्रत्यक्ष—अलौकिक प्रत्यक्ष के सन्निकर्ष भी अलौकिक होते हैं। ये सन्निकर्ष तीन प्रकार के होते हैं। सामान्यलक्षणसन्निकर्ष, ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष, योगज सन्निकर्ष। योगज-सन्निकर्ष केवल योगियों को होता है। परन्तु दो प्रकार के अलौकिक प्रत्यक्ष साधारण मनुष्यों को होते हैं। जो सामान्य लक्षण और ज्ञान लक्षण नामक अलौकिक सन्निकर्षों के द्वारा होते हैं।

सामान्यलक्षण सन्निकर्ष—अनुमान प्रमाण में व्याप्ति ज्ञान की आवश्यकता होती है। व्याप्ति का स्वरूप है नित्य साहचर्य जैसे जहाँ धूम होता है वहाँ बह्नि

१. तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमितिपंचेन्द्रियाणि।—च० सू० ८।८
तुलनीय—घ्राण रसनचक्षुस्त्वक् श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः।
—न्या० सू० १।१।१२

२. 'चष्टे, रूपं प्रकाशयति, बुद्ध्यते अनेनेति वा चक्षुः।' रूप का प्रकाश या ग्रहण करने वाली चक्षुरेन्द्रिय, 'श्रृणोत्यनेन इति श्रोत्रं' शब्द को सुनने वाली श्रोत्रेन्द्रिय, 'जिघ्रत्यनेनेतिघ्राणं' गन्ध का ग्रहण करने वाली घ्राणेन्द्रिय, 'रस्यतेऽनेनेति रसनं' रस का ग्रहण करने वाली, रसनेन्द्रिय, 'स्पृशत्यनेनेति स्पर्शनं' स्पर्श का ग्रहण करने वाली स्पर्शेन्द्रिय—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनमें से सर्वप्रधान चक्षु-रेन्द्रिय है। यथा—

चक्षुः प्रधानं सर्वेषामिन्द्रियाणां विदुर्बुधाः।
घननीहारयुक्तानां ज्योतिषामिव भास्करः॥
चक्षु रक्षायां सर्वकालं मनुष्यैर्यत्नः, कर्तव्ये जीविते यावदिच्छा।
व्यर्थो लोकोऽयं तुल्यरात्रिन्दिवानां, पुंसामन्धानां विद्यमानेऽपि वित्तेः॥

अतः इन पाँचों में सर्वप्रथम चक्षु का ही ग्रहण किया गया है। स्पर्शेन्द्रिय सभी इन्द्रियों में व्यापक है अतः सबसे अन्त में उसका उल्लेख किया गया है।

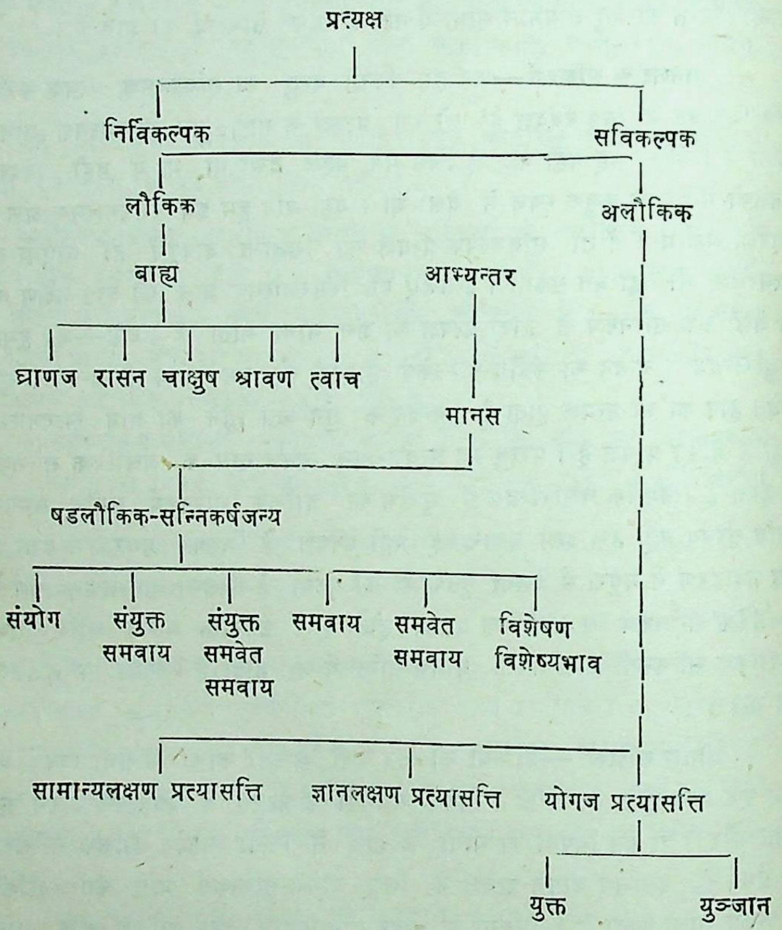
होती है। साधारण मनुष्य को सभी देशों और सभी कालों के धूमों का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। अतः धूम और अग्नि की व्याप्ति दोषपूर्ण न हो इसके लिए सामान्य लक्षण रूप अलौकिक का तात्पर्य यह है कि जब धूम का ज्ञान होता है तो धूमत्व विशिष्ट धूम का ही ज्ञान होता है और धूमत्व के सामान्य होने से धूमत्व रूप में सारे धूम का अलौकिक सन्निकर्ष होता है। यहाँ पर स्मरणीय है कि अन्विति में कारण बनने वाली व्याप्ति का हेतु ज्ञायमान सामान्य नहीं है अपितु सामान्य का ज्ञान है।

ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष—जब हम किसी वस्तु का सविकल्पक प्रत्यक्ष करते हैं जैसे 'यह घट है' 'यह देवदत्त है' तो इस प्रत्यक्ष के साथ कुछ स्मरणात्मक ज्ञान भी होता है। जैसे—यह वही घट है जिसे मैंने पहले देखा था या ये वही देवदत्त है जिसको मैंने पहले अमुक स्थल में देखा था। यहाँ यदि हम इस स्मरणात्मक अंश को स्मरणात्मक मान लें तो सविकल्पक प्रत्यक्ष का सिद्धान्त दोषपूर्ण हो जाएगा और प्रत्यभिज्ञा भी नहीं बन सकेगी। इसलिए इस स्मरणात्मक ज्ञान को ज्ञान-लक्षण नाम के अलौकिक सन्निकर्ष के द्वारा प्रत्यक्ष का अंग माना जाता है। जैसे—जब हमारा चक्षुरिन्द्रिय से चन्दन का संयोग-सन्निकर्ष होता है तो इसके साथ ही चन्दन के सुगन्धित होने का भी प्रत्यक्ष होता है। चन्दन के सुगन्धित होने का ज्ञान स्मरणात्मक नहीं है अपितु प्रत्यक्ष है। परन्तु यह प्रत्यक्ष-ज्ञान लक्षण नाम के अलौकिक सन्निकर्ष से होता है। क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय से सुरभि का लौकिक सन्निकर्ष संयोग समवाय आदि सम्भव नहीं है। इसी प्रकार यह वही देवदत्त है जिसको मथुरा में देखा था इस उदाहरण में मथुरा में देखना भूतकाल की घटना है जिसका ज्ञान-लक्षण नाम के अलौकिक सन्निकर्ष से अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। उपरोक्त वर्णित लौकिक तथा अलौकिक सन्निकर्ष के अतिरिक्त योगज सन्निकर्ष भी होता है जिसका वर्णन किया जा रहा है।

योगज सन्निकर्ष—योगियों को सारे देशों व सारे कालों के सभी विषयों का ज्ञान एक साथ होता है जबकि ये विषय योगियों के प्रत्यक्ष में विषयत्वेन कारण नहीं बनते और न ही इन विषयों का योगी के ज्ञान में किसी प्रकार लौकिक सन्निकर्ष ही संभव है, इसलिए योगज-प्रत्यक्ष के लिए योगज-सन्निकर्ष नाम का अलौकिक सन्निकर्ष माना जाता है। योगियों के अन्दर योग से एक विशेष धर्म या शक्ति उत्पन्न होती है। इस शक्ति के द्वारा योगी को अलौकिक-सन्निकर्ष होता है। योगी दो प्रकार के होते हैं—युक्त और युञ्जान। युक्त वे योगी हैं जो योग में परिपूर्ण हो चुके हैं जबकि युञ्जान योगी योग का अभ्यास ही कर रहे होते हैं। इनमें से युक्त योगियों को बिना किसी ध्यान-विशेष के आकाश परमाणु आदि समस्त पदार्थों का

ज्ञान हर समय रहता है जबकि युञ्जान योगियों को अलौकिक ज्ञान चिन्ता अर्थात् ध्यानविशेष के करने पर ही होता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण को अधोनिर्दिष्ट वृक्ष से समझा जा सकता है—



प्रत्यक्ष बलाबल विचार—आतुर सम्बन्ध एवं रोग सम्बन्धी सभी तथ्यों को प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं जाना जा सकता क्योंकि प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से होता है। हमें ज्ञात है कि इन्द्रियों की शक्ति असीमित नहीं है। एक सीमा के पश्चात् उनका व्यापार कुण्ठित हो जाता है तथा अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी कुछ नहीं जाना जा सकता। ऐसी स्थिति में दूसरे प्रमाणों की सहायता लेनी पड़ती है।

आज का विज्ञान केवल प्रत्यक्ष को ही मानता है। प्राचीन नास्तिक चार्वाक आदि केवल प्रत्यक्ष से उपलब्ध वस्तुओं में विश्वास करते थे। नास्तिक ज्ञान के लिये शब्द प्रमाण तथा अनुमान को अनावश्यक मानते हैं। शब्द प्रमाण का खण्डन करते हुये कहते हैं कि किसी क्षेत्र की बिलकुल सत्ता नहीं है और किसी चीज को मानवीय शक्तियों के परे मानना तथा वास्तविक न मानना दोनों एक ही बात है। अनुमान के निषेध का यह कारण बताया गया है कि उसके आधारभूत आगमनिक सम्बन्ध से व्यक्ति की सत्यता को समुचित रूप से सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि यह मान भी लिया जाय कि यह सम्बन्ध वस्तुतः होता है[1] तो भी इसका विनिश्चय अवलोकित तथ्यों पर निर्भर करता है तथा चूँकि अवलोकन का क्षेत्र अनिवार्यतः सीमित होता है, इसलिये नास्तिकों के अनुसार उससे जो निष्कर्ष प्राप्त होता है, उसके सार्वभौमीकरण का हमें कोई अधिकार नहीं मिलता। चार्वाक के अनुसार यदि अनुमान में हमारे साधारण विश्वास की व्यावहारिक जीवन में पुष्टि हो जाती है तो यह उसी तरह दैवयोग की बात है जिस तरह शकुनों का कभी-कभी सत्य होना है। दूसरे शब्दों में अनुमान अटकल से अतिरिक्त कुछ नहीं है।[2] अतः नास्तिक प्रत्यक्ष को ही एक मात्र प्रमाण मानने के कारण परलोक एवं पुनर्जन्म आदि नहीं मानते।

परलोक तथा पुनर्जन्म प्रभृति अप्रत्यक्ष भावों को प्रत्यक्ष के अलावा अन्य प्रमाणों के द्वारा सिद्ध करने के लिये भगवान् आत्रेय प्रत्यक्ष प्रमाण के संकुचित क्षेत्र का वर्णन करते हुये कहते हैं—

'परलोक एवं पुनर्जन्म का विचार करना हो तो सर्वप्रथम बुद्धिमान पुरुष के लिये यह उचित है कि वह नास्तिक्य बुद्धि (विपर्यय ज्ञान) तथा संशय बुद्धि (संशयात्मक ज्ञान) को त्याग दें। क्योंकि (प्रत्यक्ष न होने के कारण जो परलोक तथा पुनर्जन्म नहीं मानते उन्हें यह जानना चाहिये) कि प्रत्यक्ष योग्य वस्तुयें बहुत कम हैं और अप्रत्यक्ष वस्तुयें बहुत हैं जिनकी प्राप्ति आगम (शास्त्र प्रमाण), अनुमान तथा युक्ति प्रमाण से होती है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानने में यह दोष आ जायगा कि जिन इन्द्रियों से प्रत्यक्ष का ग्रहण होता है, वे इन्द्रियाँ स्वयं प्रत्यक्षगम्य नहीं हैं तो[3] क्या इन्द्रियों को न माना जाय ?

१. न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ११९-२०

२. भारतीय दर्शन की रूपरेखा—हिरियन्ना, पृष्ठ १९०

३. तत्र बुद्धिमान्नास्तिक्यबुद्धिं जह्याद्विचिकित्सां च। कस्मात्? प्रत्यक्षं ह्यल्पम्, अनल्पमप्रत्यक्षमिति, यदागमानुमानयुक्तिभिरुपलभ्यते, यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षानि।—च० सं० सू० ११।७

८

चरक संहिता के व्याख्याता चक्रपाणि कहते हैं कि इन्द्रियों की संसिद्धि अनुमान प्रमाण से होती है। यथा चक्षुर्बुध्यादिकाः करणकार्याः क्रियात्वात् छिदिक्रियावत्।

विभु होने के कारण ये इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करती हैं। चक्रपाणि के अनुसार विभिन्न इन्द्रियों से गृहीत विशेष गुण भी अनुमान से ही प्रमाणित होते हैं।[1]

दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण को ही प्रमाण स्वीकार करने वाले नास्तिक इत्यादि के मत में इन्द्रिय-सत्ता कथमपि सिद्ध नहीं की जा सकती क्योंकि इन्द्रियाँ अप्रत्यक्ष है। अतः जब इन्द्रियाँ ही नहीं हैं तो प्रत्यक्ष-प्रमाण में आवश्यक इन्द्रियार्थसन्निकर्ष असम्भव है जिससे कि स्वयं प्रत्यक्ष-प्रमाण का ही मूलोच्छेद हो जाता है। यदि नास्तिक यह कहे कि इन्द्रियाधिष्ठान ही इन्द्रियाँ हैं और इन्द्रियाधिष्ठान का प्रत्यक्ष होता है तब तो बहरे अन्धे होने पर इन्द्रियाधिष्ठान के होते हुए ज्ञान होना चाहिए जबकि ऐसा नहीं होता। इसलिए अन्य प्रमाणों की सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

यह बात अवश्य है कि प्रत्यक्ष अन्य प्रमाणों का बीज-भूत है जैसा कि कहा गया है 'प्रत्यक्षपूर्वकत्रिविधं त्रिकारणं च अनुमीयते' न्यायमञ्जरी में भी कहा गया है कि 'एवं प्रमाण ज्येष्ठेऽस्मिन प्रत्यक्षे-लक्षिते सति' न्याय सूत्रकार गौतम के अनुसार अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है।[2] न्याय भाष्यकार वात्स्यायन सभी प्रकार की प्रमितियों में प्रत्यक्ष को प्रधान मानते हैं।[3] प्रत्यक्ष प्रमाण का महत्व सर्वत्र समान रूप से स्वीकृत है, जिस प्रकार से प्रत्यक्ष प्रमाण प्रमा का जनक है उसी प्रकार से अन्य प्रमाण भी प्रमा के जनक होने से स्वतःसिद्ध हैं। जैसा कि चरक-संहिता के व्याख्याता चक्रपाणि का कथन है—'जिस प्रकार प्रत्यक्ष अव्यभिचरित प्रमा का जनक होने के कारण प्रमाण माना जाता है उसी प्रकार आगम और अनुमानादि भी तथाभूत प्रमा

---

१. चक्षुस्तैजसं रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशत्वाद-बाह्यालोकवत्, रसनमाप्यं, रूपादीनां मध्ये रसस्यैव प्रकाशकत्काद्दन्तोदकवत् तथा गन्धः स्वजातीय गुणोत्कर्षवदिन्द्रियग्राह्यः, भूतविशेषगुणत्वाद् रूपवादित्यादि।

—च० सू० ८।१४ पर चक्रपाणि

२. तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टं च।—न्या० सू० १।१।५

३. प्रत्यक्षपरा हि प्रमितिः।—वात्स्यायन

के जनक होने के कारण प्रमाण माने जाने चाहिए।'[1] अतः जो नास्तिक लोग प्रत्यक्ष के अविषय होने से पुनर्भव का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते वह अयुक्त है।

तात्पर्य यह हुआ कि यदि किसी वस्तु को प्रत्यक्ष के द्वारा उपलब्ध न किया जा सके तो इतने मात्र से उसके अभाव का निश्चय नहीं कर लेना चाहिए। क्योंकि ऐसा न मानने से जर्मनी इत्यादि दूरस्थ देशों के प्रत्यक्ष न होने से उनकी सत्ता सिद्ध नहीं होगी जबकि उनकी सत्ता सिद्ध है।

इसमें यह कुतर्क नहीं करना चाहिए कि प्रत्यक्ष से न उपलब्ध होने वाले जिस किसी पदार्थ के अस्तित्व की कल्पना कर ली जाय, क्योंकि दृढ़तर प्रमाणों के द्वारा ऐसे काल्पनिक पदार्थ का ज्ञान नहीं होता तो यह माना जाता है कि प्रत्यक्ष इसमें अयोग्य या असमर्थ है। जितनी भी बातें कोई व्यक्ति जानता है उनका छोटा सा अंशमात्र स्वयं देखकर या अनुमान करके उसे ज्ञात हुआ करता है। शेषांश के लिए पूर्णतः दूसरे साक्ष्यों पर निर्भर करता है।

प्रत्यक्ष में बाधक कारण

प्रत्यक्ष में रूपों के अतिसन्निकर्ष से, आवरण से, करण की दुर्बलता से, मन की अनवस्था से, समानाभिहार से, अभिभव से तथा सौक्ष्म्य से अनुपलब्धि होती है।[2] सांख्य दर्शन में भी कहा गया है—अत्यधिक दूर से व समीप होने से, इन्द्रिय के नाश या चित्त की अस्थिरता से, सूक्ष्म होने से, बीच में किसी रुकावट के आ जाने से, आक्रान्त हो जाने से, सदृश वस्तु में मिल जाने से भी वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता।[3]

तात्पर्य यह है कि विषय के विद्यमान होने पर भी कभी-कभी कुछ कारणों से उनका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। उन कारणों का विवेचन यहाँ किया जाएगा—

---

१. प्रत्यक्षं प्रमाणमव्यभिचारि प्रमा जनकत्वेन,
तथाऽऽगमादीन्यपि तथाभूत प्रमा जनकत्वात्
प्रमाणान्येव ततश्च प्रत्यक्षा विषयत्वेनैव यत्
पुर्नभवस्य नास्तित्वं व्यवस्थाप्यते तन्न युक्तमिति ।।'—च०सू० ११।७ पर चक्रपाणि

२. सतां च रूपाणामति सन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात् करणदौर्बल्यात्, मनोऽनवस्थानात् समानाभिहारादभिभवादिति सौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः।
—च० सू० ११।८

३. अतिदूरात् सामीप्यात् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्माद् व्यवधानादभिभवात् समनाभिहाराच्च ।।—सां० का० ७

(१) **अतिसन्निकर्षात्**—विषयों के अति सन्निहित होने पर प्रत्यक्ष नहीं होता जैसे—आँख का अञ्जन अत्यधिक समीप होने के कारण नहीं दीखता।[1]

(२) **अतिविप्रकर्षात्**[2]—विषय की अत्यन्त दूरवर्तिता से भी प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे—आकाश में उड़ता हुआ पक्षी अत्यधिक दूर होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं दीखता, दूर स्थित पुस्तक के अक्षरों को भी नहीं पढ़ा जा सकता। देशान्तर स्थित चैत्र, मैत्र, विष्णु, मित्र आदि को भी प्रत्यक्षतः नहीं देखा जा सकता।[3]

(३) **आवरणात्**—आवरण से अर्थात् गम्भीर आड़ के कारण भी प्रत्यक्ष से वस्तु का ज्ञान असम्भव है जैसे दीवाल का आड़ में रखे घट का प्रत्यक्ष नहीं होता।[4] दीवाल आदि की आड़ में छिपा हुई राजमहिषियों को कोई नहीं देख पाता।[5]

(४) **कारण दौर्बल्यात्**[6]—इन्द्रियों की विकृति से अर्थात् घात से अपने-अपने कार्य करने की शक्ति का नाश हो जाने के कारण अर्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे—अन्धे या बहरे को अथवा जैसे कामला के रोगी को शुक्लवर्ण का परिज्ञान नहीं होता। मोतियाबिन्द से पीड़ित तथा रात्र्यन्ध रोगी को भी इन्द्रिय-दुर्बलता से विषयोपलब्धि नहा हो सकती। इसी प्रकार बधिर तथा अन्धे को शब्द तथा रूप की उपलब्धि नहा हो सकती है।

---

१. अति सन्निकर्षादनुपलब्धिर्यथा नयनगतकज्जलादे।—चक्रपाणि

तुलनीय—(१) लोचनस्थमंजनमतिसामीप्यान्न दृश्यते।

—सा० का० ४ पर तत्वकौमुदी

(२) सामीप्याद्यथा चक्षुषाऽञ्जनानुपलब्धि।—गौड़पादकारिका

२. अति विप्रकर्षाद्यथा दूराकाशगतस्य पक्षिणः।—चक्रपाणि

तुलनीय—यथा उत्पतन् वियति पतत्रा अति दूरतया सन्नपि प्रत्यक्षेण नोपलभ्यते।

—वाचस्पति मिश्र, तत्वकौमुदी

३. इह सतामप्यर्थानां अतिदूरादनुपलब्धिर्दृष्टा।
यथा देशान्तरस्थानां चैत्रमैत्र, विष्णुमित्राणाम्॥—वही

४. आवरणाद्यथा कुड्यादिविहितस्य घटादेः।—चक्रपाणि

तुलनीय—व्यवधानाद्यथा कुड्येन विहितंवस्तु नोपलभ्यते।—गौडपाद

५. कुड्यादिव्यवहितं राजदारादिकं न पश्यति।—तत्वकौमुदी

६. कारणदौबल्याद्यथा कामलाद्युपहतस्य चक्षुषाः परशौक्ल्यादपि प्रतिभाति।

—चक्रपाणि

(१) **तुलनीय**—इन्द्रियाभिघातास्तथा बधिरान्धयोः शब्दरूपामुपलब्धिः।—गौड़पाद

(२) **तुलनीय**—इन्द्रिय घातोऽन्धलवबधिरत्वादिः।—वाचस्पति मिश्र

(५) **मनोऽनवस्थानात्**—मन के एकाग्र न होने पर विषय की उपलब्धि नहीं होती जैसे प्रेयसी दर्शन में कामुक व्यक्ति का मन एकाग्र हो जाने पर वह दूसरे व्यक्तियों के द्वारा किए जाते हुए कटाक्षों का प्रत्यक्ष नहीं कर पाता।[1] अथवा कामवासना इत्यादि से विक्षिप्त चित्त वाला पुरुष स्पष्ट प्रकाश में पड़े हुए इन्द्रिय गोचर पदार्थ को नहीं देखता।[2] मन के स्थिर न होने पर व्याख्यान कक्ष में बैठा हुआ छात्र अध्यापक के द्वारा उपदेश किये हुए विषय को ग्रहण नहीं कर सकता।

(६) **समानाभिहारात्**—समान वस्तु में मिश्रण से भी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। जैसे बेल की ढेरी में मिले हुए एक बेल को नहीं पहचाना जा सकता।[3] एक मुद्ग-राशि में गिरे हुए एक मुद्ग को नहीं पहचाना जा सकता[4] या जैसे सरोवर में गिरे हुए जलबिन्दुओं को कोई नहीं देख पाता।[5]

(७) **अभिभवात्**—किसी वस्तु के अन्य वस्तु के द्वारा आक्रान्त या तिरस्कृत होने पर भी उस वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। जैसे मध्याह्न में उल्कापात सूर्य के कारण अभिभव हो जाने से देखा नहीं जा सकता।[6] अथवा जैसे दिन में सूर्य के प्रकाश में आक्रान्त ग्रह-नक्षत्रों को कोई देख नहीं पाता।[7]

(८) **सौक्ष्म्यात्**—अति सूक्ष्म होने के कारण वस्तु प्रत्यक्षगत नहीं हो पाती। जैसे तीन चार हाथ की दूरी पर लीख आदि कृमि नहीं दिखायी पड़ते। अथवा

---

१. मनोऽनवस्थानाद्यथा कान्तामुख निरीक्षणप्रहितमनसःपार्श्वगत वचाननवरोधः।
—**चक्रपाणि**

तुलनीय—व्यग्रचित्तं सम्यक् कथितं नावधारयति।—**गौड़पाद**

२. यथा कामाद्युपहत मनाःस्फीता लोकमध्यवर्तिनमिन्द्रियसन्निकृष्टमप्यर्थं न पश्यति।
—**वाचस्पति मिश्र**

३. समानाभिहाराद्यथा बिल्वराशि प्रविष्टस्य बिल्वस्य इन्द्रिय सम्बद्धस्यापि भेदेनाग्रहणम्।—**चक्रपाणि**

४. मुद्गराशौ मुद्गः क्षिप्तः, कुवलयाम्लकमध्ये कुवलयाम्लकेक्षिप्ते, कपोत मध्ये कपोतो नोपलभ्यते समानमध्याहृतत्वात्।—**गौड़पाद**

५. यथातोयदविमुक्तानुदकबिन्दून जलाशये न पश्यति।—**वाचस्पति मिश्र**

६. अभिभवाद्यथा मध्य दिने उल्कापातस्य।—**चक्रपाणि**

७. सूर्य तेजसाभिभूताः ग्रहनक्षत्रतारकादयोनोपलभ्यन्ते।—**गौड़पाद**

तुलनीय—यथाऽहनि सौरीभिभाभिरभिभूतं ग्रहनक्षत्रमण्डलं न पश्यति।
—**वाचस्पति मिश्र**

आकाश स्थित विविध परमाणुओं को भी नहीं देखा जा सकता ।[1] जैसे स्थिर चित्त वाला पुरुष भी इन्द्रिय सम्बद्ध परमाणु को नहीं देख पाता ।[2]

इन आठ बाधक कारणों से अर्थों की उपलब्धि नहीं हो पाती ।

परन्तु यह सत्य है कि वाह्य प्रत्यक्ष आभ्यन्तर प्रत्यक्ष के कारणभूत मन से ही सम्भव है क्योंकि बाह्य प्रत्यक्ष में आवश्यक सभी इन्द्रियाँ मनःपुरस्सर अर्थात् मन के अधीन (मन की प्रेरणा से मन को आगे कर) अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हैं ।[3] बिना मन के आत्मा इन्द्रिय तथा विषय के रहते हुए भी ज्ञान नहीं होता ।[4] उसी तथ्य को वृहदारण्यकोपनिषद् में बताया गया है—'मेरा मन अन्यत्र था इसलिए मैंने नहीं देखा', 'मेरा मन अन्यत्र था अतः मैं नहीं सुना', 'मन से ही यह आत्मा देखता है और सुनता है ।'[5] तात्पर्य यह है कि नेत्र से रूप का, कान से शब्द का सम्पर्क होने के समय नेत्र और कान से मन सम्बद्ध नहीं था अतः न तो नेत्र द्वारा रूप देखा गया और न ही कान द्वारा शब्द सुना गया ।

वाग्भट तथा सुश्रुत के द्वारा उपदिष्ट रोगिपरीक्षोपयोगी प्रमाण इस पंचविध प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं है । महर्षि सुश्रुत कहते हैं कि रोग जानने के उपाय छः हैं । जैसे श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियाँ और मन ।[6] महर्षि सुश्रुत ने यहाँ पर श्रोत्र, नेत्र, नासिका, जिह्वा, त्वचा इन पाँच इन्द्रियों को पंचविध अर्थ ज्ञान में अलग-अलग प्रमाण मानकर पाँच प्रमाण माने हैं परन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि ये इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष

---

१. सौक्ष्म्यद्यथा त्रिचर्तुहस्त प्रमाण देशवर्तिनः कृमि विशेष लिख्यादेर्ग्रहणम् ।—चक्रपाणि
   तुलनीय—धूमोष्णजलादि परिमाणवो गगनगताः नोपलभ्यन्ते ।—गौडपाद
२. यथेन्द्रिय सन्निकृष्टं परमाण्वादि प्रणिहितमनाऽपि न पश्यति ।—वाचस्पति मिश्र
३. मनःपुरस्सराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणे समर्थानि भवन्ति ।—च० सू० ८।७
४. लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च ।
   सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षेण वर्तते ॥
   वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते ।—च० शा० १।१८
   तुलनीय—चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न चक्षुषा ।
   मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति ॥—महाभारत
५. अन्यत्र मनाअभूवं नादर्शम् ।
   अन्यत्र मना अभूवं नाश्रौषम् ।
   मनसा ह्येष पश्यति मनसा श्रणोति ।
६. तद्यथा पंचभि श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति ।—सू० सं० १०।४

से उत्पन्न पंचविधज्ञान प्रत्यक्ष-प्रमाण से अलग नहीं है। वाग्भट ने कहा है कि दर्शन, स्पर्शन तथा प्रश्न से रोगी की परीक्षा करनी चाहिए। दर्शन द्वारा बाल्य-युवा-वृद्धावस्था, शरीर के प्रदेशों में विकृति या मर्मस्थान आदि को चक्षुरिन्द्रिय से देखकर प्रत्यक्ष से परीक्षा की जाती है। स्पर्श के द्वारा व्रण की कठोरता, कोमलता, उष्णता तथा शीतलता का ज्ञान होता है। उपर्युक्त दर्शन, स्पर्श से ज्ञान, चक्षु तथा त्वगिन्द्रिय से होता है। अतः वे प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत आ जाते हैं।

प्रश्नपूर्वक भी परीक्षा की जाती है। यदि रोगी से यह प्रश्न पूछा जाय कि तुम्हारी अग्नि आहार को उचित रूप में पचाती है या नहीं तो रोगी के द्वारा उत्तर दिए जाने पर अनुमान से अग्नि के बल की परीक्षा की जाती है। इस प्रकार यह प्रश्नपूर्वक परीक्षा अनुमान के अन्तर्गत आ जाती है। अतः यह स्वतन्त्र परीक्षा नहीं है।

इतने विवेचन का तात्पर्य यह हुआ कि वाग्भट ने तीन एवं सुश्रुत ने रोगि-परीक्षा में जो छः प्रमाण बताए हैं, वे स्वतन्त्र प्रमाण नहीं हैं क्योंकि इनका समावेश प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण में हो जाता है।

प्रत्यक्ष से विज्ञेय-भाव

प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा रोग के तत्व को जानने की इच्छा रखने वाला वैद्य रोगी के शरीर में रहने वाले शब्द, स्पर्श, रूप तथा गन्ध इन इन्द्रियार्थों को अपनी सभी इन्द्रियों के द्वारा परीक्षा करे परन्तु रोगी के शरीरगत रस की परीक्षा प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं करना चाहिए।[1] रस के प्रत्यक्ष का निषेध इसलिए है कि वह घृणा-जनक होने से उसका अनुमान करना चाहिए। अब प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय से ज्ञेय वस्तुओं का विवरण प्रस्तुत किया जायेगा।

श्रोत्रेन्द्रिय से विज्ञेय—अन्त्रकूजन (आँतों में शब्द होना) सन्धियों तथा उँगलियों के पोरों के जोड़ों का चटकना, विशेष प्रकार के स्वर तथा अन्य भी जो कुछ शरीर में शब्द हों जैसे (खाँसी, हिचकी, डकार, फेफड़ों और हृदय की धड़कन आदि) इन सभी प्रकार के शब्दों की श्रोत्र के द्वारा परीक्षा करनी चाहिए। श्रोत्रिन्द्रिय से जानने योग्य शल्योपयोगी विज्ञानायादि अध्यायों में किया गया है जैसा कि वहाँ कहा

१. न तु प्रमेहादिषु रसाः मधुरादयोः मक्षिका पिपीलिलकाद्युपसर्पणेन भिषग्रनुमेयाः तत कथं रसनेन्द्रियविज्ञेया इति ? उच्यते, नात्र भिषजां रसनेन्द्रियं किन्तु पिपीलि-कादीनामित्यदोषः।—डल्हण

है कि फेनयुक्त रक्त में गति पैदा करने वाला वायु निकलते समय शब्द पैदा करता है इत्यादि ।[1]

चक्षुरिन्द्रिय विज्ञेय—शरीर का वर्ण, संस्थान, परिमाण तथा छाया (कान्ति), शरीर की स्वाभाविक और विकृति अवस्था आदि तथा इनके अतिरिक्त चक्षु का विषय बनने वाले जो कोई अन्य भाव हों उनकी सबकी चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा परीक्षा करना चाहिए ।

चक्षुरिन्द्रिय से यह ज्ञान हो जाता है कि वर्ण कृष्ण है, श्याम है, श्यामावदात (श्याम गौर) या अवदात (गौर) है, इन वर्णों के अतिरिक्त जो भी वर्ण, इन वर्णों के सदृश हो या वर्ण विशेष को जानने वाले विद्वान् अन्य जिन वर्णों का निर्देश करें उन सभी वर्णों को प्रकृत वर्ण कहा जाता है तथा नील, श्याव, ताम्र, हरित तथा शुक्ल ये शरीर के वर्ण वैकारिक कहे जाते हैं ।

यदि उपर्युक्त प्राकृतिक तथा वैकृतिक वर्ण आधे शरीर में पाये जाते हैं अर्थात् आधे शरीर में सीमा निर्धारित कर वैकारिक वर्ण हों तो इस प्रकार प्राकृतिक तथा वैकृतिक दोनों वर्णों का होना अरिष्ट समझा जाता है ।[2]

संस्थान से तात्पर्य आकृति से है । वह आकृति सुषमा (Symmetrical) और विषमा (Asymmetrical) होती है ।[3]

शरीर का प्रमाण त्रिविध होता है—(१) मध्यम, (२) अल्प, (३) महान् ।[4]

छाया भी छाया तथा प्रतिच्छाया के भेद से दो प्रकार का होती है ।

छाया—यहाँ पर छाया से तात्पर्य शरीरगतछाया से है । वह पंचविध होती है—

(१) नाभसी लाया ।
(२) वायवी लाया ।
(३) आग्नेयी छाया ।
(४) आम्भसी छाया ।
(५) पार्थिवी छाया ।

---

१. तत्र श्रोत्रेन्द्रियविज्ञेया विशेषा रोगेषु व्रणास्त्रावविज्ञानीयादिषु वक्ष्यन्ते—'तत्र सफेनं रक्तमीरयन्ननिलः सशब्दो निर्गच्छति'....।—सु० सु० १०।१५

२. च० इ० १।८-१०

३. संस्थानमाकृतिर्ज्ञेया सुषमा-विषमा च ।—च० इ० ७।८

४. मध्यमल्पं महच्चोक्तं प्रमाणं त्रिविधं नृणाम् ।—वही

चरक संहिता में उपलब्ध विवरण इन पंचविध छायाओं का तुलनात्मक अध्ययन निम्नलिखित रूप में दिया जा रहा है[1]—

छाया के पाँच भेद

नाभसी	वायवी	आग्नेयी	आम्भसी	पार्थिवी
निर्मल	रूक्ष	विशुद्ध रक्त वर्ण	विमल (शुद्ध) वैदूर्य के (समान)	स्थिर
नीलवर्ण	श्याववर्ण	दर्शनप्रिय	सुस्निग्ध	स्निग्ध
सस्नेह	अरुणवर्ण	दीप्ताभा		घन
सप्रभा	हृतप्रभा			श्लक्ष्ण श्याम वर्ण श्वेत वर्ण

प्रतिच्छाया—प्रत्येक देह के प्रमाण तथा आकृति के अनुसार जल में, शीशे में, तथा धूप आदि में जो छाया दिखायी पड़ती है उसे प्रतिच्छाया कहते हैं।[2]

ऊपर की पंक्तियों में जिस छाया का वर्णन किया गया है वह छाया शरीरगत वर्ण तथा प्रभा के आश्रित होती है।[3] वर्ण का विवेचन इस स्थल के कुछ पूर्व किया जा चुका है। यहाँ पर प्रभा का विवेचन किया जायेगा।

प्रभा तेज से उत्पन्न होती है तथा यह सात प्रकार की होती है—(१) रक्त, (२) पीत, (३) श्वेत, (४) श्याव, (५) हरित, (६) पाण्डुर, (७) काली। छाया

---

१. च० इ० ७।१०-१२

२. प्रतिप्रमाणसंस्थाना जलादर्शातपादिषु। छाया या सा प्रतिच्छाया।
—च० इ० ७-९

३. छाया वर्णप्रभाश्रया।—वही

यद्यपि प्रभा के आश्रित है परन्तु छाया तथा प्रभा में अन्तर है। इस अन्तर का संग्रह निम्नांकित रूप में किया जा सकता है।[1]

छाया तथा प्रभा में अन्तर

(१) छाया वर्ण को आच्छादित करती है।	(१) प्रभा वर्ण को प्रकाशित करती है।
(२) छाया आसन्न आने पर दिखायी पड़ती है।	(२) प्रभा प्रकृष्ट से ही दिखायी पड़ती है।
(३) छाया के नाभसी, वायवी, आग्नेयी, आम्भसी तथा पार्थिवी ये पाँच भेद हैं।	(३) प्रभा के रक्ता, पीता, सिता, श्यावा, हरिता, पाण्डुरा तथा असिता ये सात भेद होते हैं।
(४) छाया की उत्पत्ति प्रत्येक महाभूत की प्रधानता से होती है।	(४) प्रभा की उत्पत्ति तैजस महाभूत से होती हैं।
(५) छाया वर्ण तथा प्रभा पर आश्रित है।	(५) प्रभा स्वतन्त्र है।

घ्राणेन्द्रियविज्ञेय भाव—रोगी के सम्पूर्ण शरीर में विद्यमान प्राकृतिक तथा वैकारिक ग्रन्थों की घ्राणेन्द्रिय के द्वारा परीक्षण करना चाहिए।

---

१. स्यात्तैजसी प्रभा सर्वा सा तु सप्तविधा स्मृता।
रक्ता पीता सिता श्यावा हरिता पाण्डुरा सिता ॥
तासां याः स्युर्विकासिन्यः स्निग्धाश्च विपुलाश्च याः।
ताः शुभा रुक्षमलिनाः संक्षिप्ताश्चशुभोदयाः ॥
वर्णमाक्रामतिच्छाया भास्तुवर्णप्रकाशिनी।
आसङ्ग लक्ष्यतेच्छाया भाः प्रकृष्टा प्रकाशते ॥
नाच्छायो नाप्रभः कश्चिद्विशेषश्चिह्नयन्ति तु।
नृणां शुभाशुभोत्पत्तिं काले छायाप्रभाश्रयाः ॥

—च० स० इ० ७।१४-१६

स्पर्शेन्द्रिय विज्ञेय—(रोगी के शरीरगत) स्वाभाविक तथा वैकारिक स्पर्श को हाथ से छूकर परीक्षा करे।[1]

उपर्युक्त ज्ञेय विषय काय-चिकित्सा में उपयोगी हैं। अब शल्यचिकित्सा में उपयोगी विषय का संकलन किया जा रहा है। व्रणों की परीक्षा दर्शन (देखकर), प्रश्न (पूछकर) तथा संस्पर्श (स्पर्शकर) भेद से तीन प्रकार की बतायी गयी है। इस त्रिविध परीक्षा में दर्शन तथा संस्पर्श परीक्षा ही प्रत्यक्ष प्रमाणान्तर्गत आयेगी। दर्शन से रोगी का वय (बाल्य, युवा, वृद्धावस्था) तथा वर्ण (रोगी के शरीर का रंग या व्रण का वर्ण), शरीर तथा इन्द्रियों की परीक्षा करनी चाहिए। स्पर्श के द्वारा विपरीत ज्ञान के साथ मार्दव तथा शैत्य की परीक्षा करनी चाहिए अर्थात् मृदुता उसके विपरीत कठिनता, शीतलता उसके विपरीत उष्णता की परीक्षा करनी चाहिए।[2] इन्द्रियों तथा इन्द्रियों के अधिष्ठान का परीक्षण भी चक्षु से करना चाहिए। परन्तु इन्द्रियों के अतीन्द्रियत्व का परीक्षण अनुपयुक्त है।[3]

ऊपर की पंक्तियों में जो दर्शन तथा स्पर्शन-परीक्षा का संकलन किया गया है वह निमित्तमात्र से है। वस्तुतः दर्शन शब्द का तात्पर्य है 'साक्षाद् उपलब्धि'।[4]

---

१. प्रत्यक्षस्तु खलु रोगतत्वं बुभुत्सुः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थानातुरशरीरगतान् परीक्षेत्, अन्यत्र रसज्ञानात्; तद्यथा अन्त्रकूजनं, सन्धिस्फुटनमङ्गुलीपर्वणां च, स्वरविशेषांश्च, ये चान्येऽपि केचिच्छरीरोपगताः शब्दाः स्युस्ताञ्छ्रोत्रेण परीक्षेत्, वर्णसंस्थानप्रमाणच्छाया, शरीरप्रकृतिविकारौ, चक्षुर्वैषयिकाणि यानि चान्यान्यनुक्तानि तानि चक्षुषा परीक्षेत्, रसं तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादवगच्छेत्, न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमुपपद्यते, तस्मादातुरपरिप्रश्नेनैवातुरमुखरसं विद्यात्—गन्धांस्तु खलु सर्वशरीरगतानातुरस्य प्रकृतिवैकारिकान् घ्राणेन परीक्षेत्; स्पर्शं च पाणिना प्रकृतिविकृतियुक्तम् इतिप्रत्यक्षतः····परीक्षणमुक्तम्।
—च० वि० ४।८

२. दर्शनप्रश्नसंस्पर्शैः परीक्षा त्रिविधा स्मृता। वयोवर्णशरीराणामिन्द्रियाणां च दर्शनात्।··············। स्पर्शान्मार्दवशैत्ये च परीक्ष्ये सविपर्यये।
—च० चि० २५।२२-२३

३. इन्द्रियाणि च यद्यपि अतीन्द्रियत्वादनुमानगम्यानि, तथापीह तदधिष्ठानानामिन्द्रिय शब्देनेऽपादानम्।—चक्रपाणि

४. दर्शनशब्दश्चात्र साक्षादुपलब्धिवचनः। तेन व्रणगन्धेनापि व्रणपरीक्षणं संगृहीतं भवति। दर्शनशब्देन गृहीतोऽपि स्पर्शः इह भूयसा व्याप्रियमाणत्वात् पुनरुक्तः।
—च० चि० २५।२३ पर चक्रपाणि

अतः दर्शन तथा स्पर्श-परीक्षा में कोई महत्वपूर्ण भेद नहीं। 'साक्षाद् उपलब्धि' यह अर्थ लेने पर व्रण गन्ध से व्रण परीक्षण का ग्रहण हो जायेगा।

आयुर्वेद के शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर वैद्य प्रत्यक्ष-प्रमाण के द्वारा रोगी के शरीरगत भावों की परीक्षा करता है। इसलिए पहले आप्तोपदेश उसके अनन्तर प्रत्यक्ष का विवेचन किया गया। अब इसके बाद अनुमान प्रमाण का लक्षणोपन्यास-पूर्वक विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा।

अनुमान

भारतीय दर्शनों में चार्वाकों के अलावा प्रायः सभी दार्शनिकों ने अनुमान की प्रामाणिकता स्वीकार की है। अनेक विचारकों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि अनुमान प्रमाण न स्वीकार किया जाय तो प्रत्यक्ष प्रमाण भी सिद्ध नहीं हो सकता,[1] क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण की साधनभूत इन्द्रियाँ स्वयं भी अतीन्द्रिय हैं, जो अपनी सिद्धि के लिए अनुमान की अपेक्षा करती है। यदि शरीर में स्थित तद् इन्द्रियों के स्थानों को ही इन्द्रिय मान लिया जाय तथा अतीन्द्रिय की कल्पना को स्वीकार नहीं किया जाय, तब स्थानात्मक इन्द्रियों की प्रमाणता अनुमान के बिना सिद्ध नहीं हो सकती। भारत की जीवन दृष्टि ऐसी अनेक मान्यताओं पर अवलम्बित है, जो अनुमान के बिना प्रदर्शित नहीं की जा सकती है, जैसे पुनर्जन्म, ईश्वर, आत्मा, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, अमृत तथा उत्पन्न होने वाले प्राणियों के प्रति मनुष्य का कर्तव्य आदि। यदि अनुमान का परित्याग कर दिया जाय, तो भारतीय संस्कृति का स्वरूप ही नष्ट हो जायेगा। भारत की सम्पूर्ण विद्याएँ, शास्त्र एवं वाङ्गमय अनुमान की आधारशिला पर अवस्थित हैं, भारतीय कला, भारतीय संगीत, भारत की लोकोक्तियाँ तथा भारतीय जीवन के समस्त पक्ष अनुमान के अवलम्बन पर जीवित हैं। इसीलिए कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी अर्थात् अनुमान विद्या को समस्त विद्याओं का प्रकाशक, सरल कर्मों का उपाय तथा यावत् धर्मों का आश्रयदात्री बतलाया है।[2]

व्युत्पत्तिमूलक अर्थ

अनुमान शब्द 'अनु' उपसर्गपूर्वक 'मा' धातु से निष्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि 'अनु' तथा 'मान' दो शब्दों के योग से अनुमान शब्द बना है। 'अनु' शब्द पश्चात् अर्थ का बोधक है और पश्चात् शब्द नियमतः प्रतियोगी-साकाङ्क्ष है--इस

१. भारतीय दर्शन में अनुमान—डा० ब्रजनारायण शर्मा, भूमिका पृ० ३८

२. प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ।।—कौटिल्य अर्थशास्त्र

पश्चात् अर्थ में, लिङ्ग तथा लिङ्गी का सम्बन्ध और लिङ्ग-ज्ञान ये दोनों ही प्रतियोगी के रूप में अनुमित होते हैं। 'मान' शब्द ज्ञान का परिचायक है। लिङ्ग और लिङ्गी का यह सम्बन्ध ही व्याप्ति या अविनाभाव आदि शब्दों से व्यक्त किया जाता है। अतः 'लिङ्गलिङ्गीसम्बन्धज्ञान' से हेतु में रहने वाली साध्य की व्याप्ति का ज्ञान अभिप्रेत है। लिङ्ग ज्ञान से पक्षधर्मता ज्ञान गृहीत किया जाता है। इस दृष्टिकोण से 'अनु' शब्द से अर्थात 'व्याप्ति ज्ञान' तथा 'पक्षधर्मता ज्ञान' इन दोनों के पश्चात् जो 'मान' अर्थात् ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे अनुमान कहते हैं। साधारणतः दो ज्ञात सत्यों के द्वारा किसी अज्ञात सत्य का ज्ञान करना ही अनुमान है। न्यायसूत्रकार कहते हैं—'तत्पूर्वंक त्रिविधमनुमानम्' (न्या० सू० १।१।५)। यहाँ तत् का तात्पर्य है प्रत्यक्षपूर्वक। 'तत्' पद की व्याख्या करते हुए भाष्यकार वात्स्यायन ने लिखा है—'तत्' शब्द से लिङ्ग-लिङ्गी दर्शन एवं लिङ्ग दर्शन दोनों अभिप्रेत है। लिङ्गी के साथ लिङ्ग का सम्बन्ध ग्रहण हो जाने के उपरान्त लिङ्ग दर्शन से व्याप्ति का स्मरण होता है, व्याप्ति स्मरण के पश्चात् होने वाले लिङ्ग ज्ञान से परोक्ष अर्थ का जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहते हैं।[1] भाष्यकार की इस व्याख्या को अधिक सुस्पष्ट करते हुए उद्योतकर ने लिखा है कि महानस आदि में लिङ्ग लिङ्गी के सम्बन्ध दर्शन अर्थात् ज्ञान रूप प्रथम प्रत्यक्ष के अनन्तर पर्वत आदि पक्ष मे धूम आदि लिङ्ग का द्वितीय प्रत्यक्ष होने पर अनुमित्सा वाले पुरुष को संस्कारों के उद्बोध द्वारा—'जहाँ जहाँ धूम होता है, वहाँ वहाँ अग्नि होता है' इस व्याप्ति का स्मरण होता है, और व्याप्ति के स्मरण के अनन्तर जो पर्वत पर 'अयं धूमः'—'यह धूम है' इस प्रकार का तृतीय लिङ्ग दर्शन अर्थात् धूम हेतु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। उपरोक्त व्याप्ति तथा धूम इन दोनों ज्ञात तथ्यों के आधार पर, हमें यह तत्काल यह बोध हो जाता है कि पर्वत पर अग्नि अवश्य है। (इस ज्ञान में किसी के कहने सुनने की अथवा पर्वत शिखर पर जाकर अग्नि को प्रत्यक्ष देखने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती)। इस तृतीय लिङ्ग दर्शन को ही उद्योतकर ने पारिभाषिक रूप से परामर्श[2] या लिङ्गपरामर्श[3] कहा है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि अनुमान के लिए व्याप्ति ज्ञान तथा पक्षधर्मता ज्ञान दोनों आवश्यक है। व्याप्ति तथा पक्षधर्मता ज्ञान में पक्ष, साध्य तथा हेतु

---

१. न्या० भा०, पृ० १४२-१४६

२. न्या० वा०, पृ० १३४-४०

३. वही, पृ० १४३

निहित हैं। अतः अनुमान की प्रक्रिया को पूर्ण रूप से समझने के लिए इन पदों का भलीभाँति जानना परमावश्यक है।

पक्ष

'पच्यते इति पक्षः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर पक्ष उस वस्तु को कहा जा सकता है, जो अपने में साधन तथा साध्य दोनों को समाविष्ट करने की सामर्थ्य रखती है। इसीलिए इसे साध्य तथा साधन दोनों का आश्रय या अधिकरण कहा जाता है। वास्तव में बिना किसी आश्रय के साधन तथा साध्य की कल्पना असंगत है। जैसे, 'पर्वत वह्निमान' है, 'क्योंकि वहाँ धूम है' यहाँ साधन धूम और साध्य अग्नि दोनों का अधिकरण पर्वत है। किन्तु केवल अधिकरण होने से ही किसी को पक्ष नहीं कहा जा सकता, अन्यथा महानस भी पक्ष कहलाने लगेगा। इसीलिए इसमें संदिग्ध विशेषण लगाया जाता है अर्थात् जिस आश्रय में साध्य संदिग्ध रूप से रहता हो, उसे पक्ष कहते हैं। अनुमान हेतु ज्ञात रहता है तथा साध्य अज्ञात। इसीलिए अनुमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानने वाले समस्त चिन्तकों ने हेतु का पक्षधर्मत्व रूप स्वीकार किया है। 'पक्ष' का प्रयोग प्रायः सभी दार्शनिकों ने किया है, बौद्ध लोग, जो पक्ष प्रतिपादक प्रतिज्ञा वाक्य को आवश्यक नहीं मानते, फिर भी हेतु के 'पक्षधर्मत्व' रूप में पक्ष का उपन्यास करते हैं। पक्ष को धर्मी अथवा एकदेशी भी कहा गया है, क्योंकि साधन तथा साध्य रूप दो धर्म या एकदेश इसमें रहते हैं।

अनुमान का दूसरा आवश्यक पद है साध्य। लिङ्गी, साध्य, व्यापक, नियम्य, आपाद्य, गम्य, अप्रतिबद्ध आदि सभी पद एकार्थवाची है। सुश्रुतसंहिता, प्राचीन न्यायग्रन्थों, तथा 'सांख्यकारिका' आदि मे लिङ्ग-लिङ्गी के रूप में हेतु तथा साध्य को व्यक्त किया गया है। जिस वस्तु का ज्ञान लिङ्ग द्वारा होता है उसे लिङ्गी कहते हैं। 'साध्य सिद्धिः साधनात्' अर्थात साधन द्वारा जिस वस्तु की सिद्धि की जाती है, उसे साध्य कहते हैं। व्याप्य से अधिक देश में रहने के कारण इसको व्यापक कहा जाता है, व्याप्य का ज्ञान होने पर जिस वस्तु का बिना किसी अपवाद के ज्ञान होता हैं, उसे भी व्यापक कहते हैं। इसको नियम्य कहने का तात्पर्य यह है कि हेतु और साध्य की नियम रूप व्याप्ति सम्बन्ध के नियामक द्वारा नियम्य अर्थ का नियमन होता हैं। जिस वस्तु का आपादक द्वारा व्यवस्थापन (आपादान) किया जाये, उसे आपाद्य कहा जाता है। गमक द्वारा जिस अर्थ की सत्ता ज्ञापित होती है, वही गम्य है या प्रमाणान्तर से असिद्ध होने के कारण भी इसे गम्य, बोध्य या अप्रतिबद्ध कहा जाता है।

तृतीय अपरिहार्य पद हेतु कहलाता है। हेतु, लिङ्ग, साधन, व्याप्य, गमक, प्रतिबद्ध, नियामक एवं आपादक पद पर्यायवाची है। चरक के निदान स्थान में हेतु के आठ पर्यायवाची दिये गये हैं—हेतु, निमित्त, आयतन, कर्तृ, कारण, प्रत्यय,

समुत्थान और निदान। चरक हेतु की परिभाषा 'ज्ञान के कारण' के रूप में करते हैं और ज्ञान का कारण है प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्य एवं औपम्य प्रमाण। न्यायसूत्रान्तर्गत हेतु की परिभाषा में अनुमान के द्वारा स्थापित सम्बन्ध से युक्त साधर्म्य और वैधर्म्य के माध्यम से केवल अनुमान विषयक प्रत्यक्ष हेतु का ही उल्लेख है।[1] यहाँ चरक बतलाते हैं कि हेतु प्रत्यक्ष, अनुमान और औपम्य अथवा ऐतिह्य कोई भी हो सकता है, परन्तु किसी भी साधन से इसकी प्राप्ति हो, जब इसका परिणाम ज्ञात होता है, तो इसे हेतु कहते हैं। इस प्रकार 'पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि इससे धूम उठ रहा है; इस वाक्य में धूम हेतु है और इसका नेत्र से प्रत्यक्ष होता है। परन्तु, 'वह बीमार है, क्योंकि उसे मन्दाग्नि है' इस वाक्य में हेतु का सीधा प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल अनुमान ही होता है, क्योंकि किसी के मन्दाग्नि होने के तथ्य का सीधा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। पुनः, जब यह कहा जाता है 'पुरुष नित्य है, क्योंकि वह अकृत है'—इस वाक्य में अकृतकत्व हेतु है, परन्तु इसका न तो प्रत्यक्ष होता है और न अनुमान ही, अपितु शास्त्रों के प्रमाण से इसी अंगीकार किया जाता है। पुनः 'उसका मुख कान्तितम है क्योंकि उसकी उपमा चन्द्रमा से दी गई है' इस वाक्य में चन्द्रमा की उपमा देने का तथ्य, हेतु है और उसे उपमा की संज्ञा दी गई है।[2] इस प्रकार चरक की हेतु की परिभाषा का गौतम की परिभाषा से वस्तुतः संघर्ष नहीं होता, उनका तो केवल यह कथन कि हेतु की उपलब्धि किसी भी प्रमाण से हो सकती है, और किसी भी प्रमाण से इसकी उपलब्धि हो, यह हेतु कहा जा सकता है, यदि यह सदा तथा अविनाभाव से साध्य से सम्बद्ध हो।[3]

लक्षण

सुश्रुत के टीकाकार आचार्य डल्हण कहते हैं—'लिङ्ग को देखकर लिङ्गी का व्यभिचाररहित ज्ञान प्राप्त करना अनुमान कहलाता है।[4] जैसा कि हम ऊपर की

---

१. उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः, तथा वैधर्म्यात्।—न्या० सू० १।१।३४-३५

२. च० वि० ८।१२२ पर गंगाधर कृत जल्पकल्पतरु

३. हेतुश्चाविनाभावलिङ्गवचनं यद्यपि, तथापि, तथापीह लिङ्गप्रग्राहकाणि प्रत्यक्षादि-प्रमाणान्येव यथोक्तहेतुमूलत्वेन हेतुशब्देनाह।—च० वि० ८ पर चक्रपाणि

४. अनु पश्चाद् व्यभिचारिलिङ्गालिङ्गी मीयते ज्ञायते येन तदनुमानं।

—सु० सू० १।१६ पर डल्हण

तुलनीय—(क) मितेन लिङ्गेनार्थस्य पश्चान्मानमनुमानम्।—न्या० भा० १।१।३

(ख) व्याप्तिग्रहणादनु-अनन्तरं मीयते सम्यक् निश्चीयते परीक्ष्योऽर्थो येन तदनुमानम्।—च० सू० ११।२२ पर चक्रपाणि

पंक्तियों में कह चुके हैं कि लिङ्ग से तात्पर्य ज्ञान के विषयभूत धूम इत्यादि से है तथा 'लिङ्ग हो वर्तमान जिसमें' इस व्युत्पत्ति से लिङ्गी पद 'वह्नि' का वाचक है। लिङ्ग तथा लिङ्गी के व्याप्ति ज्ञान से तथा लिङ्ग के पक्षधर्मता ज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है। इस प्रकार से लिङ्ग दर्शन के पूर्व लिङ्ग तथा लिङ्गी के सम्बन्ध का दर्शन तथा लिङ्ग दर्शन के पश्चात् उक्त सम्बन्ध का स्मरण आवश्यक है। जैसा कि चक्रपाणि ने सुश्रुत के इस अंश की व्याख्या करते हुए कहा है—'लिङ्ग-लिङ्गी के अव्यभिचरित सम्बन्ध ग्रहण के पश्चात् व्याप्तिस्मरणपूर्वक लिङ्गपरामर्शजन्य ज्ञान अनुमान से होता है।[1] 'लिङ्ग-परामर्श' लिङ्ग के तृतीय दर्शन को कहते हैं। चरकसंहिता में युक्तिसापेक्ष तर्क को अनुमान शब्द से कहा गया है (अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः)। चरकसंहिता के टीकाकार चक्रपाणि ने युक्ति की व्याख्या करते हुए कहा है—अबिनाभावसम्बन्ध।[2] अबिनाभाव अर्थात् जिसके बिना जो नहीं होता—इसको साहचर्य नियम कहते हैं। पुनः यह उल्लेख मिलता है कि ज्ञात विषय के कारण को देखकर अज्ञात विषय के कारण का निर्धारण 'युक्ति' कहा जाता है।[3] साहचर्य नियम ही व्याप्ति है।[4] जैसा कि हम इसी अध्याय की पंक्तियों में स्पष्ट कर चुके हैं।

अनुमान का सामान्य उदाहरण है—यह पुरुष कितनी मात्रा में पचा सकता है? यह देखकर अनुमान से उसका अग्नि-बल का ज्ञान होता है। कितना मानसिक तथा शारीरिक श्रम कर सकता है यह देखकर उसके बल का अनुमान होता है।

आचार्य डल्हण ने अनुमान का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है—'शल्य (कांटा या अस्त्र) गहराई में स्थित हो, दिखायी न देता हो तो ज्ञान के लिए त्वचा पर यत्र-तत्र चन्दन या जमा हुआ घी लगायें। जिस स्थान पर लगा हुआ चन्दन सूख जाये

---

१. अत्र लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणात् पश्चाद् व्याप्तिस्मरणवल्लिङ्गपरामर्शरूपं ज्ञान-मनुमानम्।—सु० सू० १।१६ पर चक्रपाणि

२. युक्तिः सम्बन्धोऽबिनाभाव इत्यर्थः। तेन अबिनाभावजं परोक्षज्ञानमनुमानमित्यर्थः।
—च० वि० ४।४ पर चक्रपाणि

३. विज्ञातेऽर्थे कारणोपपत्तिदर्शनात् अविज्ञातेऽपि तदवधारणं युक्तिः।
—च० सू० ११।२२ पर चक्रपाणि

४. च० सू० ११।२२ पर चक्रपाणि

या घी पिघल जाये तो अनुमान होता है इसी के नीचे शल्य है।[1] इस प्रकार यहाँ पर शल्य का ज्ञान अनुमान से होता है।

उपर्युक्त उदाहरण में 'जहाँ पर चन्दन जल्दी सूखता है या जमा हुआ घी जल्दी पिघलता हो, वहाँ पर ही शल्य है' यह पद-व्याप्ति बनती है। प्रमाता के लिए यह व्याप्ति ग्रहण आवश्यक है। क्योंकि हम जानते हैं कि व्याप्ति ग्रहण के बिना अनुमान का व्यापार नहीं हो सकता। उपर्युक्त व्याप्ति ज्ञान, आवश्यक नहीं है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही हो। क्योंकि शास्त्रों में स्थान-स्थान पर बार-बार पढ़कर तथा कुशल आचारवान वैद्य के मुख से सुनकर आप्तोपदेश प्रमाण के द्वारा प्रमाता को यह व्याप्ति बन सकती है 'जहाँ पर चन्दन जल्दी सूखे या जमा हुआ घी जल्दी पिघले, वहाँ पर ही शल्य है'। यह व्याप्ति ग्रहण के पश्चात् ही वह व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को शल्य से पीड़ित देखता है तथा शल्य अत्यन्त गहराई में स्थित है—यह भी जान लेता है तो व्याप्तियुक्त व्यक्ति पीड़ा वाले स्थान में चन्दन (पीस कर) अथवा जमा हुआ घी का लेप कर चन्दन के सूख जाने पर या जमा हुआ घी के पिघलने पर यह अनुमान कर लेता है इसी स्थान पर शल्य है। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि व्याप्ति ज्ञान चाहे प्रत्यक्ष के द्वारा हुआ हो अथवा किसी अन्य प्रमाण के द्वारा। इसी महत्वपूर्ण तथ्य को चरकसंहिता के टीकाकार चक्रपाणि ने भलीभाँति समझा है। तभी वह 'प्रत्यक्षपूर्वम्' ('प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते' च० सू० ११।२१ यह अनुमान का लक्षण है) अनुमान प्रमाण के इस अंश की व्याख्या करते हुए कहते हैं—'व्याप्तिग्राहकप्रमाणपूर्वकम्'।[2] अर्थात् यहाँ पर 'प्रत्यक्ष' का ग्रहण व्याप्तिग्राहक-प्रमाण को उपलक्षित करने के लिए है। इसको हम एक अन्य उदाहरण से इस प्रकार समझ सकते हैं। 'यज्ञादि कर्म करने से अपूर्वोत्पत्तिपूर्वक स्वर्गादि की प्राप्ति होती है' इस आशय के वाक्य शास्त्रों में स्थान-स्थान पर बार-बार पढ़कर तथा सिद्ध योगियों के मुख से बार-बार सुनकर श्रोता आप्तोपदेश प्रमाण के द्वारा 'यत्र यत्र यागाद्याचरणं तत्र तत्रापूर्वोत्पत्तिपूर्वकं स्वर्गादिलाभः' इस व्याप्ति का ग्रहण करता है। फिर यदि कभी वह यज्ञादि करने से भाग्यवशात् स्वर्ग पहुँच जाय तो वहाँ पर प्राणियों को स्वर्ग के सुख को भोगते देखकर तथा उपरोक्त व्याप्ति का स्मरण करके 'इन लोगों ने अवश्य ही यज्ञादि शुभ कर्मों का अनुष्ठान किया होगा' ऐसा अनुमान

---

१. यथा प्रनष्टे शल्ये चन्दनघृतोपदग्धायां त्वचि विशेषणविलयनाभ्यामनुमीयते अत्रम् शल्यमिति।—सु० सं० सू० १।२६ पर चक्रपाणि

२. प्रत्यक्षग्रहणं व्याप्तिग्राहकप्रमाणोपलक्षणार्थं तेन प्रत्यक्षपूर्वमिति व्याप्तिग्राहक-प्रमाणपूर्वकम्।—च० सू० ११।२१ पर चक्रपाणि

होगा। इसी प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होने पर तथा प्रत्यक्ष के द्वारा लिङ्ग का ग्रहण होने पर ही अनुमान से ज्ञान होता है। यहाँ पर वार्तिककार के उस प्रश्न की चर्चा कर देना आवश्यक है जहाँ पर वे कहते हैं कि यदि अनुमान को 'प्रत्यक्षपूर्वक' माना जायेगा तो संस्कार एवं निर्णय के भी अनुमान होने की आपत्ति उठ खड़ी होगी क्योंकि स्मृति का हेतु संस्कार प्रत्यक्ष से ही उत्पन्न होता है। इसका समाधान यह है कि यहाँ ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है संस्कार ज्ञान नहीं होता, अतएव संस्कार को लेकर अनुमान के लक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं आ सकता। रहा निर्णय के विषय में विवाद। निर्णय जब प्रमाण होगा तब वह किसी न किसी प्रमाण के अन्तर्गत आता ही है अतएव प्रमाण की श्रेणी में आ जाने के कारण अनुमान के 'प्रत्यक्षपूर्वकत्व' की ही सिद्धि होती है।

अनुमान के भेद

प्रत्यक्षपूर्वकं त्रिविधं····चानुमीयते के 'त्रिविधम्' पद से यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि अनुमान तीन प्रकार का होता है, परन्तु वे तीन प्रकार कौन से हैं इसका उल्लेख नहीं किया गया। परन्तु अनुमान प्रमाण का वर्णन करते समय जो उदाहरण चरकसंहिता में दिये गये हैं उनसे यह अनुमान लग जाता है कि अनुमान के तीन प्रकार कौन-कौन से हैं—

'प्रत्यक्षप्रमाणपूर्वक तीन प्रकार का तथा तीनों काल का सम्यक् ज्ञान (जिसके द्वारा) किया जाता है (उसे अनुमान कहते हैं)। (१) बुद्धिमान् लोग परोक्ष अग्नि का धूम से (सामान्यतोदृष्ट) अनुमान करते हैं। इसी प्रकार (२) अतीत मैथुन का गर्भदर्शन से (शेषवत्) निश्चय करते हैं। (३) बीज से तत्सदृश फल को उत्पन्न हुआ देखकर (अर्थात् व्याप्ति ज्ञान के द्वारा जलकर्षणादि अन्य सहकारिकारणों से युक्त हुए) बीज से अनागत फल का अनुमान करते हैं।'[1]

उपरोक्त पंक्तियों में कहे हुए उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आयुर्वेद में उक्त अनुमान के त्रिविध भेद न्यायदर्शनोक्त पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट[2] के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

---

१. प्रत्यक्षपूर्वकं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते। वह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात्। एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात् फलमनागतम्। दृष्ट्वा बीजात् फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः।—च० सू० ११।२१-२२

२. अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च।
—न्या० द० १।१।५

तुलनीय—त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।—सा० का० ५

उपर्युक्त तीनों भेदों का वर्णन एक-एक करके क्रमशः किया जायेगा।

(१) पूर्ववत् अनुमान—जहाँ पर कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है, उसे पूर्ववत् अनुमान कहते हैं।[1] इसमें कार्य की अपेक्षा कारण की पूर्ववर्तिता से अनुमान-जन्य ज्ञान होताहै। इसको इस प्रकार भी कह सकते हैं कि वर्तमान कारण से भविष्य में होने वाले कार्य का अनुमान होता है। इस प्रकार त्रैकालिक भेद में से यह भविष्यकालिक अनुमान होता है। जैसे कुसुमित आम्रवृक्ष को देखकर भविष्य में फलों का अनुमान होता है। इस प्रकार के अनुमान में 'असत्प्रतिबन्धक' इस विशेषण की योजना कर लेनी चाहिए जैसे 'असतिप्रतिबन्धके आम्रपुष्पादाम्रफलं भविष्यति'। क्योंकि उपर्युक्त विशेषणों के विना हेतु व्यभिचारी हो सकता है जिससे कि यह अनुमान भी व्यभिचारी हो सकता है।

चरकसंहिता में यह उदाहरण दिया गया है—'बीजात्फलमनागतम' (च० सू० ११।२२)। यहाँ पर कारण बीज को पहले ही देखकर भविष्य में कार्य (फल) का अनुमान किया जाता है। चक्रपाणि[2], यहाँ पर, 'असत्प्रतिबन्धक' इस विशेषण के स्थान पर 'सहकारिकारणान्तरयुक्तात्' यह विशेषण प्रयुक्त किया है। अर्थात् बीजों के उत्तम क्षेत्र में, अनुकूल ऋतु में बोने पर उचित काल में वर्षा होने पर फल अवश्य ही होगा। इस प्रकार युक्तिपूर्वक अनुमान करने पर अनुमान होगा।

इसी प्रकार मेघों का आकाश में देखकर (मेघोन्नतिरूप कारण से) वृष्टि रूप कार्य होने का अनुमान होता है।[3] पूर्ववत् अनुमान की व्याख्या करते हुए भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है—जिस अनुमान में प्रथम महानस से जिस प्रकार वह्नि तथा धूम का प्रत्यक्ष हुआ है उन दोनों में से एक धूम के दर्शन से दूसरे एक के न दीखने

---

१. यत्रकारणेन कार्यमनुमीयते (उपस्कार)।

२. दृष्ट्वा बीजात्फलं जातमित्यनेन बीजफलयोः कार्यकारणलक्षणं व्याप्तिं दर्शयति। तथा कारणात्कार्यानुमानम् यथा बीजात् सहकारिकारणान्तरयुक्तात् फलानुमानम्। ......बीजादिति सहकारिकारणान्तरजलकर्षणादियुक्तादिति बोद्धव्यम्।........ यद्यपि च कारणं कार्यं व्यभिचरति, यतो नावश्यं बीजसद्भावे फलं भवति, तथाऽपि सहकारिकारणान्तरयुक्तं बीज फलं न व्यभिचरतीत्यभिप्रायो बोद्धव्यः, कारणसामग्री च कार्यं न व्यभिचरत्येव।—च० सू० ११।२१-२२ पर चक्रपाणि

३. यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति।
—न्या० भा० १।१।५

वाले वह्नि की अनुमान से सिद्धि करना अर्थात् धूम होने से पर्वत पर वह्नि है—ऐसा अनुमान करना पूर्ववत् नामक प्रथम अनुमान होता है। इसी प्रकार अव्यक्त व्याधि के उत्पादक हेतुओं को देखकर भविष्य में होने वाली व्याधि का अनुमान होता है। जैसे—पिष्टमय पदार्थों के अत्यन्त मात्रा में सेवन करने से भविष्य में अजीर्ण रोग का अनुमान होता है जिससे कि इसका निदान सम्भव है।

(२) **शेषवत् अनुमान**—जिस अनुमान में कार्य से कारण का अनुमान होता है उसे शेषवत् अनुमान कहते हैं। जैसे किसी स्त्री के गर्भ को देखकर उसके द्वारा भूतकाल में किये गये मैथुन का अनुमान होता है।[1] क्योंकि स्त्री के रज तथा पुरुष के शुक्र के संयोग के बिना गर्भस्थिति नहीं होती तथा रजःशुक्रसंयोग बिना मैथुन के नहीं होता अतः इस युक्ति से गर्भदर्शन मात्र से अतीतकाल में नर-नारी के मैथुन का अनुमान होता है।

यह अनुमान भी मैथुन तथा गर्भ के व्याप्ति सम्बन्ध को स्मरण करके ही होता है। इस वैज्ञानिक युग में कृत्रिम गर्भाधान के आविष्कार से विना मैथुन के भी गर्भ सम्भव हो गया है, अतः वर्तमान युग में पूर्वोक्त व्याप्ति नहीं बन सकती।

न्यायसूत्र में इसका उदाहरण देते हुए कहा गया है—पहले देखे गये जल के विपरीत पूर्ण व शीघ्रगामी नदी के प्रवाह को देखकर यह अनुमान होता है कि वृष्टि हुयी थी।[2] न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने शेषवत् अनुमान को परिशेषानुमान कहा है।[3] जैसे शब्द गुण है तो वह किसी द्रव्य में रहना चाहिए। किन्तु पृथ्वी, जल, तेज, वायु, काल, दिशा, आत्मा तथा मन इन आठ द्रव्यों में किसी में भी नहीं पाया जाता। अतः इन आठों द्रव्यों के अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य अर्थात आकाश में रहा हुआ होना चाहिए। त्रिकाल दृष्टि से शेषबत् अनुमान भूतकालिक अनुमान है क्योंकि वर्तमानकालिक कार्य को देखकर भूतकालिक कारण का अनुमान होता है।

---

१. मैथुनं गर्भदर्शनात्।—च० सू० २१।२१
कार्यात्कारणानुमानं यथा गर्भदर्शनान्मैथुनानुमानम् (चक्रपाणि)।

२. पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वं शीघ्रत्वं च दृष्ट्वा स्त्रोतसोऽनुमीयते 'भूतावृष्टिरिति'।—न्या० भा० १।१।५

३. शेषवन्नाम परिशेषः।—वही

(२) **सामान्यतोदृष्ट अनुमान**—जहाँ पर कार्य और कारण से भिन्न किसी सामान्य लिङ्ग के विशिष्ट दर्शन से अनुमान किया जाता है। वहाँ सामान्यतोदृष्ट अनुमान होता है।[1] जैसे 'वह्निनिगूढो धूमेन' (च० सू० ११।२१)। यहाँ पर वर्तमान धूम से वर्तमान अग्नि का अनुमान होता है।[2] महानस में धूमाग्नि का नियत साहचर्य देखकर धूम बिना आर्द्रेन्धन संयोग नहीं होता—यह जानकर 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निरिति' युक्ति से पर्वत में धूमरेखा को देखकर वह्नि का अनुमान होता है। वह्नि का धूम के साथ साहचर्य सर्वत्र न होकर वहीं होगा जहाँ उसमें आर्द्रेन्धन संयोग होगा क्योंकि वह्नि धूम का कार्य न होने के कारण उसके बिना भी रह सकता है जैसे खूब तपाये हुए अयोगोलक में।

आयुर्वेद में भी शरीर की ऊष्मा से वर्तमानकालिक ज्वर का अनुमान होता है। यहाँ पर 'देहेंद्रिन्य मनस्तापी सर्वरोगग्रजी बली' इत्यादि वचनरूप आप्तोपदेश से ज्वर तथा सन्ताप के नियतसाहचर्य से गृहीत व्याप्ति से देहादि के स्पर्शमात्र से ज्वर का अनुमान होता है। पूर्वोक्त उदाहरण की तरह यहाँ पर भी सन्ताप तथा ज्वर का कार्य कारण सम्बन्ध नहीं है क्योंकि ज्वर तो मिथ्याहार विहार दोष से होता है ऐसा चरक मुनि ने कहा है।[3] शरीरगत सन्ताप को अनुभव कर ज्वर का अनुमान होता है। यदि ज्वर गूढलिङ्ग वाला हो तो वह आभ्यान्तर धातुओं में स्थित होगा। अतः उसके लक्षण स्फुट नहीं होंगे क्योंकि वह अन्य व्याधि से पीड़ित होगा। अतः यदि ज्वरशामक औषधि के देने से, पथ्यपूर्वक आचरण करने से यदि ज्वर शमन हो जाय तो ज्वर का अनुमान उपशय प्रधान-युक्तियों से करना चाहिए।

यदि ज्वर शमन न हो तो अनुपशयप्रधानयुक्ति से ज्वरादतिरिक्त व्याधि का अनुमान होता है।

---

१. सामान्यतः सामान्येन कार्यकारणभिन्नेन लिङ्गेन विशिष्टं दर्शनं हेतुतया विद्यते यस्मिन्सामान्यतोदृष्टम्। यथा बलाकया सलिलानुमानम् (न्यायभाष्ये भाष्यचन्द्र १।१।५) व्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र दर्शनमिति, तथा चादित्यस्य, तस्मादस्त्य-प्रत्यक्षाप्यादित्यस्य व्रज्येति।—न्या० भा० १।१।५

अकार्यकारणभूतानां च सामान्यतो दर्शनादनुमानम्।

—च० सू० ११।२१ पर चक्रपाणि

२. तथा कार्यकारणभूतानां च सामान्यतो दर्शनादनुमानं यथा-धूमाद्वर्तमानक्षण-सम्बन्धादग्न्यनुमानम्।—चक्रपाणि

३. मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषाः ह्यामाशयाश्रयाः।—च० सं०

न्यायसूत्र में सामान्यतोदृष्ट अनुमान का उदाहरण इस प्रकार से बताया गया है। एक स्थान पर देखे गये किसी व्यक्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान पर देखा जाता है। उस व्यक्ति का एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचना गतिपूर्वक ही होता है अर्थात् बिना गति के वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं पहुँच सकता। इसी प्रकार सूर्य की गति यद्यपि प्रत्यक्ष देखने में नहीं आती तथा उसका पूर्व से पश्चिम में पहुँचना बिना गति के सम्भव नहीं है। अतः उसमें गति अवश्य होनी चाहिए। इस प्रकार जो निश्चय किया जाता है वह अनुमान सामान्यतोदृष्ट कहलाता है। सामान्यतोदृष्ट अनुमान त्रिकाल दृष्टि से वर्तमानकालिक अनुमान है।

इस प्रकार अनुमान प्रमाण के विषय अतीत, अनागत और वर्तमान तीनों काल हो सकते हैं, जबकि प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय केवल वर्तमान काल ही हो सकता है। पूर्वोक्त तीनों उदाहरण काल की दृष्टि से भी विभाजित किये जा सकते हैं—

(अ) अतीत का अनुमान—वर्तमान गर्भ को देखकर अतीत मैथुन का अनुमान किया जाता है।

(ब) अनागत का अनुमान—सहकारिकारणयुक्त वर्तमान बीज से अनागत फल का अनुमान किया जाता है।

(स) वर्तमान का अनुमान—वर्तमान क्षण से सम्बद्ध धूम को देखकर वर्तमान अग्नि का अनुमान करके मजदूर बीड़ी सुलगाने के लिए दौड़ पड़ते हैं।

'प्रत्यक्षपूर्वम्' तथा 'त्रिकालम्' ये दोनों पद अनुमान का प्रत्यक्ष से व्यवच्छेद करते हैं।

हमें ज्ञात है कि आयुर्वेद का सम्बन्ध तीन प्रश्नों से था, अर्थात व्याधियों की उत्पत्ति कैसी होती है, उनको कैसे जाना जाय, तथा उन्हें कैसे शान्त किया जाय? इस सम्बन्ध में ही व्यवहारिक आवश्यकता के कारण कारणता के सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रयोग आयुर्वेद में किया गया। इस प्रकार यदि यह ज्ञात हो जाय कि किसी व्यक्ति को अकस्मात ठंड लग गई है अथवा उसने किसी भोज का आनन्द लिया है, तो शीत से ज्वर का और अतिभोजन से अजीर्ण का होना ज्ञात होने के कारण कोई भी मनुष्य प्रथम चिह्नों से ही एकदम यह अनुमान लगा सकता है कि रोगी को सम्भवतः ज्वर हो जाय अथवा अतिसार हो जाय अथवा गम्भीर मन्दाग्नि हो जाय। अथवा यदि यह ज्ञात हो कि कोई रोगी कठिन अतिसार पीड़ित हो तो यह अनुमान किया जा सकता है कि उसने अपच्य पदार्थों का सेवन किया है। इस प्रकार आयुर्वेदिक चिकित्सकों के लिए व्यावहारिक महत्व के दो मुख्य प्रकार के अनुमान थे

व्याधि के हेतुओं की विद्यमानता के ज्ञान से किसी रोग के होने का अनुमान, अर्थात कारण से कार्य का अनुमान और रोगी के विशिष्ट प्रकार के रोग से विशिष्ट प्रकार की अस्वास्थ्यकर अनियमितता का अनुमान अर्थात कार्य से कारण का अनुमान। अन्य अर्थात तीसरे प्रकार का अनुमान, रोग के पूर्वरूप से ही रोग का अनुमान कर लेना है। रोग के विशिष्ट पूर्वरूपों के आधार पर विशिष्ट रोगों के अनुमान की सम्भ वना पर टीका करते हुए इसके पूर्व ही जैसा कि संकेत किया गया है, चक्रपाणि इस अनुमान की तुलना काले बादलों की घटनाओं से वर्षा होने के अनुमान से अथवा कृत्तिका के पूर्वगामी रोहिणी नक्षत्र के उदय से कृत्तिका नक्षत्र के भविष्य में उदय के अनुमान से तुलना करते हैं। ये दोनों कारणत्व अथवा सहअस्तित्व की भावी घटनाओं के अनुमान की अवस्थाएँ हैं। फिर भी पूर्वरूप रोग के प्रकट होने पर पूर्णरूप से समाप्त हो जाने वाले सद्यः सदा सम्बद्ध रहने वाले पूर्वलक्षण के प्रकार का हो सकता है। जैसे, तीव्र ज्वर से पूर्व, रोगी के रोम खड़े हो जायं, यह रोमों का विशिष्ट प्रकार से खड़ा हो जाना न तो ज्वर का कारण है तथा न इसका सह-अस्तित्व ही है, क्योंकि ज्वर के यथार्थ में आ जाने पर यह लुप्त हो जाय। तो भी इसका विशिष्ट प्रकार के ज्वर से ऐसा सम्बन्ध है कि इससे उस ज्वर का अनुमान लगाया जा सकता है। फिर, रोग के अनेक कारणों से वास्तविक कारण के बारे में संशय होने पर चिकित्सक को कारण के सम्यक् निर्धारण के लिए विभेद की विधि, उपशय की विधि का प्रयोग करना पड़ता है। सदृश वस्तुएं एक ही प्रकार के कार्यों का कारण होती हैं तथा विपरीत वस्तुएं, विपरीत परिणाम को उत्पन्न करती है, ये चरकसंहिता में 'सामान्य' तथा 'विशेष' के नियम के दो सर्वमान्य स्वयंसिद्ध प्रमाण हैं।[2] अब इन सिद्धान्तों का प्रयोग करते हुए यह कहा गया है कि किसी विशिष्ट प्रकार की अनियमितता के किसी विशिष्ट रोग का कारण होने के विषय में शंका होने पर परीक्षा द्वारा यह ज्ञात करना चाहिए कि आशंकित कारण (यथा शीत) से रोग (यथा-ज्वर) बढ़ना है या नहीं, यदि इससे बढ़ता हो, और यदि इसके विपर्यय (यथा-ऊष्मा) के प्रयोग से रोग घटता हो, तो शीत को रोग का कारण मानना चाहिए। यदि किसी तत्व विशेष के प्रयोग से कार्य (रोग विशेष) की वृद्धि हो और उसका विपर्यय उसका

१. च० स० नि० ६।६ पर अपनी टीका में चक्रपाणि ने इन दो प्रकार के पूर्वरूपों का इस प्रकार वर्णन किया है—'तच्च पूर्वरूपं द्विविधमेकं भाविव्याध्यव्यक्त लिङ्गम्···द्वितीयं तु दोषदूष्यसम्मूर्च्छनाजन्यमव्यलिङ्गादन्यदेव यथा ज्वरे बाल-प्रद्वेषरोमहर्षादि।

२. च० सू० १।४४

ह्रास करे, तो उस तत्व विशेष को उस कार्य विशेष का कारण मान सकते हैं। चरक का मत है कि पूर्व घटित अथवा निकट भविष्य में घटित होने वाली व्याधियों के स्वरूप निर्धारण में निदान, पूर्वरूप तथा अनुपशय सहित उपशय इन तीनों प्रकारों का पृथक् रूप से अथवा सम्मिलित रूप से प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार चरक का निर्देश है कि चिकित्सक को इन तीनों प्रकारों के प्रयोग द्वारा व्याधियों के कारणों की ध्यानपूर्वक परीक्षा करनी चाहिए, ताकि उनके प्रत्यक्ष कार्यों के आधार पर उनका निर्धारण हो सके। तत्पश्चात् चरक ने अनेकों व्याधियों के और उनके स्वरूप-निर्धारण में सहायक कारणों अथवा पूर्वरूपों के दृष्टान्त दिये हैं। उसके बाद उनका कथन है कि प्रारम्भ में किसी कारण की केवल कार्यरूप में प्रकट होने वाली कोई व्याधि अन्य व्याधियों का कारण बन जाती है और इस प्रकार उसे कार्य तथा कारण दोनों ही माना जा सकता है। अतः कारण तथा कार्य में कोई परम अन्तर नहीं है, और कोई भी कारण कार्य हो सकता है तथा कोई कार्य कारण में बदल सकता है। कभी-कभी कोई व्याधि अन्य व्याधियों का कारण बन जाती है तथा तत्पश्चात् स्वयं समाप्त हो जाती है, जबकि पुनः एक व्याधि अपने द्वारा उत्पादित अन्य व्याधि के साथ विद्यमान रह सकती है तथा अपने कार्य को गम्भीर बना देती है। पुनः, यथा एक व्याधि (कारण) अन्य व्याधि (कार्य) को उत्पन्न कर दे और यह कार्यभूत व्याधि अन्य व्याधि को उत्पन्न कर दे। इस प्रकार एक कारण एक तथा उसी प्रकार के अनेक कार्यों को उत्पन्न कर सकता है, और एक कार्य एक अथवा अनेक कारणों का कारण हो सकता है, और अनेकों कारण सम्मिलित रूप से अनेकों कार्यों को उत्पन्न कर सकते हैं। यथा—ज्वर, अपस्मार आदि सब रूक्षता से उत्पन्न होने पर भी विशेष परिस्थितियों में इससे केवल ज्वर ही उत्पन्न कर सकता है। पुनः ज्वर ऐसे अनेकों कारणों के समुदाय से भी उत्पन्न हो सकता है जिनके सम्मिलित रूप से अन्य परिस्थितियों में अनेक व्याधियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। अतः एक इकाई एक अथवा अनेक घटनाओं का लिङ्ग हो सकती है, और एक घटना के अनेक लिङ्ग भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, स्वास्थ्य सम्बन्धी अनियमितताओं का ज्वर सामान्यतः लिङ्ग है, और सब प्रकार के ज्वरों का लिङ्ग 'ताप' है। कुछ निश्चित प्रकार के विकारों से ज्वर का अनुमान हो सकता है, परन्तु वे अन्य अनेकों व्याधियों से सम्बद्ध हो सकते हैं।[1]

अतः यह स्पष्ट है कि रोगों के निदान और उनके कारण तथा उपशमन के सन्दर्भ में कारण और कार्य के स्वरूप का विनिश्चय तथा अव्यभिचारी व्याप्ति के

---

१. च० नि० ८।२२-२७

तथ्यों अथवा घटनाओं का अनुमान आयुर्वेदिक चिकित्सकों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। इसी हेतु से चरक ने अनुमान को तीन वर्गों में विभक्त किया है—कारण से कार्य, कार्य से कारण, और अन्य प्रकार के लिङ्गों के सम्बन्ध से।

अनुमान के अन्य भेद तन्त्रान्तरों में मिलते हैं। नव्य न्याय[1] के अनुसार अनुमान तीन प्रकार के होते हैं[2]—

(१) केवलान्वयी।

(२) केवलव्यतिरेकी।

(३) अन्वयव्यतिरेकी।

यह प्रकार भेद बहुत ही युक्तिपूर्ण हैं, क्योंकि यह व्याप्ति स्थापन प्रणाली के प्रकार-भेद पर अवलम्बित है। हम देख चुके हैं कि अनुमान के लिए व्याप्ति कितना आवश्यक हैं।

(१) **केवलान्वयी**—केवलान्वयी अनुमान उसे कहते हैं जिसके साधन तथा साध्य में नियत साहचर्य देखा जाता है अर्थात् जिसकी व्याप्ति केवल अन्वय के द्वारा स्थापित होती है। जिसमें व्यतिरेक का सर्वथा अभाव होता है। इसका स्पष्टीकरण हम निम्नलिखित उदाहरण के द्वारा कर सकते हैं—

सभी प्रमेय (ज्ञेय पदार्थ) अभिधेय हैं,
घट प्रमेय है,
अतः घट अभिधेय है

इस अनुमान के प्रथम वाक्य में उद्देश्य तथा विधेय के बीच व्याप्ति सम्बन्ध है। इसके विधेय के साथ उद्देश्य के किसी अंश के सम्बन्ध का व्यतिक्रम नहीं हो सकता है, क्योंकि यह सम्भव नहीं है कि किसी भी ज्ञेय पदार्थ का नाम नहीं दिया जा सकता है। कम से कम यह ज्ञेय है यह तो अवश्य कहा जायेगा। यहाँ व्याप्ति सिद्ध करने के लिए कोई व्यतिरेकी दृष्टान्त अर्थात 'जो अभिधेय नहीं है वह अज्ञेय है' ऐसा दृष्टान्त नहीं मिल सकता। क्योंकि जैसा पहले कहा गया है ऐसी कोई वस्तु हम नहीं बता सकते जिसका कोई नाम नहीं रखा जा सकता। इसीलिए इस प्रकार से व्याप्ति का नाम केवलान्वयी है।

(२) **केवलव्यतिरेकी**—केवलव्यतिरेकी अनुमान उसे कहते हैं जिसमें साध्य के अभाव के साथ-साथ साधन के अभाव की व्याप्ति के ज्ञान से अनुमान होता है,

---

१. तत्त्वचिन्तामणि

२. भारतीय दर्शन, चट्टोपाध्याय व दत्त, पृ० १२५-१२७

साधन तथा साध्य की अन्वयमूलक व्याप्ति से नहीं। इसलिए इस व्याप्ति की स्थापना व्यतिरेकी प्रणाली के द्वारा ही हो सकती है। क्योंकि पक्ष के अतिरिक्त साधन का और कोई दृष्टान्त नहीं जिसमें उसका साध्य के साथ अन्वय देखा जाये। इस प्रकार के अनुमान का उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है—

अन्य भूतों से जो भिन्न नहीं है उसमें गन्ध नहीं है।
पृथ्वी में गन्ध है।
अतः पृथ्वी अन्य भूतों से भिन्न है।

इस अनुमान के प्रथम वाक्य में साध्य के अभाव के साथ साधन के अभाव की व्याप्ति दिखलाई जाती है। साधन 'गन्ध' को पक्ष 'पृथ्वी' के सिवा और कहीं नहीं देखा जा सकता। इसलिए साधन साध्य के बीच अन्वयमूलक व्याप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार हम देखते हैं कि यहाँ व्यतिरेकमूलक व्याप्ति पर ही अनुमान किया जाता है।

(३) अन्वय व्यतिरेक—अनुमान उसे कहते हैं जिसमें साधन और साध्य का सम्बन्ध अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों ही के द्वारा स्थापित होता है। इस अनुमान में व्याप्ति सम्बन्ध इस प्रकार स्थापित होता है—साधन के उपस्थित रहने पर साध्य भी उपस्थित रहता है। साध्य के अनुपस्थित रहने पर साधन भी अनुपस्थित रहता है। इस प्रकार व्याप्ति का ज्ञान अन्वय तथा व्यतिरेक की सम्मिलित प्रणाली पर निर्भर करता है। निम्नलिखित युग्म अनुमान के द्वारा अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान का स्पष्टीकरण हो सकता है—

(१) सभी धूमवान पदार्थ वह्निमान् हैं;
पर्वत धूमवान् है;
अतः पर्वत वह्निमान् है।

(२) सभी वह्निहीन पदार्थ धूमहीन हैं,
पर्वत धूमवान् है,
अतः पर्वत वह्निमान् है।

एक अन्य दृष्टि से अनुनान के दो भेद होते हैं—स्वार्थ तथा परार्थ। यह विभेद अनुमान के प्रयोजन भेद के अनुसार किया गया है।

स्वार्थानुमान

जब कभी हम अपने ज्ञान के लिए अनुमान करते हैं तो उसे स्वार्थानुमान कहते हैं। स्वार्थानुमान का उदाहरण इस प्रकार किया जा सकता है—कोई मनुष्य

पर्वत में धुंआ देखता है तब उसे यह स्मरण होता है कि धुंआ और आग में व्याप्ति का सम्बन्ध है। अन्त में वह इस निगमन पर पहुँचता है कि आग है। यह अनुमान अपने लिए हुआ है, इसलिए इसे स्वार्थानुमान कहते हैं।

परार्थानुमान

कभी-कभी बात को दूसरों को समझाने के लिए भी हम अनुमान करते हैं। यह परार्थ अनुमान कहलाता है। जैसे—जब कोई मनुष्य स्वयं समझता है कि पर्वत में आग है और वह इस बात को दूसरे को समझाने की कोशिश करता है तो वह इस प्रकार का अनुमान करता है—पर्वत वह्निमान है, क्योंकि वह धूमवान है तथा जो धूमवान है वह वह्निमान है, जैसे चूल्हा। उसी प्रकार पर्वत धूमवान है। अतः वह भी वह्निमान है।[1]

शास्त्रार्थ में जब अनुमान प्रमाण के द्वारा किसी अर्थ की सिद्धि की जाती है तो उस वाक्य का पंचरूपोपपन्न होना अत्यन्त आवश्यक है।[2] इन पंचरूपों को न्याय-दर्शन में अनुमान वाक्य का अवयव कहा गया है।[3] चरकसंहिता में इन अवयवों को सुविधा की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया गया है—

(१) **प्रतिज्ञा**—साध्य का (जिसे सिद्ध करना है उसका) कथन करना प्रतिज्ञा कहलाता है। जैसे—'पुरुष नित्य है।[4]

(२) **स्थापना**—उस प्रतिज्ञा को ही हेतु, दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन के द्वारा प्रतिपक्षी के समक्ष स्थापित करना स्थापना कहलाता है। पहले प्रतिज्ञा की जाती है उसके बाद उसकी स्थापना की जाती है। क्योंकि बिना प्रतिज्ञा किये हुए स्थापना किस वस्तु की करी जायेगी। जैसे—'पुरुष नित्य है' यह प्रतिज्ञा है।

हेतु—'अकर्तृक होने से' (उत्पत्तिधर्मा) न होने से अथवा कोई उसका बनाने वाला न होने से।

---

१. तर्कसंग्रह, पृष्ठ ४६-४९

२. इमानि तु खलु पदानि भिषग्भिः वादमार्गज्ञानार्थमधिगम्यानि भवन्ति। तद्यथा···· प्रतिज्ञा स्थापना प्रतिष्ठापना हेतुः दृष्टान्तः उपनयः निगमनम्····इति।
—च० विमान० ८।२७

३. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः।—न्या० सू० १।१।३२

४. अथ प्रतिज्ञा। प्रतिज्ञा नाम साध्यवचनम्, यथा नित्यः पुरुषः इति।
—च० वि० ८।३०

तुलना कीजिए—'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा'।—न्या० सू० १।१।३३

दृष्टान्त—'आकाश अकृतक है' (उसका कोई बनाने वाला नहीं है) और वह नित्य है।'

उपनय—'जिस प्रकार आकाश अकृतक है, उसी प्रकार पुरुष भी अकृतक।'

निगमन—'इसलिए पुरुष नित्य है।'[1]

वस्तुतः प्रतिपक्षी के प्रति तो प्रतिज्ञा की स्थापना ही होती है, क्योंकि पंचावयों के द्वारा ही अनुमान किया जाता है, चार के द्वारा नहीं। परन्तु यहाँ पर शास्त्रकार ने प्रतिज्ञा को स्थाप्य मानकर स्थापना से पृथक् कर दिया है, ऐसा समझना चाहिए।

प्रतिष्ठापना—विरोधी की प्रतिज्ञा से विपरीत अर्थ (साध्य) को स्थापना करना प्रतिष्ठापना कहलाता है। जैसे 'पुरुष अनित्य है' यह प्रतिज्ञा है। हेतु—इन्द्रियग्राह्य होने के कारण। दृष्टान्त—जैसे घट इन्द्रियग्राह्य है और वह अनित्य है। उपनय—जैसा घट, वैसा पुरुष। निगमन—इसलिए पुरुष अनित्य है।[2]

प्रतिष्ठापना में 'प्रति' शब्द विपरीत अर्थ का वाचक है। वस्तुतः यहाँ पर प्रतिष्ठापना में जो उदाहरण दिया गया है, वह न्यायशास्त्र में प्रकरणसम हेत्वाभास के अन्तर्गत आता है।

अनुमान के इन पाँचों अवयवों का उल्लेख अन्य स्थल में भी शास्त्र के वाक्यार्थपूर्वक कथन के प्रसंग में भी हुआ है।[3]

---

१. अथ स्थापना। स्थापना नाम तस्या एव प्रतिज्ञायाः हेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनैः स्थापना। पूर्वं हि प्रतिज्ञा, पश्चात् स्थापना। किं ह्यप्रतिज्ञातं स्थापयिष्यति। यथा-नित्यः पुरुषः इति प्रतिज्ञा। हेतुः-अकृतकत्वादिति। दृष्टान्तः-अकृतकमाकाशम्, तच्च नित्यम्। उपनयः—यथा चाकृतकमाकाशं तथा पुरुषः। निगमनम्-तस्यान्नित्य इति।—च० वि० ८।३१

२. अथ प्रतिष्ठापना। प्रतिष्ठापना नाम या तस्याः एव परप्रतिज्ञायाः विपरीतार्थस्थापना। यथा-अनित्यः पुरुषः इति प्रतिज्ञा। हेतुः-ऐन्द्रियकत्वादिति। दृष्टान्तः—घटः ऐन्द्रियकः, स चानित्यः। उपनयः—यथा घटस्तथा पुरुषः। निगमनम्—तस्मादनित्य इति।—च० वि० ८।३२

३. बुद्ध्या सम्यगनुप्रविश्यार्थतत्त्वं वाग्भिर्व्यासमासप्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनयुक्ताभिस्त्रिविधशिष्यबुद्धिगम्याभिरुच्यमानं वाक्यार्थशो भवत्युक्तम् (तन्त्रमितिशेषः)।—च० सू० ३०।१८

प्रतिज्ञा के पश्चात् क्रमशः हेत्वादि अवयवों का इस प्रकार निरूपण किया गया है ।

(क) हेतु—व्यापक साध्य की उपलब्धि (अर्थात् ज्ञान) के व्याप्य कारण (साधन) को हेतु कहते हैं । यह हेतु प्रत्यक्ष अनुमान, ऐतिह्य तथा उपमान के भेद से चार प्रकार का होता है । इन हेतुओं से जिनका ज्ञान होता है वह 'तत्व' अर्थात् लिङ्ग होता है ।

यद्यपि हेतु शब्द साध्य के अविनाभावी 'लिङ्ग' का बोधक होता है, तथापि यहाँ पर 'लिङ्ग' का ग्रहण कराने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाणों को ही यथोक्त हेतु मूल होने से 'हेतु' शब्द के द्वारा कहा गया है; ऐसा समझना चाहिए । इन प्रत्यक्षादि हेतुओं से जिस लिंङ्ग का ग्रहण होता है उसे आयुर्वेद की भाषा में 'तत्व' कहते हैं । चरकसंहिता के टीकाकार चक्रपाणि ने 'तत्व' का पर्याय 'लिङ्ग' दिया है । 'लिंङ्ग' के लिए तत्व शब्द का प्रयोग यद्यपि कुछ विलक्षण जान पड़ता है तथापि भारतीय चिकित्सा पद्धति में रोग का निदान तथा चिकित्सा इसी लिंगग्रहण पर पूर्णतया अवलम्बित है, अतः चिकित्सक के लिए 'तत्व' वह है जो उसका मार्गदर्शन का दिशा निर्देश करने वाला है ।

प्रत्यक्ष से जिस हेतु (लिंङ्ग) का ग्रहण हो उसे 'प्रत्यक्ष हेतु कहेंगे । जैसे—'वह्निमान् पर्वतोऽयं धूमत्वात्' धूम 'प्रत्यक्षहेतु' है । अनुमान से जिस हेतु का ग्रहण हो, वह 'अनुमेयहेतु कहलाता है । जैसे—आतुरोऽयम्, मन्दाग्नित्वात् । यहाँ पर मन्दाग्नित्व हेतु को प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है प्रत्युत पाचनशक्ति को देखकर उसका अनुमान किया जाता है । इसलिए मन्दाग्नित्व 'अनुमेय हेतु' है । जिस हेतु का ग्रहण ऐतिह्य अर्थात् आप्त प्रमाण के द्वारा हो उसे 'ऐतिह्यहेतु' कहते हैं, जिस हेतु का उपमान से ग्रहण हो उसे 'औपम्यहेतु' कहते हैं । प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा जिस हेतु का ज्ञान होता है उसे ही तत्व या लिंग कहते हैं । जो किसी भी प्रमाण से ग्राह्य नहीं है, वह कदापि लिंग नहीं बन सकता है । लिंग, आकृति, लक्षण, चिह्न, संस्थान, व्यंजन तथा रूप—इन सबका एक ही अर्थ है ।[1]

(ख) दृष्टान्त—जिस अर्थ के विषय में मूर्खों (लौकिकों) तथा विद्वानों (परीक्षकों) की बुद्धि एक समान हो तथा जो वर्णनीय (साध्य) विषय का वर्णन (साधन) करता हो, उसे दृष्टान्त कहते हैं । जैसे—अग्नि उष्ण है, जल तरल है, पृथ्वी

---

१. 'तत्र लिङ्गमाकृतिलक्षणं चिन्हं संस्थानं व्यंजनं रूपमित्यस्मिन्नर्थेऽनर्थान्तरम्' ।
—च० नि० १।९

कठोर है, आदित्य प्रकाशक है अथवा जिस प्रकार सूर्य प्रकाशक है, उसी प्रकार सांख्य के वचन भी प्रकाशक है ।[1]

अर्थात् जिस वस्तु के विषय में मूर्खों तथा विद्वानों में किसी प्रकार का मतभेद न हो, जैसा बुद्धिमान समझता हो, ठीक वैसा ही मूर्ख भी समझता है, उसी को दृष्टान्त कहते हैं । जो वस्तु केवल पण्डित को ही ज्ञात हो, वह कभी दृष्टान्त नहीं बन सकती । लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त भी जब तक प्रतिपाद्य पुरुष को हृदयंगम न करा दिया जाय, तब तक दृष्टान्त नहीं कहा जा सकता । दृष्टान्त में साध्यवस्तु का साधर्म्य रहता है तथा उसी साधर्म्य के बल से वह साध्य का साधन करता है । अग्नि इत्यादि लोकप्रसिद्ध होने के कारण ही उदाहरण के रूप में दिये गये हैं ।

(ग) उपनय—साधन (दृष्टान्त) के सिद्धान्तसिद्ध धर्म का साध्य (पक्ष) में पुनः कथन करना उपनय कहलाता है । जैसे—उसी प्रकार का यह (पर्वत) भी धूमवान् है ।[2]

अर्थात धूम का अग्नि के साथ जो स्वाभाविक साहचर्य है वह महानस (दृष्टान्त) का सिद्धान्तसिद्ध धर्म है, उस धर्म का साध्यपक्ष में 'तथा' शब्द के द्वारा (और वैधर्म्य होने पर 'न तथा' शब्द के द्वारा) पुनः कथन करके साध्य का उपसंहार करना उपनय कहलाता है ।

(घ) निगमन—हेतु के द्वारा सिद्ध किये गये साध्यधर्म का (अन्त) में कथन करना निगमन कहा जाता है । जैसे—इसलिए (यह पर्वत) अग्निमान् है ।[3]

---

१. अथ दृष्टान्तः । दृष्टान्तो नाम यत्र मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यम्, यो वर्ण्यं वर्णयति । यथा अग्निरुष्णम्, द्रवमुदकं, स्थिरा पृथ्वी, आदित्यः प्रकाशकः इति । यथा वा आदित्यः प्रकाशकस्तथा सांख्यवचनं प्रकाशकमिति ।—च० वि० ८।३४
तुलनीय—लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ।
—न्या० सू० १।१।२५
तथा साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् इति तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्' इति च ।—न्या० सू० १।१।३६-३७

२. उपनयः सिद्धान्तोपपादितस्य साधनधर्मस्य साध्ये पुनः कथनम् । यथा-तथा चायं धूमवानिति ।—चक्रपाणि च० सू० ३०।१८
तुलनीय—उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः ।
—न्याय० सू० १।१।३८

३. निगमनं हेतुसाधितसाध्यधर्मकथनम् । यथा-तस्मादग्निमानिति ।
—च० सू० ३०।१८ पर चक्रपाणि

शब्द प्रयोग की दृष्टि से यह प्रतिज्ञा का 'तस्मात्' शब्दपूर्वक दोहराना मात्र होता है।[1]

हेत्वाभास

अनुमान प्रमाण की सिद्धि के लिए उसके साधक कारण अथवा साधन की आवश्यकता रहती है वह हेतु कहलाता है। अनुमान की सिद्धि पूर्णतः हेतु पर ही निर्भर होती है। वह हेतु दो प्रकार का होता है—सद् हेतु तथा असद् हेतु। जो हेतु देश तथा काल के भेद बिना साध्य के साथ पाया जाता है, साध्य के साथ अन्य कहीं प्रसिद्ध हो तथा साध्य के अभाव में कहीं भी प्राप्त न हो तो वह सद् हेतु कहलाता है। इसी को यथार्थ हेतु भी कहते हैं। इसके विपरीत जो हेतु होता है वह असद् हेतु या अहेतु कहलाता है। चरक ने अहेतु शब्द से हेत्वाभास का ही ग्रहण किया है।[2] यह वस्तुतः हेतु न होते हुए भी हेतुवत् आभास होने के कारण यह हेत्वाभास कहलाता है।[3] हेत्वाभास विरोधी को पराजित करवाते हैं।[4] हेत्वाभास हेतु इसलिए नहीं होते कि हेत्वाभास व्यभिचार आदि दोषों में से किसी न किसी दोष से युक्त होने के कारण साध्य के असाधक होते हैं जबकि हेतु साधक होते हैं।[5] यह तीन प्रकार का होता है—(१) प्रकरणसम, (२) संशयसम और (३) वर्ण्यसम।[6]

चरकसंहिता में इन तीन हेत्वाभासों के अतिरिक्त और (४) सव्यभिचार, (५) विरुद्ध और (६) अतीतकाल भी इसी अध्याय में कहे गये हैं। वस्तुतः इन तीनों का क्षेत्र हेत्वाभासों से अधिक व्यापक तथा स्वरूप कुछ पृथक् भी हैं, जैसा इनके प्रतिपादनों के अन्त में दिखाया जायेगा। इसलिए ये अलग पढ़े गये हैं।

इनमें जिसे यहाँ पर 'वर्ण्यसम' कहा गया है, उसे गौतम ने 'साध्यसम' कहा है। वात्स्यायन भाष्य के अनुसार 'संशयसम' का 'सव्यभिचार' में ही अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए न्याय में हेत्वाभासों की संख्या पाँच ही है—(१) सव्यभिचार,

१. हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्।—न्या० सू० १।१।३९

२. यथापूर्वमहेतवो हेत्वाभासा व्याख्याता।—च० वि० ८।५९

३. हेतुवदाभासन्ते इति हेत्वाभासाः।—च० वि० ८।५९ पर चक्रपाणि
तुलनीय—'हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमानाः'।
—न्या० भा० १।२।४

४. अहेतुः असाधकहेतुरित्यर्थः।—च० वि० ५७ पर चक्रपाणि

५. न्या० वा० १।२।४ पृष्ठ १६३

६. अथहेतुः—अहेतुर्नाम प्रकरणसमः संशयसमो वर्ण्यसमश्चेति।—च० वि० ८।५७

(२) विरुद्ध, (३) प्रकरणसम, (४) साध्यसम तथा (५) कालातीत।[1] जबकि भगवान् आत्रेय संशयसम तथा सव्यभिचार को पृथक्-पृथक् मानकर हेत्वाभासों की संख्या छः मानी है। हेत्वाभासों का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

प्रकरणसम—इनमें से प्रकरणसम नाम का हेत्वाभास इस प्रकार वर्णित है— जैसे 'आत्मा शरीर से भिन्न है इसलिए नित्य है। शरीर तो अनित्य हैं, इसलिए आत्मा इससे विरुद्ध धर्म वाला (नित्य) होना चाहिए' यह हेत्वाभास है। क्योंकि जो साध्य पक्ष है वही साधक हेतु नहीं बन सकता।[2]

जिसको प्रकृत किया जाय अर्थात् साध्यरूप से अधिकृत किया जाय (प्रक्रियते-साध्यत्वेनाधिक्रियते इति प्रकरणम्) इस व्युत्पत्ति के द्वारा प्रकरण का अर्थ है साध्यपक्ष। जो हेतु उस साध्यपक्ष के समान हो उसे प्रकरणसम कहते हैं।[3] उक्त उदाहरण में आत्मा की शरीर से भिन्नता तथा नित्यता दोनों ही साध्य है। इसलिए आत्मा को नित्यता को सिद्ध करने के लिए उसकी शरीर से भिन्नता को हेतु नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि अभी वह स्वयं असिद्ध हैं। पहले आत्मा किसी प्रकार नित्य सिद्ध हो जाय तब अनित्य शरीर से उसकी भिन्नता भी सिद्ध हो सकती है। दूसरी बात यह है कि चार्वाक मत में शरीर ही चेतन और अनित्य है। उस मत के अनुयायियों को समझाने के लिए उक्त हेतु कैसे दिया जा सकता है। उनके सामने तो पहले यही सिद्ध करना होगा कि शरीर से भिन्न कोई 'आत्मा नामक वस्तु भी है', फिर भले ही आत्मवस्तु की नित्यता सिद्ध की जाय। साध्य को साधन नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि वह असिद्ध होता है।

न्यायदर्शन में सत्प्रतिपक्ष को प्रकरणसम हेत्वाभास कहा जाता है। जिस हेतु का प्रतिपक्षभूत, साध्य से विपरीत को सिद्ध करने वाला, तथा तुल्यबल वाला अन्य हेतु भी विद्यमान हो, उसको 'प्रकरणसम' या 'सत्प्रतिपक्ष' हेत्वाभास कहा जाता है। जैसे 'शब्दो नित्यो नित्यधर्मानुपलब्धेः'। यहाँ पर 'नित्यधर्मानुपलब्धेः' इस हेतु का प्रतिपक्षभूत, शब्द की अनित्यता रूप साध्य से विपरीत नित्यता को सिद्ध करने वाला

---

१. सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः।—न्या०सू० १।२।४

२. तत्र प्रकरणसमो नामाहेतुः, यथा-अन्यः शरीरादात्मा नित्यः इति पक्षे परो ब्रूयात्-यस्मादन्यः शरीरादात्मा, तस्मान्नित्यः। शरीरं ह्यनित्यमतो विधर्मिणा चात्मना भवितव्यमित्येष चाहेतुः। नहि य एव पक्षः स एव हेतुः।

—च० वि० ८।५७

३. प्रक्रियते साध्यत्वेनाधिक्रियते इति व्युत्पत्तया प्रकरणं पक्षः, तेन समः प्रकरणसमः।

—चक्रपाणि

'अनित्यधर्मानुपलब्धेः' यह हेतु भी हो सकता है। हम कह सकते हैं—शब्दो नित्यो नित्यधर्मानुपलब्धेः। अतः तुल्य बल वाले प्रतिपक्षभूत हेत्वन्तर के विद्यमान होने से इसे सत्प्रतिपक्ष कहना सर्वथा युक्तियुक्त है। परन्तु इसका मूल नाम 'प्रकरणसम' इस अर्थ को देना सर्वथा अपर्याप्त है। न्यायभाष्य में संशय का विषय बनने वाले अनिर्णीत पक्ष तथा प्रतिपक्ष को प्रकरण कहा गया है, क्योंकि 'प्रक्रियते साध्यत्वेनाधिक्रियते वादिप्रतिवादिभ्यामितिप्रकरणम्' इस व्युत्पत्ति से प्रकरण शब्द का यही अर्थ निर्गलित होता है। उस प्रकरण के सम्बन्ध में चिन्ता (विचार) करते समय जिस हेतु को लेकर प्रकरण की चिन्ता प्रारम्भ हुयी थी, उसी हेतु को निर्णय करने के लिए उपस्थित करना 'प्रकरणसम' हेत्वाभास कहलाता है।[1] यह भाष्य 'यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः' (न्या० सू० १।२।७) इस न्यायसूत्रों के अक्षरों का अनुसरण करता है।

अब विज्ञजन स्पष्ट देख सकते हैं कि नव्य नैयायिकों के द्वारा दिये गये 'शब्दो नित्यो नित्यधर्मानुपलब्धेः' इत्यादि उदाहरण सूत्रभाष्योक्त लक्षण की कसौटी पर सर्वथा खरे नहीं उतर पाते हैं। इसके विपरीत संस्कृत के इस चिकित्सा ग्रन्थ चरकसंहिता में प्रकरणसम हेत्वाभास का जो उदाहरण दिया गया है, वह न्यायसूत्रोक्त लक्षण के सर्वथा अनुरूप प्रतीत होता है। क्योंकि आत्मा की शरीर से भिन्नता या अभिन्नता रूप जिस असिद्ध हेतु को लेकर आत्मा की नित्यता या अनित्यता का विचार प्रारम्भ किया गया था, शरीर से भिन्नतारूप उसी असिद्ध हेतु को आत्मा की नित्यता का साधक नहीं बनाया जा सकता है। ऐसा लगता है कि अक्षपाद ने जब न्यायसूत्र बनाया तो उनकी दृष्टि में चरकसंहिता का यह निदर्शन विद्यमान था। तभी तो आयुर्वेदीय निदर्शन के अनुरूप ही उन्होंने सूत्र की रचना की है। परन्तु उनके परवर्ती नैयायिकों ने परिष्कार करके उसे सत्प्रतिपक्ष के रूप में ढाल दिया है।

संशयसम

संशयसम नाम का हेत्वाभास वहाँ पर होता है जहाँ पर संशय का हेतु हो, उसे ही संशय के विनाश का हेतु मान लिया जाय। जैसे—'इसने आयुर्वेद के एक

---

१. विमर्शाधिष्ठानौ पक्षप्रतिपक्षावुभावनवसितौ 'प्रकरणम्'। तस्य 'चिन्ता' विमर्शात्प्रभृति प्राङ्निर्णयाद्यत्समीक्षणम्। सा जिज्ञासा यत्कृता स निर्णयार्थं प्रयुक्तः उभयपक्षसाम्यात् प्रकरणमनतिवर्तमानः 'प्रकरणसमो' निर्णयाय न प्रकल्पते।

—न्या० भा० १।२।७

अंश को कहा है, क्या यह चिकित्सक है अथवा नहीं है 'ऐसा संशय होने पर कोई दूसरा कहे—'चूंकि इसने आयुर्वेद के एकदेश को कहा है, इसलिए यह चिकित्सक है। इसमें जो संशय के विनाश का हेतु बतलाया गया है, वह संशय के हेतु से कुछ भी विशेषता नहीं रखता है। इसलिए यह हेत्वाभास है, क्योंकि जो संशय का हेतु हो, वही संशय के विनाश का हेतु नहीं बन सकता है।

आयुर्वेद के एकदेश का कथन चिकित्सक तथा अचिकित्सक दोनों का बोध करा सकता है, इसलिए यह संशय उत्पन्न करने वाला हेतु है। कोई भी पुरुष शास्त्र का अभ्यास न होने पर कहीं से सुनकर भी आयुर्वेद के एक अंश का कथन कर सकता है। इसलिए आयुर्वेद के एकदेश का कथन संशयहेतु होने के कारण संशय के विनाश का कारण नहीं हो सकता है।

न्यायभाष्यकार ने 'संशयसम' हेत्वाभास का 'सव्यभिचार' में अन्तर्भाव माना है— जहाँ पर संशय का कारण बनने वाला एक ही धर्म (संशय विनाश के) हेतु रूप से ग्रहण किया जायगा, वह 'संशयसम' नाम का हेत्वाभास वस्तुतः सव्यभिचार ही है।[२]

वर्ण्यसम

जो हेतु (और दृष्टान्त भी) (असिद्ध होने के कारण) वर्ण्य (साध्य) के समान हो उसे वर्ण्यसम (साध्यसम) कहते हैं।[३] जैसे विपक्षी कहे—'बुद्धि अनित्य है, स्पर्श-रहित होने के कारण, शब्द के समान।' यहाँ पर शब्द (में स्पर्शराहित्य हेतु के द्वारा अनित्यता) वर्ण्य (साध्य) है तथा बुद्धि भी वर्ण्य (साध्य) है। इसलिए दोनों (शब्द तथा बुद्धि) वर्ण्यों (साध्यों) में अविशिष्ट (समान) होने के कारण स्पर्शराहित्य वर्ण्यसम नामक हेत्वाभास है।[४]

---

१. संशयसमो नामाहेतुर्य एवं संशयहेतुः स एव संशयच्छेदहेतुः—यथा—अयमायुर्वेदैकदेशमाह, किन्वयं चिकित्सकः स्यान्नवेति संशये परो ब्रूयात्-यस्मादयमायुर्वेदैकदेशमाह तस्माच्चिकित्सकोऽयमिति, न च संशयच्छेदहेतुं विशेषयति, एष चाहेतुः न हि य एवं संशयहेतुः, स एव संशयच्छेदहेतुर्भवति।—च० सं० वि० ८।५७

२. 'यत्र समानो धर्मः संशयकारणं हेतुत्वेनोपादीयते स संशयहेतुः सव्यभिचार एवं इति।—न्या० भा० १।२।७

३. वर्ण्येन साध्येन दृष्टान्तोऽस्य सिद्धत्वेन सम इति वर्ण्यसमः। वर्ण्य शब्दः इति···· साध्यत्वेनाविशिष्टत्वादित्यर्थः।—चक्रपाणि

४. वर्ण्यसमो नामाहेतुः यो हेतुर्वर्ण्याविशिष्टः। यथा परो ब्रूयादस्पर्शत्वाद् बुद्धिरनित्या शब्दवदिति। अत्र वर्ण्य शब्दो बुद्धिरपि वर्ण्या, तदुभयवर्ण्याविशिष्टत्वाद् वर्ण्यसमोऽप्यहेतुः।—च० वि० ८।५७

उक्त उदाहरण में 'बुद्धि अनित्य है' यह प्रतिज्ञा है। 'स्पर्शरहित होने के कारण' यह हेतु है। 'शब्द के समान' यह दृष्टान्त है। अर्थात् जिस प्रकार स्पर्शरहित होने के कारण शब्द अनित्य है, उसी प्रकार स्पर्शरहित होने के कारण बुद्धि भी अनित्य है। हेतु उदाहरण के साधर्म्य से साध्य का साधन करता है। उदाहरण उसे कहते हैं, जिसे मूर्ख तथा विद्वान् एक ही रूप समझते हों। यहाँ बुद्धि (पक्ष) तथा शब्द (उदाहरण) दोनों में ही अनित्यता साध्य हैं। साध्य कभी भी उदाहरण नहीं बन सकता। इसलिए बुद्धि तथा शब्द दोनों की अनित्यता साध्य होने के कारण तुल्य होने पर 'दोनों में' 'स्पर्शत्वं' हेतु समानरूप होने के कारण वर्ण्यसम हेत्वाभास। न्यायसूत्र के अनुसार जो हेतु साध्य अर्थात असिद्ध होने के कारण साध्य के समान हो, वह 'साध्य'[1] हेत्वाभास कहलाता है।

सव्यभिचार

सव्यभिचार उसे कहते हैं, जिसमें व्यभिचरण अर्थात् एकनिष्ठता का अभाव हो। जैसे यह औषध इस रोग में यौगिक होगी या नहीं।[2]

इस परिभाषा में औषध अनैकान्तिक इसलिए है क्योंकि औषध के यौगिकत्व एवं अयौगिकत्व में अनिश्चितता है। यदि यह निश्चय होता कि औषध 'यौगिक है' अथवा यही निश्चित होता कि अयौगिक है तो इन दोनों स्थितियों में औषध ऐकान्तिक ही होती। परन्तु यहाँ पर कुछ भी निश्चित न होने से वह अनैकान्तिक है।

उपर्युक्त अनिश्चितता के कारण संशय उत्पन्न होता है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि अनैकान्तिक संशय का जनक तो परन्तु स्वयं संशय नहीं है।

किसी भी अनैकान्तिक वाक्य के लिए 'सव्यभिचार' यह संज्ञा दी जा सकती है। इसलिए इसका क्षेत्र अधिक व्यापक हो जाता है। यही कारण है कि अनैकान्तिक हेतु भी सव्यभिचार है। जैसा कि न्यायसूत्र में अनैकान्तिक हेतु 'सव्यभिचार' कहा जाता है।[3]

विरुद्ध

जो (वाक्य तथा हेतु) दृष्टान्त, सिद्धान्त तथा समय से विरुद्ध हो उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। दृष्टान्त तथा सिद्धान्त का वर्णन इसी अध्याय में पूर्व की पंक्तियों

---

१. 'साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः' ।—न्या० सू० १।२।८

२. अथ सव्यभिचारम् । सव्यभिचारं नाम यद् व्यभिचरणम् । यथा-भवेदिदमौषध-मस्मिन् व्याधौ यौगिकमथवा नेति ।—च० वि० ८।४५

३. अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ।—न्या० सू० १।२।५

में किया जा चुका है। केवल समय का ही वर्णन करना है। समय तीन प्रकार का होता है (१) आयुर्वेदिक समय, (२) याज्ञिक समय, (३) मोक्षशास्त्रिक समय। इनमें से आयुर्वेदिक समय का उदाहरण है—'भेषज चतुष्पाद'। याज्ञिक समय का उदाहरण है—'पशु आलभन'। मोक्षशास्त्रिक समय का उदाहरण है—समस्त प्राणियों की (कायिकी, वाचनिकी, तथा मानसिकी) हिंसा से दूर रहना। इन त्रिविध समयों के होते हुए उस समय के विपरीत बोला जाता हुआ (वाक्य का हेतु) विरुद्ध कहलाता है।

दृष्टान्त विरुद्ध का उदाहरण—जिस प्रकार शीतल जल तापक है, उसी प्रकार ज्वर भी।[२]

सिद्धान्त विरुद्ध का उदाहरण—जैसे वैद्य कहता कि भेषज साध्यरोग को हरने में समर्थ नहीं है।[३]

यद्यपि आयुर्वेद में 'भेषज चतुष्पाद है' यह सिद्धान्त ही माना जाता है तथापि चतुष्पाद संज्ञा समय के द्वारा ही बनी है। इसी प्रकार याज्ञिकों के मत में 'आलभ्य संज्ञ' समयकृत है। यदि आयुर्वेद यज्ञ तथा मोक्षशास्त्रियों के अपने-अपने समय से विपरीत वाक्य कोई कहता है तो उसका वह वाक्य 'समयविरुद्ध' कहलाता है। जैसे यदि कोई कहे—यज्ञ में पशुओं का आलभन नहीं करना चाहिए तो यह याज्ञिक-समयविरुद्ध होगा। इसी प्रकार यदि कोई वक्ता कहे—सब प्राणियों की हिंसा करनी चाहिए, तो यह मोक्षशास्त्रिक समयविरुद्ध होगा।

यहाँ पर विरुद्ध का वाक्यदोष के रूप में निरूपण किया गया है, केवल हेतु-दोष के रूप में नहीं। अक्षपाद ने विरुद्ध की गणना हेतुदोषों में की है और उन्होंने विरुद्ध का जो लक्षण दिया है, वह वस्तुतः केवल अभ्युपगमसिद्धान्तविरुद्ध का है। यहाँ पर तो विरुद्ध का सामान्यरूप से लक्षण किया गया है। फलतः यह अधिक व्यापक है और इसमें 'विरुद्ध' नामक हेत्वाभास का भी अन्तर्भाव हो जाता है।

---

१. अथ विरुद्धम्। विरुद्धं नाम यद्दृष्टान्तसिद्धान्तसमयैर्विरुद्धम्, पूर्वं दृष्टान्त-सिद्धान्तावुक्तौ, समयः पुनस्त्रिधा भवत्यायुर्वेदिकसमयो याज्ञिकसमयो मोक्षशास्त्रिक समय इति। तत्रायुर्वेदिक समयः—चतुष्पादं भेषजमिति, याज्ञिकसमयः—आलभ्याः पशवः इति, सर्वभूतेष्वहिंसेति मोक्षशास्त्रिकसमयः। तत्रस्वसमय-विपरीतमुच्यमानं विरुद्धं भवति इति।—च० वि० ८।५४

२. दृष्टान्तविरुद्धं यथा शीतं जलं तापकं तथा ज्वरोऽपीति।

—च० वि० ८।५४ पर चक्रपाणि

३. सिद्धान्तविरुद्धं यथा वैद्यो ब्रूते न च भेषजं रोगहरमिति।—वहीं

अतीतकाल

जिसे पहले कहा जाना चाहिए, उसे यदि पश्चात् कहा जाय तो वह अतीतकाल कहा जाता है। (जैसे पहले निगमन कहकर फिर प्रतिज्ञा कही जाय अथवा पहले उदाहरण देकर बाद में हेतु का कथन किया जाय)। वह काल (उचित अवसर) के व्यतीत होने के कारण अग्राह्य होता है। अथवा यदि कोई (शास्त्रार्थ) में प्रतिपक्षी को पहले निग्रहप्राप्त होने पर निगृहीत न करके, बाद में, जब वह दूसरा पक्षग्रहण कर ले, तब निगृहीत करता है, तो (उचित) काल के व्यतीत हो जाने के कारण उस पुरुष का वह निग्रहवचन निग्रह करने में असमर्थ होता है।[1]

इस स्थल में अतीतकाल का लक्षण दो प्रकार से किया गया है—पहले विकल्प के अनुसार पंचरूपोपन्न अनुमान वाक्य के अवयवों का विपर्यासपूर्वक कथन करना अतीतकाल है तथा दूसरे विकल्प के अनुसार प्रतिपक्षी के निग्रह प्राप्त होने पर चूक जाना तथा पक्षान्तर का आश्रय ग्रहण करने पर निगृहीत करना उचित काल का अतिक्रमण करने के कारण कालातीत कहलाता है।

अतीतकाल का लक्षण यहाँ पर हेत्वाभास तक ही सीमित न करके सामान्यरूप से कहा गया है। इस कारण इस व्यापक लक्षण मे अक्षपादोक्त कालातीत हेत्वाभास का भी अन्तर्भाव हो जाता है।

वस्तुतः कालातीत जो व्याख्या आयुर्वेद में प्रथम विकल्प के रूप में प्रस्तुत की गयी है, वह अक्षपादगौतम तथा वात्स्यायन को इष्ट नहीं है। यह व्याख्या बौद्धनैयायिकों के मतानुसार की गयी है तथा वात्स्यायन ने न्यायभाष्य मे इसका खण्डन किया है।[2] यहाँ पर जो व्याख्या प्रस्तुत है, वह वस्तुतः न्यायसूत्र मे अप्राप्तकाल नाम का निग्रह स्थान है।[3]

---

१. अथातीतकालम्। अतीतकालं नाम यत्पूर्वं वाच्यम्, तत्पश्चादुच्यते, तत्कालातीतत्वादग्राह्यं भवतीति। पूर्वं वा निग्रहप्राप्तमनिगृह्य पक्षान्तरितं परिगृह्य पश्चान्निगृहीते त तस्यातीतकालत्वान्निग्रहवचनसमर्थं भवतीति।—च० वि० ८।५८
तुलनीय—कालात्ययापदिष्टः कालातीतः।—न्या० सू० १।२।९

२. अवयवविपर्यासवचनं न सूत्रार्थः। कस्मात् 'यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः। अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्'। इत्येतद्वचनाद् विपर्यासेनोक्तो हेतुरुदाहरणसामर्थ्यात्तथा वैधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुलक्षणं न जहाति। अजहद्धेतुलक्षणं न हेत्वाभासो भवतीति।—न्या० भा० १।२।९

३. 'अवयव विपर्यासवचनमप्राप्तकालम्'। प्रतिज्ञादीनामवयवानां यथालक्षणमर्थवशात् क्रमः। तत्रावयवविपर्यासेन वचनप्राप्तकालसम्बद्धार्थं निग्रहस्थानमिति।
—न्या० भा० ५।२।११

इस प्रकार आचार्य ने इन छः हेत्वाभासों का निरूपण किया है। दूसरे भिषग्जनों के साथ शास्त्रार्थ करते समय स्वयं तो इन हेत्वाभासों से बचने का पूर्ण-प्रयत्न करना चाहिए, परन्तु प्रतिपक्षी के तर्क में प्रयुक्त हेत्वाभासों को पकड़ने के लिए सतर्क रहना चाहिए। जैसे ही देखें कि प्रतिपक्षी हेत्वाभास का अवलम्बन कर रहा है, वैसे ही उससे उपालम्भ करना चाहिए। आचार्य ने उपालम्भ का लक्षण इस प्रकार दिया है—

(प्रतिपक्षी के द्वारा प्रयुक्त) हेतु के दोषों का कथन करना उपालम्भ कहलाता है। जैसे कि इसके पूर्व असाधकहेतुरूप हेत्वाभासों की व्याख्या की गई है।[१]

इसी प्रकार जब विपक्षी के द्वारा उपालम्भ किया जाय तो अपने द्वारा प्रयुक्त हेतु के दोषों का परिहार कर देना चाहिए। परिहार का लक्षण इस प्रकार है—

'उसी दोष का कथन का निराकरण करना परिहार कहलाता है। जैसे—आत्मा के शरीर में स्थित होने पर (प्रतिसन्धान तथा स्मरण आदि) जीवलिंग सर्वदा उपलब्ध होते हैं और आत्मा के शरीर से निकल जाने पर वे लक्षण नहीं उपलब्ध होते। इसलिए आत्मा शरीर से भिन्न और नित्य है।[२]

प्रकरणसम हेत्वाभास का जो उदाहरण दिया गया था, उसी का परिहार यहाँ पर उदाहरणरूप से प्रस्तुत किया गया है। जीवित शरीर में चेतनत्व आदि की उपलब्धि होती है तथा मृत शरीर में नहीं, इसलिए चैतन्य का प्रतियोगी शरीर से भिन्न कोई दूसरा ही होना चाहिए, जिसके निकल जाने पर मृतशरीर चेतनाहीन हो जाता है। इसलिए आत्मा की शरीर से भिन्नता सिद्ध हुयी।

कुशल चिकित्सक के लिए उपर्युक्त हेत्वाभास का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि अनुमान करते समय प्रतिपद में हेत्वाभास के प्रवेश से अनुमान की सारी प्रक्रिया के चौपट हो जाने की सम्भावना रहती है। इसीलिए अनुमान में अव्याहत गति सभी वैद्यों की नहीं होती। हेत्वाभास के प्रवेश से जहाँ अनुमानजन्य निष्कर्ष

---

१. अथोपालम्भः। उपालम्भो नाम हेतोदोषवचनम्, यथा पूर्वमहेतवो हेत्वाभासाः व्याख्याताः।—च० वि० ८।५६

२. अथ परिहारः। परिहारो नाम तस्यैव दोषवचनस्य परिहरणम्। यथा—नित्यमात्मनि शरीरस्थे जीवलिंगान्युपभ्यन्ते, तस्य चापगमान्नोपलभ्यन्ते, तस्मादन्यः शरीरादात्मा नित्यश्चेति।—च० वि० ८।६०
तुलनीय—शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः।
—न्यायकारिकावली प्रत्यक्ष खण्ड ४८

गलत हुआ तो फिर चिकित्साकर्म में सफलता नहीं मिल सकती। इसलिए कुशल वैद्य को इन हेत्वाभासों से बचने के लिए सर्वदा सफल प्रयास करना चाहिए।

अनुमान प्रमाण का चिकित्सा कर्म में उपयोग

जबकि रोगी के शरीरगत शब्द, स्पर्श, रूप और गन्ध की परीक्षा प्रत्यक्ष प्रमाण से की जा सकती है। उसके शरीरगत रस की परीक्षा रसनेन्द्रिय के द्वारा कदापि नहीं करनी चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से रोग के कीटाणु परीक्षक के उदर में प्रविष्ट हो जायेंगे तथा परीक्षक भी रोगग्रस्त हो जायेगा और यदि संयोग से रोगी का शरीर विषाक्त हो गया हो, तो परीक्षक की मृत्यु भी हो सकती है। इसीलिए रोगी के शरीरगत रस की परीक्षा करते समय अनुमान का आश्रय लेना चाहिए। इस प्रयोजन को दृष्टि में रखकर महर्षि आत्रेय कहते हैं—

'रोगी के शरीर का रस यद्यपि इन्द्रियग्राह्य है तथापि उसका ज्ञान अनुमान से करना चाहिए। क्योंकि प्रत्यक्ष से उसका ग्रहण करना उचित नहीं है। अतएव रोगी से प्रश्न करके उसके मुख का रस कैसा है, यह जाने।

यदि रोगी के शरीर से जुंए अलग हो जायें, तो इससे उसके शरीर की विरसता का अनुमान करना चाहिए। (क्योंकि शरीर के रसरहित होने पर जुएँ चले जाते हैं।) (इसी प्रकार यदि जुएँ इत्यादि न हटें, तो समझना चाहिए कि शरीर स्वाभाविक रस से युक्त है।)

मक्खियों के समीप आ जाने पर शरीर की मधुरता का अनुमान करना चाहिए।

रक्तपित्त का सन्देह होने पर निकलने वाला रक्तधारिरक्त, (शरीरधारक शुद्धरक्त है या 'रक्तपित्त' इसका निर्णय करने के लिए उसे कुत्ते तथा कौए के आगे डालें। यदि वे खा जायं तो वह शरीरधारक रक्त है और यदि न खायें तो रक्तपित्त है, ऐसा अनुभव करना चाहिए। धारिरक्त पित्त से दूषित न होने के कारण रसयुक्त होता है, इसलिए कुत्ते इत्यादि उसे चाट लेते हैं परन्तु पित्त से दूषित रक्तपित्त को नहीं चाटते। इसी प्रकार रोगी के शरीर के अन्य रसों का भी अनुमान करना चाहिए।[2]

---

१. च० वि० ४।८

२. ····रसं तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादवगच्छेत्, न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमुपपद्यते, तस्मादातुरपरिप्रश्नेनैवातुरमुखरसं विद्यात्, यूकासर्पणेन त्वस्य शरीरवैरस्यं, मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यं, लोहितपित्तसन्देहे तु किं धारिलोहितं लोहितपित्तं वेति श्वकाकभक्षणाद्धारिलोहितमभक्षणाल्लोहितपित्तमित्यनुमातव्यम्, एवमन्यानप्यातुरशरीगतान् रसाननुमिमीतः····।—च० वि० ४।८

रस की परीक्षा अनुमान के द्वारा करनी चाहिए। रस के अतिरिक्त रोगी के कौन-कौन से भाव[1] अनुमान प्रमाण के द्वारा जाने जाते हैं उनकी सूची इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है[2]—

(१) पाचन शक्ति के द्वारा अग्नि का परीक्षण (अनुमान) करना चाहिए।

(२) व्यायाम शक्ति के द्वारा बल का।

(३) शब्दादि विषयों के ग्रहण से श्रोत्रादि इन्द्रियों का।

(४) अर्थ का अव्यभिचरित रूप से ग्रहण करने के द्वारा मन का।

(५) व्यवसाय के द्वारा विज्ञान का (यथा रोगी पेयजल को पीने के लिए प्रवृत्त होता है तो इससे अनुमान होता है कि उसे जल का ज्ञान हुआ है)।

(६) (नारी इत्यादि में) आसक्ति से रजस का।

(७) अविज्ञान से मोह का।

(८) अभिद्रोह से क्रोध का।

(९) दीनता से शोक का।

(१०) आमोद से हर्ष का।

(११) तोष से प्रीति का।

(१२) विषाद से भय का।

(१३) अविषाद से धैर्य (विपत्ति में भी दीनता के न होने) का।

---

१. भूयोऽनुमानज्ञेया इत्यनेनानुगम्यतया वक्ष्यभाणाः केचिदग्निबलादयः आतुरोपदेशगम्या अपि भवन्तीति सूच्यति।—चक्रपाणि

२. इमे तु खल्वन्येऽप्येवमेव भूयोऽनुमानज्ञेया भवन्ति भावाः। तद्यथा—अग्निं जरणशक्त्या परीक्षेत, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोतादीनि शब्दाद्यर्थग्रहणेन, मनोऽर्थाव्यभिचरणेन, विज्ञान व्यवसायेन, रजः सङ्गेन, मोहमविज्ञानेन, क्रोधमभिद्रोहेण, शोकं दैन्येन, हर्षमामोदेन, प्रीतिं तोषेण, भयं विषादेन, धैर्यमविषादेन, वीर्यमुत्थानेन, अवस्थानमविभ्रमेण, श्रद्धामभिप्रायेण, मेधां ग्रहणेन, सज्ञां नामग्रहणेन, स्मृतिं स्मरणेन, ह्रियमपत्रपणेन, शीलमनुशीलेन, द्वेषं प्रतिषेधेन, उपधिमनुबन्धेन, धृतिमलौल्येन, वश्यतां विधेयतया, वयोभक्तिसात्म्यव्याधि समुत्थानानि कालदेशोपशयवेदनाविशेषेण, गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां, दोषप्रमाणविशेषमपचारविशेषेण, आयुषः क्षयमरिष्टैः, उपस्थितश्रेयस्त्वं कल्याणाभिनिवेशेन, अमलं सत्वमविकारेण, ग्रहण्यास्तु मृदुदारुणत्वं स्वप्नदर्शनमभिप्रायं द्विष्टेष्टसुखदुःखानि चातुरपरिप्रश्नेनैव विद्यादिति।—च० वि० ४।८

(१४) उत्थान के द्वारा अथवा उत्साह के द्वारा वीर्य (दुष्कर कार्यों से भी मन न मोड़ने) का।

(१५) विभ्रम (भ्रान्ति) के न होने से स्थिर बुद्धि का।

(१६) अभिप्राय (अभ्यर्थना) से श्रद्धा (इच्छा) का।

(१७) (ग्रन्थादि के) ग्रहण से मेधा का।

(१८) नाम ग्रहण करने से संज्ञा का।

(१९) स्मरण से स्मृति का।

(२०) शरमाने से लज्जा का।

(२१) सतत अनुशीलन (अभ्यास) से शील का।

(२२) प्रतिषेध (व्यावृत्ति) से द्वेष का।

(२३) अनुबन्ध से छल का। (जैसे पथ्य ग्रहण करने के दिन ही यदि रोगी चोरी से अपथ्य ग्रहण कर लेता है तो ज्वरादि से उसकी चोरी पकड़ ली जाती है।

(२४) मन की अचंचलता से वृत्ति का।

(२५) आज्ञापालन द्वारा वश्यता का।

(२६-२९) काल विशेष, देशविशेष, उपशयविशेष तथा वेदनाविशेष के द्वारा क्रमशः अवस्था, भक्ति, सात्म्य तथा व्याधि-समुत्थान का; (जैसे—सोलह वर्ष आदि कालविशेष से बाल्यादि अवस्था का ज्ञान होता है। मध्यदेशादि देशविशेष से गेहूँ, उर्द आदि में रुचि का अनुमान होता है। चूँकि यह वस्तु इसके अनुकूल है अतः यह इसके लिए सात्म्य है ऐसा उपशयविशेष से अनुमान होता है। इसी प्रकार चूँकि इसे सन्ताप की वेदना हो रही है इसलिए ज्वर का रोग उठ खड़ा हुआ है ऐसा वेदनाविशेष स अनुमान होता है)।

(३०) उपशय (सुखकर) तथा अनुपशय (दुःखकर) के द्वारा गूढ लक्षणों वाले रोग का (अर्थात जिस रोग के लक्षण स्पष्ट न हों और हम उनसे निर्णय न कर सकें कि यह रोग किस दोष से उत्पन्न हुआ है तब उपशय तथा अनुपशय के द्वारा परीक्षा की जाती है। अर्थात यह देखना होता है कि इसे कौन-कौन से भाव सुखकर लगते हैं तथा कौन-कौन से दुःखकर। इसी ज्ञान के द्वारा रोग का निदान कर लिया जाता है। इससे यह भी फलित हुआ कि जिस व्याधि के लक्षण स्पष्ट हों तो उन्हीं लक्षणों से व्याधि का निश्चय कर लेना चाहिए, उपशय तथा अनुपशय के द्वारा परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है)।

(३१) अपचार (अपथ्य) विशेष से दोषों की मात्राविशेष का (अधिक अपचार से अधिक दोष होते हैं तथा स्वल्प से स्वल्प)।

(३२) अरिष्ट लक्षणों से आयु के क्षय का। (इसकी व्याप्ति इस प्रकार है—उत्पन्न हुए अरिष्ट का मृत्यु के बिना नाश नहीं होता और ऐसा कोई मृत्यु प्रकार भी नहीं, जिसके पूर्व अरिष्ट लक्षण न होते हों[1])।

(३३) श्रेयस्कर मार्ग पर चलने से शीघ्र होने वाले कल्याण का।

(३४) द्वेषादि मनोविकारों का अभाव होने से निर्मल चित्त का (अनुमान करना चाहिए।

युक्ति

युक्ति प्रमाण अन्य शास्त्रों में प्रसिद्ध नहीं है, परन्तु प्राचीन भारतीय चिकित्साविज्ञान में इसको स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करने का प्रयत्न किया गया है। संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों में किसी शास्त्र-विशेष का अवलम्बन नहीं किया गया है, प्रत्युत चिकित्साकर्म में उपयोगी तथा अपने सिद्धान्त के अनुकूल आवश्यक तत्व सभी शास्त्रों से लेकर उसी प्रकार संगृहीत किये गये हैं, जिस प्रकार मधुमक्षिका विभिन्न पुष्पों से उपयोगी मधु ग्रहण कर एकत्रित करती है। इसी कारण यह आयुर्वेद विज्ञान मधु के समान सरस उपयोगी तथा दोषनाशक है।

युक्ति प्रमाण का उल्लेख केवल चरकसंहिता नामक चिकित्सा ग्रन्थ में ही मिलता है। अन्य शास्त्रों में प्रसिद्ध न होने के कारण आचार्य ने पहले उसके उदाहरण दिये हैं, बाद में लक्षण प्रस्तुत किया है, क्योंकि उदाहरणों का ज्ञान हो जाने पर लक्षण आसानी से समझा जा सकता है।

'जल, जोती हुयी भूमि, बीज तथा ऋतु (उपयुक्त काल) के संयोग से शस्य की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार का जो ज्ञान है, उसे युक्ति कहते हैं। छः धातुओं के संयोग (पंचमहाभूत और आत्मा के) से गर्भ की उत्पत्ति होती है,[2] यह भी उसी

---

१. न त्वरिष्टस्य जातस्य नाशोऽस्तिमरणात् ऋते।
मरणं चापि तन्नास्ति यन्नारिष्टपुरस्सरम् ॥—च० इ० २।५

२. खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।—च० शा० १।१६
षड्धातुस्तु पुरुषो रोगा षड्धातुजास्तथा।
राशिः षड्धातुजः सांख्यैराद्यैः परिकीर्तितः ॥—च० सू० २५।१५
'गर्भस्तु खल्वन्तरिक्षवाय्वग्नितोयभूमि विकारश्चेतनाधिष्ठानभूतः। स्वमनया युक्त्या पंचमहाभूत विकारसमुदायात्मको गर्भश्चेतनाधात्वधिष्ठानभूतः। स ह्यस्य षष्ठो धातुरुक्तः' ।—च० शा० ४।६

प्रकार युक्ति है। मथ्य (अधःस्थित काष्ठ), मन्थन (रगड़ने की क्रिया), अथवा मन्थक (रगड़ने वाला पुरुष) और मन्थान (उर्ध्वस्थित काष्ठ, जिससे नीचे की काष्ठ रगड़ी जाती है) के संयोग से अग्नि उत्पन्न होती है, (यह भी युक्ति है)। इसी प्रकार गुणसम्पन्न चतुष्पाद (रोगी, वैद्य, औषध और परिचार-चिकित्सा के इन चार पादों) के युक्तिपूर्वक प्रयोग से व्याधि विनाश होता है।[1]

इस प्रकार युक्ति प्रमाण के अनेक निदर्शन देकर उसका लक्षण प्रस्तुत किया गया है—

'अनेक उपपत्तियों के योग से समझे जाने वाले अर्थों को जो बुद्धि विषय करती है, उस (उहलक्षण बुद्धि) को युक्ति कहते हैं। (अर्थात् इसको इस प्रकार से होना चाहिए' ऐसी ऊहा का 'युक्ति' शब्द से कथन किया जाता है)। (वर्तमान, अतीत, अनागत को विषय करने के कारण) यह युक्ति त्रिकाल विषया होती है तथा इसके द्वारा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) सिद्ध किया जाता है।[2]

यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो 'पानी, जुती हुयी भूमि, बीज और ऋतु इत्यादि अनेक कारणों के संयोग से भविष्य में होने वाले शस्य का ज्ञान होता है। यह जो युक्ति का पहला उदाहरण दिया गया है, यह अनुमान से भिन्न नहीं है। अनुमान के प्रकरण में भी 'बीजात् फलमागतम्' मे यही उदाहरण दिया गया है अतः युक्ति का अनुमान से भेद करना दुष्कर है। यह तथ्य चरकसंहिता में आये हुए इस वचन से भी प्रमाणित होता है—

'युक्ति की अपेक्षा करने वाले तर्क का नाम अनुमान है।[3] इस प्रकार से सिद्ध होता है कि युक्ति कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है यह बात अवश्य है कि अनुमान प्रमाण की प्रक्रिया में यह युक्ति सहायता पहुँचाती है। जैसा कि चक्रपाणि ने भी अपनी टीका में कहा है—'किसी वस्तु का निर्णय करने में युक्ति के परमार्थतः अप्रमाण होने पर प्रमाणों की सहायिका के रूप में व्यापृत होने के कारण तथा ऊहरूपा युक्ति के द्वारा ही प्रायः लोगों का व्यवहार होने के कारण यहाँ पर उसे प्रमाण कहा

१. जलकर्षणबीजर्तसंयोगात्शस्यसम्भवः। युक्तिः षड्धातुसंयोगाद् गर्भाणां सम्भव-स्तथा। मथ्यमन्थनमन्थानसंयोगादग्निसम्भवः। युक्तियुक्ता चतुष्पादसम्पद्व्याधि-निर्बहणी।—च० सू० ११।२३-२४

२. बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान्। युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेयात्रिवर्गः साध्यते यया।—च० सू० ११।२५

३. अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः।—च० वि० ४।६

गया है। इसी कारण दूसरे स्थलों पर[1] युक्ति को छोड़कर केवल तीन ही प्रमाण दिखाये गये हैं।[2]

इसके अतिरिक्त युक्ति का लक्षण भी समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि जब युक्ति के द्वारा कारण से कार्य की प्रतीति होती है तो वर्तमान में कभी नहीं होती। अतः युक्ति को 'त्रिकाला' कहना उचित नहीं है।

युक्ति के सम्बन्ध में तत्वसंग्रहकार शान्तरक्षित तथा उनके व्याख्याकार कमलशील ने पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष की स्थापना इस प्रकार की है—

'इसके होने पर वह वस्तु निश्चित रूप से होती है और इसके न होने पर नहीं होती है, अतः इस (कारण) से वह (कार्य) होता है, यह युक्ति कहलाती है। चरकमुनि ने इसको प्रमाणान्तर के रूप में ही स्वीकार किया है। इसका अनुमान में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है, क्योंकि इसमें दृष्टान्त नहीं होता है।[3]

---

१. त्रिविधं खलुरोगविशेषविज्ञानं भवति। त्रिविधा व सहोपदेशेन (च० वि० ४।४-७)। त्रिविधा वा सहोपदेशेन (च० वि० ८।८३)। इन स्थलों में युक्ति का व्यवच्छेद कर दिया गया है।

२. या बुद्धिः पश्यति उहलक्षणा सा युक्तिरिति प्रमाणसहायीभूता।.... सा च परमार्थतोऽप्रमाणभूताऽपि वस्तुपरिच्छेदे प्रमाणसहायत्वेन व्याप्रियमाणत्वात्, तथा तयैव ऊहरुपया प्रायो लोकानां व्यवहारादिह प्रमाणत्वेनोक्ता। अतएव प्रदेशान्तरे युक्तिं विना यथोक्तं प्रमाणत्रयं दर्शयिष्यति—'त्रिविधा वा (परीक्षा) सहोपदेशेन' (वि० ३।४)।—च० सू० ११।२५ पर चक्रपाणि

३. अत्र शान्तरक्षितकमलशीलाभ्यां युक्तिप्रमाणान्तरस्वीकारे पूर्वपक्षसिद्धान्तावुक्तौ—'यस्मिन् सति भवत्येव न भवत्यसतीति च तस्यादतो भवत्येतद्युक्तिरेषाऽभिधीयते। प्रमाणान्तरमेवेदमित्याह चरको मुनिः। नानुमामियं यस्माद्दृष्टान्तोऽत्र न विद्यते' (त०सं०का० १६९२-९३) इति। एतच्छान्तरक्षितवचनं कमलशीलेन व्याख्यातं—तद्भावभावित्वेन या तत्कार्यताप्रतीतिरियं युक्तिः, इयं च सविकल्पत्वान्न प्रत्यक्षं, नाप्यनुमानं दृष्टान्ताभावात्, तथाहि दृष्टान्तोऽपि-अतएव तद्भावाभावित्वात्तत्कार्यताप्रतिपत्तिः तत्रापि दृष्टान्तोऽन्योऽन्वेषणीयः, तत्राप्यपरः इत्यनवस्था स्यात्, तस्मात् प्रमाणान्तरं युक्तिरित्याह चरको वैद्यः, एवं पूर्वपक्षमुत्थाप्य दूषितं यत्—'कार्यकारणभावस्य प्रतिपत्तिर्न संगता। तस्मादस्यां न भेदोऽस्ति साध्यसाधनयोर्यतः। तद्भावव्यवहारे तु योग्यतायाः प्रसाधने। संकेतकाल विज्ञातो विद्यतेऽर्थो निदर्शनम्'।—त० सं० का १६९६-९८

शान्तरक्षित के द्वारा उत्थापित इस पूर्वपक्ष की कमलशील ने इस प्रकार व्याख्या की है—तद्भावभाविता (किसी वस्तु के होने पर किसी वस्तु का होना) के द्वारा जो कारण से कार्य की प्रतीत होती है उसे युक्ति कहते हैं। सविकल्प (विचारात्मक) होने के कारण इसे प्रत्यक्ष नहीं कह सकते और दृष्टान्त न होने के कारण अनुमान भी नहीं कह सकते क्योंकि यदि दृष्टान्त दिया भी जाय तो उसमें भी तद्भावभाविता से तत्कार्यता की प्रतिपत्ति होगी और इसके लिए दूसरा दृष्टान्त खोजना पड़ेगा, इसी प्रकार उसके लिए तीसरा—ऐसी स्थिति में अनवस्था हो जायेगी इसलिए युक्ति स्वतन्त्र प्रमाण है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष की उत्थापना करके शान्तरक्षित ने उसे इस प्रकार दूषित किया है—'चूँकि युक्ति में साध्य और साधन में भेद नहीं होता इसलिए कार्यकारणभाव का ज्ञान युक्ति प्रमाण के द्वारा होता है। यह कथन संगत नहीं है। और यदि कार्यकारणभाव के व्यवहार को साध्य माना जाय तथा (मूढ के प्रति) उस व्यवहार योग्यता का प्रसाधन किया जाय, तत्व तो संकेत काल में ज्ञात होने वाला (घटादि) पदार्थ दृष्टान्त के रूप में उपस्थित होगा। (और सदृष्टान्त होने से युक्ति का अनुमान से अभेद सिद्ध होगा)।'

युक्ति में साध्य और साधन में कोई भेद नहीं होता।[1] प्रस्तुत लक्षण में 'तदभावभविता' हेतु (साधन) है और 'कार्यकारणभाव' साध्य है। इन दोनों में कोई भेद नहीं उपलब्ध होता है, क्योंकि 'गुरु और तात' के समान (अथवा 'तरु और पादप' के समान) ये दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। यदि यह माना जाय कि यहाँ पर कार्यकारणता को सिद्ध नहीं करना है, प्रत्युत कार्यकारणभाव से होने वाले व्यवहार

---

१. ····एतद् व्याख्यातं कमलशीलेन—'युक्तौ न साध्यसाधनयोर्भेदः, तथाहि अत्र तद्भावभावित हेतुः कार्यकारणता च साध्या, चानयोर्भेद उपलभ्यते पर्यायत्वात्तरुपादपवत्; अथ मतं न कार्यकारणता साध्यते कि तर्हि तद्भावव्यवहार इति, तत्राह-तद्भावव्यवहारे इत्यादि, तस्या हेतुफलतायाः भावस्तद्भावः, तत्र व्यवहारो यः स तद्भावव्यवहारः ज्ञानाभिधानप्रवृत्तिलक्षणमनुष्ठानं, तस्मिन् योग्यता मूढं प्रति साध्यते, ये यद्व्यापारानन्तरनियतोपलम्भस्वभावास्ते तत्कार्यव्यवहारयोग्याः; तद्यथा—संकेतकालानुभूताः कुलालादिव्यापारानन्तरोपलम्भस्वभावा घटादयः, तथा च तात्वादिव्यापारानन्तर नियतोपलम्भस्वभावाः शब्दा इति स्वभावो हेतुः ततश्च स दृष्टान्तत्वादनुमानादभेदो युक्तेः। एतौ च पूर्वपक्षसिद्धान्तौ—एवंभूतयुक्त्यस्वीकारादेवाप्रतिविधेयौ।

—च० सू० ११।२५ पर चक्रपाणि की टीका

को सिद्ध करना है। व्यवहार का तात्पर्य यह है किन्हीं दो वस्तुओं (जैसे षड्धातु-संयोग तथा गर्भ) में यह (षड्धातुसंयोग) कारण है यह (गर्भ, कार्य है, इस प्रकार के ज्ञान की योग्यता का होना, इस कारण से यह कार्य बनता है इसलिए उस कार्य की निष्पत्ति के लिए उस कारण-विशेष को लेकर प्रवृत कराने की योग्यता का होना। इस प्रकार ज्ञान, अभिधान तथा प्रवृत्ति की योग्यता ही व्यवहारयोग्यता कहलाती है। जिन वस्तुओं के व्यापार के अनन्तर जिस वस्तु की नियमित रूप से उपलब्धि होती है, वह वस्तु उन वस्तुओं का कार्य है, इस प्रकार व्यवहृत किये जाने के योग्य होती है। जैसे कि संकेत काल में अनुभव का विषय बनने वाले घटादि पदार्थ कुलालादि के व्यापार के अनन्तर नियतरूप से उपलब्ध होते हैं तथा तालु आदि के व्यापार के अनन्तर शब्द नियमित रूप से उपलब्ध होते हैं। जब इस व्यवहारयोग्यता को किसी मूढ़ के प्रति सिद्ध किया जाता है तो ये घटादि पदार्थ निदर्शन (दृष्टान्त) के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं तथा उस स्थिति में सुदृष्टान्त होने के कारण युक्ति अनुमान में अन्तर्भूत हो जायेगी। तत्वसंग्रह में युक्ति के पृथक् प्रामाण्य का खण्डन किया गया है।[1]

इसी प्रकार बौद्ध दार्शनिकों ने भी युक्ति को स्वतन्त्र प्रमाण मानने से इन्कार किया है। संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों में केवल एक ग्रन्थ चरकसंहिता में तथा चरकसंहिता के केवल एक स्थल को ही छोड़कर सर्वत्र प्रमाण त्रय को ही स्वीकार करने से यही बात सिद्ध होती है कि चरकमुनि का युक्ति प्रमाण को मान्यता देने में कोई विशेष अभिनिवेश नहीं है। साथ ही किसी शास्त्र विशेष का अनुसरण करने में कोई विशेष अभिनिवेश नहीं। वास्तव में इससे प्रतीत यह होता है कि इस चिकित्सा ग्रन्थ का प्रणयन करते समय केवल यह लक्ष्य उनके चित्त में सर्वोपरि रहा है कि यह ग्रन्थ अधिकाधिक उपयोगी तथा व्यापक हो अर्थात् अधिक से अधिक रोगों के लक्षण निदान तथा चिकित्सा का निर्णय करने में सहायक हों। इसी भावना से प्रेरित होकर युक्ति को इसलिए स्वतन्त्र प्रमाण मानने का प्रमाद कर बैठे हैं क्योंकि यह निदान तथा भेषज का निश्चय कराने में युक्ति का बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान है उदाहरणार्थ किसी अप्रसिद्ध रोगविशेष का निवारण करने के लिए औषधि की अपेक्षा होने पर कुछ विशेष द्रव्य संग्रहणीय होते हैं। उस समय चिकित्सा युक्ति का आश्रय लेता है। अमुक द्रव्य का अमुक द्रव्य से योग होने पर अमुक प्रभाव उत्पन्न होगा तथा यदि उसमें अमुक द्रव्य मिला दिया जाय तो उसके अभाव में इतना अतिशय या इतनी न्यूनता आ जायेगी। इस प्रकार युक्ति के बल पर विमर्श करके चिकित्सा अपेक्षितार्थ

१. तत्व सं० का० १६६६-६८

की सिद्धि के लिए नाना द्रव्यों के योग औषध निर्माण में प्रवृत्त होता हैं। तदनन्तर रोगी को उस औषधि का सेवन कराने से यदि कुछ लाभ प्रत्यक्ष होता है, तो इसकी युक्ति सफल समझी जाती है। युक्ति के आधार पर औषधि बनाते समय युक्ति के ही द्वारा इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं उन द्रव्यों के परस्पर संयोग का प्रभाव घातक न हो जाय। अनुभव इस बात का साक्षी है कि प्रत्येक चिकित्सक को पदे-पदे युक्ति का अवलम्बन करना पड़ता है। सर्वत्र प्रमाणों की उपलब्धि असम्भव है। प्रमाणों के अभाव में युक्ति ही अन्धे की लाठी बनती है। युक्ति के इसी महत्व के कारण एवं चिकित्सा कर्म की प्रणाली को दृष्टि में रखकर ही चरक-मुनि ने युक्ति को प्रमाण कहने का दुस्साहस किया है।

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह नहीं है कि हमें भी चरकमुनि के इस मत में श्रद्धा हो गयी है। वास्तव में चरकमुनि ने स्वयं 'अनुमान नाम तर्को युक्त्यपेक्षः' (वि० ८।४७) तथा 'अनुमानं खल्वपि तर्को युक्त्योपेक्षः' (वि० ४।६) यह अनुमान का लक्षण निरूपित करते हुए युक्ति को अनुमान प्रमाण की अनुग्राहिका मात्र स्वीकार किया है। अतः यह निश्चित हुआ कि युक्ति कोई प्रमाणान्तर नहीं है। यह व्याप्ति रूप से अनुमान की सहायता करती है। अनुमान प्रमाण की अनुग्राहिका मात्र होने से युक्ति का अन्तर्भाव अनुमान में ही हो जाता है। अतः उसके स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में मानने का औचित्य नहीं है।

उपमान प्रमाण

आयुर्वेद के क्षेत्र में उपमान का योगदान सराहनीय है। भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत प्रभृति शिष्यों को उपदेश देते हुए चतुर्विध प्रमाणों में उपमान को भी गिनाया है। उनका कथन है—'उस आयुर्वेद के सर्वश्रेष्ठ तथा आद्य अंग का मैं प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तथा उपमान इन चार प्रमाणों से विरोध न करते हुए जो मैं उपदेश कर रहा हूँ उसे तुम धारण करो'।[1] परन्तु आश्चर्य है कि चरक मुनि ने चार मुख्य प्रमाणों में उपमान को कोई स्थान नहीं दिया है। यह कहने में हमें कोई संकोच नहीं कि उन्होंने जो चार मुख्य प्रमाण गिनाए हैं उपमान उनमें से किसी का स्थान नहीं ले सकता। सम्भवतः उपमान को मुख्य प्रमाणों में न गिनने का कारण यह भी हो सकता है कि अन्य प्रमाणों के समान उपमान सर्वथा निश्चित हो, ऐसा नहीं है। क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि परिचारक गया हुआ मुद्गपर्णी लेने पर ले आया उसी से मेल

---

१. तस्यांगवरमाद्य प्रत्यक्षागमानुमानोपमानैरविरुध्यमानमुपधारय।—सु० सू० १।२४

खाने वाली कोई दूसरी घास पात। परन्तु यह स्थिति सर्वत्र नहीं है। उपमान से कार्यसिद्धि भी होती हुई देखी गयी है।

लक्षण

सुश्रुतसंहिता के टीकाकार आचार्य डल्हण के अनुसार प्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य (साधर्म्य) से सूक्ष्म, व्यवहित, तथा विप्रकृष्ट अर्थ के साधन को उपमान कहते हैं।[1] चरकसंहिता में उपमान प्रमाण का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—'किसी (प्रसिद्ध) सदृश वस्तु के ज्ञान से अज्ञान सदृश वस्तु का परिचय प्राप्त किया जा सकता है इस परिचय साधन को उपमान प्रमाण कहते हैं।[2]

न्यायदर्शन में उपमान को उपमिति का करण कहा है। किसी प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से किसी अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना उपमिति कहलाता है। इस उपमिति का करण ही उपमान कहलाता है। उपमान शब्द की निष्पत्ति 'उपमीयते ऽनेनेति उपमानम्' इस विग्रह के अनुसार होती है जिसका अर्थ होता है उपमा, सादृश्य अथवा समानता के आधार पर जो ज्ञान होता है उसे उपमिति कहते हैं। न्यायदर्शन में उपमिति का लक्षण निम्न प्रकार से दिया गया है 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः' अर्थात किसी नाम के उस नाम वाली वस्तु के सम्बन्ध के ज्ञान को उपमिति कहते हैं। इसका कारण सादृश्य ज्ञान है। पहले सुने हुए विश्वस्त पुरुष के वाक्य के अर्थ का स्मरण भी इसमें कारण होता है। जैसे कोई व्यक्ति 'गवय' के विषय में नहीं जानता है। उसने किसी वनवासी व्यक्ति से सुना कि जो गाय के सदृश होता है वह 'गवय' कहलाता है। जब वह बन में गया तथा उसने वहाँ गाय के सदृश एक प्राणी को देखा। तब उसे पहले सुने हुये वाक्य का स्मरण हुआ कि गाय के सदृश गवय होता है। इसी आधार पर उसे पहले सुने हुए वाक्य का स्मरण हुआ कि गाय के समान होने के कारण यह गवय है। यही सादृश्य ज्ञान कहलाता है। इस सादृश्य ज्ञान के आधार पर ही उपमिति का अस्तित्व निर्भर करता है। यहा सादृश्य ज्ञान उपमिति शब्द से अभिप्रेत होता है। इसका साधकतम कारण (करण) ही 'उपमान' कहलाता है।

---

१. प्रसिद्धसाधर्म्यात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्यार्थस्य साधनमुपमानं।

—सु० सू० १।२४ पर डल्हण

२. अथौपम्यम्-औपम्यं नाम तद्यदन्येनान्यस्य सादृश्यमधिकृत्य प्रकाशनम्।

—च० वि० ८।४२

गौतम न्यायसूत्र में भी उपमान लक्षण को इसी प्रकार सूत्रित किया गया है— 'प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानं'[1] अर्थात् सुविदित वस्तु के साधर्म्य के द्वारा साध्य (ज्ञातव्य) वस्तु का ज्ञान कराने के साधन को उपमान कहते हैं।[2] वार्तिककार 'प्रसिद्धसाधर्म्यात्' में बहुव्रीहि समास मानते हैं—'प्रसिद्धं साधर्म्यं यस्य तस्मात्'। परन्तु भाष्योक्त तत्पुरुष भी उनको अनभिमत नहीं है। परिशुद्धिकार के मत से यहाँ पर कर्मधारय भी अभीष्ट है, क्योंकि साधर्म्य का प्रसिद्ध होना आवश्यक है।

किन्तु कुमारिलभट्ट के सिद्धान्त के अनुसार सादृश्य ही उपमान प्रमाण का प्रमेय है। मीमांसाश्लोकवार्तिक में उपमानविषयक नैयायिकमत का खण्डन करने के पश्चात् सादृश्य को वास्तविक धर्म स्वीकार करके उन्होंने उसका निरूपण इस प्रकार किया है—

इस (सादृश्य) का वस्तुत्व सिद्ध हो जाने पर, (दो सदृश वस्तुओं में से) किसी एक में या दोनों में सादृश्य का चक्षु से सम्बन्ध होने पर उसका दर्शन होता है, अतः उसकी प्रत्यक्षता (प्रत्यक्षविषयता) का निवारण (निषेध) नहीं किया जाता है।

सामान्य की भाँति सादृश्य भी प्रत्येक वस्तु में पूर्णरूप से रहता है। इसलिए प्रतियोगी के दिखाई न पड़ने पर भी सादृश्य उपपन्न होता है।

यद्यपि प्रस्तुत स्थल के कुछ पूर्व जो उदाहरण दिया गया है उसमें गौ की स्मृति के अनन्तर ही सादृश्य का भान होता है, तथापि चक्षुसन्निकर्ष के गवयस्थ होने के कारण (गवयगत) सादृश्य नयनगोचर होता है।

इसी कारण जिस वस्तु (गौ) का स्मरण किया जाता है, वह सादृश्य से विशिष्ट होकर उपमान का प्रमेय (सादृश्यविशिष्टगौ) बनती है, अथवा उस वस्तु से विशिष्ट सादृश्य ही उपमान का प्रमेय बनता है।

यद्यपि सादृश्य का प्रत्यक्ष से बोध होता है तथा गौ का स्मृति होती है, तथापि 'सादृश्यविशिष्टगौ' अथवा 'गौविशिष्ट सादृश्य' की किसी दूसरे प्रमाण से सिद्धि न होने के कारण उपमान का प्रामाण्य सिद्ध होता है।[3]

---

१. न्या० सू० १।१।६

२. प्रज्ञातेन सामान्यात् प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानम्।—न्या० भा० १।१।६

३. वस्तुत्वे सति चास्यैवं सम्बन्धस्य च चक्षुषा।
द्वयोरेकत्र वा दृष्टेः प्रत्यक्षत्वं न वार्यते॥
सामान्यवच्च सादृश्यमेकैकत्र समाप्यते।
प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि तस्मात् तदुपपद्यते॥

इसीलिए भाट्टमत के अनुसार सादृश्य की प्रतिपत्ति ही उपमान का प्रयोजन सिद्ध होता है। कुमारिल भट्ट का आविर्भाव ईसा की आठवीं शताब्दी में हुआ था, अतः उनके द्वारा सादृश्य की प्रतिपत्तिरूप जो प्रयोजन उपमान का निर्धारित किया गया है, वह परवर्तीकाल का चिन्तन है। संस्कृत के चिकित्साग्रन्थों में तथा गौतम प्रणीत न्यायसूत्र में संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध की प्रतिपत्ति को ही उपमान प्रमाण का प्रयोजन समझा जाता है। नीचे की पंक्तियों में दिये गये उदाहरणों से यही बात प्रमाणित होती है।

उपमान का लक्षण करने के बाद सादृष्य के आधार से वस्तु-ज्ञान कैसे होता है इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य डल्हण कहते हैं—जैसे माष के सादृश्य से मस्से का, तिल के सादृश्य से तिल का, विदारीकन्द के सादृश्य से विदारी रोग का, कमल के कन्द के सादृश्य से पनसिका नामक रोग का ज्ञान प्राप्त करता है।[1]

इसी प्रकार उपमान का लक्षण करने के अनन्तर उसको प्रदर्शित करने के लिए चरकसंहिता में तीन उदाहरण दिये गये हैं—

दण्ड से दण्डक रोग का, धनुष से धनुषस्तम्भन रोग का तथा बाण चलाने वाले धनुर्धर से आरोग्य प्रदान करने वाले चिकित्सक का (औपम्य द्वारा) ज्ञान होता है।[2]

तात्पर्य यह है कि जैसे किसी आयुर्वेद के विद्यार्थी को दण्डक रोग के लक्ष-आदि का ज्ञान नहीं है उसने अपने आचार्य से सुना—दण्ड के समान जिसकी देह अकड़ गयी हो, उसे दण्डरोग से पीड़ित समझना चाहिए।[3] तदनन्तर वह एक ऐसे

तत्र यद्यपि मां स्मृत्वा तद्भानमुपजायते ।
सन्निधेर्गवयस्थत्वात् भवेदिन्द्रियगोचरः ॥
तस्माद् यत् स्मर्यते तत् स्यात् सादृश्येन विशेषितम् ।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥
प्रत्येक्षावबुद्धेऽपि सादृश्येगवि च स्मृते ।
विशिष्टस्याऽन्यतोऽसिद्धेरूपमानप्रमाणता ॥

—श्लो० वा० १।१।५ पृष्ठ ३१५-१६

१. माषवन्मषकः, तिलमात्रस्तिलकालकः, विदारीकन्दवद् विदारीरोग, शालूकवत् पनसिकेति।—सु० सू० १।२४ पर डल्हण

२. ····'दण्डेन दण्डकस्य, धनुषा धनुःस्तम्भस्य, इष्वासेनाऽऽरोग्यदस्येति।'

—च० वि० ८।४२

३. 'दण्डवत्स्तब्धगात्रस्य दण्डकः'।—च० वि० २८।५२

रोगी को देखता है, जिसका शरीर सचमुच कुम्हार के दण्ड के समान स्तब्ध है। तब वह पूर्वश्रुत आचार्योपदेश का स्मरण करके समझ जाता है कि यह व्यक्ति दण्डक रोग से पीड़ित है।

इसी प्रकार धनुःस्तम्भ रोग भी औपम्य द्वारा जाना जाता है। जो रोग शरीर को धनुष के समान झुका देता है।[1]

तीसरे उदाहरण में बाण चलाने वाले धनुर्धर तथा आरोग्यदाता वैद्य के साधर्म्य का प्रतिपादन किया है। इस साधर्म्य का सूत्रस्थान के महाचतुष्पाद अध्याय में कुछ विस्तार के साथ वर्णन हुआ है—

'जिस प्रकार योग (ज्या तथा बाण के सम्बन्ध) को जानने वाला और नित्य अभ्यास करने वाला जब थोड़ी दूर पर स्थित किसी बड़ी आकृति वाली वस्तु पर धनुष लेकर बाण फेंकता है, तो चूकता नहीं है और अपने इष्टकार्य का सम्पादन कर लेता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ वैद्य के गुणों से सम्पन्न तथा चिकित्सा के उपकरणों को रखने वाला वैद्य जब चिकित्सा कर्म का समुचित विचार करके किसी साध्यरोग की चिकित्सा प्रारम्भ करता है, तो बिना चूके हुए रोगी को आरोग्यसम्पन्न कर ही देता है।[2] इस उदाहरण में नैयायिकमत के अनुसार 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध' की प्रतिपत्ति इस प्रकार होगी—मान लीजिए किसी धनुर्धर को अपना लक्ष्य वेधन करते समय किसी ने किसी को दिखाकर कहा—'ऐसा ही आरोग्यदाता वैद्य होता है'। कालान्तर में उसने किसी वैद्य को किसी रोगी को आरोग्यसम्पन्न करते देखा तो उस साधर्म्य को देखकर वह तुरन्त समझ जाता है कि 'यह आरोग्यदाता वैद्य' है।

पहले दो उदाहरणों की अपेक्षा इस उदाहरण में कुछ विलक्षणता है। दण्ड के समान अकड़े हुये शरीर वाले को देखकर तो समझा जा सकता है कि यह दण्डक रोग से पीड़ित है, इस ज्ञान में पूर्वोपदेश की स्मृति अनिवार्य है परन्तु रोगी को रोगरहित करने वाले वैद्य को देखकर 'यह आरोग्यदाता वैद्य है' इस ज्ञान के उत्पन्न होने में किसी पूर्वोपदेश की स्मृति अपेक्षित नहीं है। उस समय सादृश्यविशिष्ट धनुर्धर की स्मृति बिलकुल न होने पर भी सभी उसे आरोग्यदाता वैद्य ही समझते हैं।

---

१. श्रीजयदेवविद्यालंकार के द्वारा उद्धृत, परन्तु मूलस्तोत्र का पता नहीं चला—
'धनुर्वन्नमयेद् गात्रं सः धनुःस्तम्भसञ्ज्ञितः।'

२. यथादि योगज्ञोऽभ्यास नित्य इष्वासो धनुरादायेषुमस्यन्नातिविप्रकृष्टे महति काये नापराधवान् भवति, सम्पादयति चेष्टाकार्यं, तथा भिषक् स्वगुणसम्पन्न उपकरणवान् वीक्ष्य कर्मारभमाणः साध्यरोगमनपराधः सम्पादयत्येवातुरमारोग्येण,....।
—च० सू० १०।५

ऐसा लगता है कि इस उदाहरण को देते समय चरकसंहिताकार की दृष्टि औपम्य प्रमाण से हटकर औपम्य (उपमा) अलंकार की ओर चली गयी है। जैसे काव्य में यह आवश्यक नहीं है कि सुन्दरी के मुख को देखकर चन्द्रमा या कमल की स्मृति अवश्य ही हो अथवा उनके सादृश्य को देखकर ही 'यह सुन्दरी का मुख है' ऐसा ज्ञान हो, प्रत्युत उस सादृश्य के बिना भी मुख का वर्णन किया जाता है, सादृश्य तो काव्य को अलंकृत करने के लिए है। उसी प्रकार आरोग्यदाता वैद्य को देखकर न तो धानुष्क की स्मृति होना आवश्यक है और न 'यह आरोग्यद वैद्य' है इस ज्ञान के लिए धानुष्क का सादृश्य देखना अपेक्षित है, प्रत्युत इस सादृश्य ज्ञान के बिना भी उसके स्वरूप का बोध हो जाता है। धानुष्क के साथ उसका सादृश्य तो अलंकार-मात्र है। अतः यह उदाहरण शुद्ध उपमा अलंकार का जान पड़ता है। शेष दो उदाहरण उपमान प्रमाण को ही प्रदर्शित करते हैं। ये दोनों उदाहरण वात्स्यायनभाष्य में दिये गये उदाहरणों से मेल खाते हैं।

यह एक विचित्र संयोग की बात है कि वात्स्यायन ने 'यथा गौस्तथा गवयः' इस अतिप्रसिद्ध उदाहरण के अतिरिक्त जो दो उदाहरण दिये हैं, वे यद्यपि सामान्यरूप से सभी लोगों के लिए उपयोगी हो सकते हैं, तथापि आयुर्वेदज्ञों के लिए विशेषरूप से उपयोगी है। वे उदाहरण हैं—'जैसा मुद्ग होता है, वैसे ही मुद्गपर्णी होती है', जैसा माष होता है, वैसे ही माषपर्णी'—इस प्रकार उपमान का प्रयोग होने पर उसी उपमान के बल पर 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध' की प्रतिपत्ति करता हुआ मनुष्य उस औषधि को चिकित्सा के लिए ले जाता है।[1]

ऊपर के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य वात्स्यायन आयुर्वेद में रुचि रखते थे तथा अपने पूर्ववर्ती एवं समकालीन संस्कृत चिकित्सा ग्रन्थों से एवं उनमें प्रतिपादित दार्शनिक तत्वों से अधिक प्रभावित थे। इससे एक बात और लक्षित होती है कि उपमान का प्रयोग रोग तथा औषधि समुचित पहचान के लिए प्रायः प्रयोग किया जाता था। आयुर्वेद के क्षेत्र में उपमान का योगदान सराहनीय है। इस स्थल से पूर्व की पंक्तियों में उपमान का चिकित्साकर्म में उपयोग विस्तार से वर्णित हैं।

---

१. यथा मुद्गस्तथा मुद्गपर्णी यथा माषस्तथा तथा माषपर्णीत्युपमाने प्रयुक्ते उपमानात्सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धम् प्रतिपद्यमानस्तामौषधी भेषज्यायाहरति।

—वात्स्यायन १।१।६

अर्थप्राप्ति

इसको अर्थापत्ति प्रमाण भी कहते हैं। इसका लक्षण इस प्रकार किया है—अर्थापत्ति प्रमाण उसे कहते हैं जहाँ एक अर्थ के कहने से अनुक्त (बिना कहे) अन्य अर्थ की सिद्धि हो।[1] जैसे यह व्याधिसंतर्पण साध्य नहीं है, ऐसा कहने से दूसरे अर्थ का बोध होता है कि अपतर्पणसाध्य है। इसी प्रकार 'इस रोगी को दिन में नहीं खाना चाहिए' ऐसा कहने से 'रात्रि में खाना चाहिए' इस अपर अर्थ की सिद्धि होती है।[2]

अर्थापत्ति प्रमाण नैयायिकों को मान्य नहीं हैं। परन्तु इसे वेदान्ती तथा मीमांसक लोग पाँचवें प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। इन दोनों दर्शनों के अनुसार स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अर्थापत्ति का ग्रहण यथार्थ ज्ञान के लिए आवश्यक है। इस प्रमाण से हमें एक अज्ञात तथ्य के ज्ञान की उपलब्धि होती है। क्योंकि किसी कही गयी बात के द्वारा उससे सम्बन्धित अनकही बात का ज्ञान कराना ही अर्थापत्ति प्रमाण का उद्देश्य है। वेदान्त परिभाषा में उसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—'उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक की कल्पना करने को अर्थापत्ति कहते हैं।[3] इसके अनुसार उपपाद्य का ज्ञान करण (प्रमाण) है तथा उपपादक का ज्ञान फल (प्रमा) है। जिस कारण के बिना जिस कार्य (फल) के असिद्ध होने की सम्भावना न हो, उस कारण को उपपादक तथा उस कार्य को उपपाद्य कहते है। जैसे दिन में भोजन न करने वाले देवदत्त के स्थूल होने की सम्भावना रात्रि में भोजन करने के बिना नहीं हो सकती है। यहाँ पर स्थूलत्व उपपाद्य है तथा रात्रिभोजन उपपादक। अर्थापत्ति शब्द से प्रमा तथा प्रमाण दोनों का बोध होता है। 'अर्थस्य (रात्रिभोजनरूपस्य) आपत्तिः (कल्पना)' इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुष मानने से रात्रिभोजनरूप उपपादक की कल्पना (अथवा ज्ञान) अर्थापत्ति प्रमा है तथा अर्थस्य (रात्रिभोजनरूपस्य) आपत्तिः (कल्पना) यस्मात् तत् (पीनत्वम्)। इस प्रकार बहुव्रीहि समास मानने पर रात्रिभोजनरूप उपपादक की कल्पना जिस पीनत्वरूप करण से होती है, वह अर्थापत्ति प्रमाण है।

---

१. अथार्थप्राप्तिः। अर्थप्राप्तिर्नाम यत्रैकेनार्थेनोक्तेनापरस्यार्थस्यानुक्तस्यापि सिद्धिः।
—च० वि० ८।४८

२. नायं सन्तर्पणसाध्यो व्याधिरित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिः अपतर्पणसाध्योऽयमिति, नानेन दिवा भोक्तव्यमित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिः निशि भोक्तव्यमिति।—च० वि० ८।५०

३. उपपाद्यज्ञानेन उपपादककल्पनमर्थापत्तिः (वेदान्त परिभाषा)।

शाबरभाष्य में अर्थापत्ति का लक्षण इस प्रकार है—'देखी हुयी अथवा सुनी हुयी वस्तु (जिस अर्थ के बिना) किसी अन्य प्रकार से नहीं सिद्ध हो सकती है, उस अर्थ की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं।[1] मीमांसाश्लोकवार्तिक में इसी भाष्य वाक्य के अर्थ का ही स्पष्टीकरण किया गया है।[2]

अर्थापत्ति दो प्रकार की होती है—(१) दृष्टार्थापत्ति, (२) श्रुतार्थापत्ति।

१. दृष्टार्थपत्ति

चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष किये गये विषय के अनुपपन्न होने पर उपपादक अर्थ की कल्पना को दृष्टार्थापत्ति कहते हैं। जैसे दिन में भोजन न करने वाले देवदत्त की शारीरिक पुष्टता रात्रि भोजन के बिना अनुपपन्न हैं अतः रात्रि-भोजन की कल्पना दृष्टार्थापत्ति है।

२. श्रुतार्थापत्ति

श्रुतार्थापत्ति वहाँ होती है जहाँ सुने हुए वाक्य में स्वार्थ की अनुपपत्ति होने के कारण अर्थान्तर की कल्पना कर ली जाय। जैसे—'जीवित चैत्र घर में नहीं है 'इस वाक्य को सुनने के अनन्तर' 'घर से बाहर होगा' इस अर्थ की कल्पना होती है।

आयुर्वेद में वर्णित अर्थप्राप्ति का लक्षण शाबरभाष्य, श्लोकवार्तिक तथा वेदान्त परिभाषा के अर्थापत्ति के लक्षणों से मिलता-जुलता है। चरकसंहिता में कहा गया 'उक्त अर्थ' उपपाद्य है तथा 'अनुक्त' अर्थ उपपादक हैं। अतः 'उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक की कल्पना करना' अथवा 'उक्त अर्थ से अनुक्त अर्थ की सिद्धि होना एक ही बात है। परन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है—'उक्तेन' शब्द के प्रयोग से यहाँ पर शास्त्रकार को श्रुतार्थापत्ति ही अभीष्ट जान पड़ती है। दृष्टार्थापत्ति को इसी के सादृश्य से समझ लेना चाहिए। यहाँ पर अर्थप्राप्ति के जो उदाहरण दिये गये हैं, वे भी श्रुतार्थापत्ति के ही हैं, जैसे—'यह रोग सन्तर्पण से साध्य नहीं है (वैद्य के द्वारा) ऐसा कहे जाने पर 'यह अपतर्पण से साध्य है' इस अर्थ की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार इस रोगी को दिन में भोजन नहीं करना चाहिए', ऐसा कहे जाने पर 'इसको रात्रि में भोजन करना चाहिए' इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

---

१. अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना।—शा० भाष्य

२. प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत्।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता॥—श्लोक० वा० १।१।५

नैयायिक इसे स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर अनुमान में ही इसका अन्तर्भाव कर लेते हैं। संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों में भी इसे मुख्य प्रमाण के रूप में नहीं माना गया। इसका कारण सम्भवतः यही होगा—इस प्रमाण से जिस उपपादक अर्थ की कल्पना की जाती है, इसके अतिरिक्त अन्य अर्थों से भी उपपाद्य की सिद्धि हो सकती है, अतः अर्थापत्ति का प्रामाण्य सन्दिग्ध तथा अनिश्चित है। प्रस्तुत स्थल के कुछ पूर्व की पंक्तियों में दिये गये उदाहरण में देवदत्त के पीनत्व की सिद्धि के लिए रात्रि-भोजनरूप अर्थ की कल्पना की जाती है परन्तु यह बात निश्चित है कि उसका पीनत्व दूसरे कारणों से भी उत्पन्न हो सकता है। योगसूत्र के अनुसार कण्ठकूप में संयम करने से भूख प्यास की निवृत्ति हो जाती है। इसलिए योगसिद्धि के प्राप्त होने पर देवदत्त को मोटा रहने के लिए न दिवाभोजन की आवश्यकता है न ही रात्रिभोजन की। किसी अलौकिक शक्ति से वह भोजन के बिना भी मोटा रह सकता है। वर्तमान काल में भी वैज्ञानिकों के द्वारा ऐसी-ऐसी गोलियाँ (औषधि) बनाने का प्रयास किया जा रहा है, जो केवल एक बार सेवन करने से सप्ताहों तथा महीनों तक बिना शक्तिह्रास के शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती रहेंगी। ऐसी स्थिति में देवदत्त को मोटा रखने के लिए रात्रिभोजन अनिवार्य नहीं रहेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अर्थप्राप्ति का निस्सन्दिग्ध प्रामाण्य नहीं माना जा सकता। जहाँ पर 'जीवित चैत्र घर में नहीं है, अतः बाहर होगा' इत्यादि उदाहरणों में निर्दोष अर्थप्राप्ति प्राप्त होती है, वहाँ पर उसका अनुमान में अन्तर्भाव होगा।

प्रकृति तथा सृष्टि-निरूपण

संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों मे निरूपित सृष्टि प्रक्रिया बहुत कुछ सांख्य दर्शन से समानता रखती है। जिस प्रकार से सांख्य दर्शन इस नानारूपात्मक जगत की उत्पत्ति 'अव्यक्त'[1] से मानता है। उसी प्रकार संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थ[2] भी इस व्यक्त जगत की उत्पत्ति अव्यक्त से मानते हैं। परन्तु संस्कृत के प्रमुख चिकित्सा-ग्रन्थों में प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में कुछ तात्विक मतभेद दिखाई पड़ता है। महर्षि सुश्रुत अव्यक्त को अचेतन मानते है तथा पुरुष सहित पच्चीस तत्वों की व्यवस्था निश्चित करते हैं। उनका कथन है—'अव्यक्त, महान्, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा आठ प्रकृति हैं तथा सोलह तत्व विकार हैं।[3] ये सब चौबीस तत्व जड़ हैं। पुरुष पच्चीसवाँ तत्व (प्रकृति का) चेतयिता है।[4] सांख्य दर्शन में प्रकृति को अचेतन मानकर पुरुष सहित पच्चीस तत्वों की व्यवस्था स्वीकार की गई है—'मूल प्रकृति किसी का विकार नहीं है, महदादि सात तत्व (महत्, अहंकार तथा पाँच तन्मात्राएँ) कारण तथा कार्य दोनों हैं। सोलह तत्वों—मन, दस इन्द्रियाँ तथा पाँच भूतों का समुदाय तो केवल कार्य ही है तथा पुरुष न कारण है न कार्य है।[5]

परन्तु सुश्रुत संहिता में त्रिगुणात्मक अव्यक्त नाम्नी अचेतन मूल प्रकृति को जगत्कारण कहा गया है, जबकि चरक संहिता में अव्यक्त शब्द से चेतन आत्मा का ग्रहण करके चौबीस तत्वों की व्यवस्था स्वीकार की गई है। वास्तव में चरक संहिता

---

१. कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्त्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।—सांख्य का० १६

२. (क) जायते बुद्धिरव्यक्ताद्····।—च० शा० १।६६

(ख) सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तं नाम।—सु० शा० १।३

(ग) अत्र समुदायकारण ब्रूमः····। अव्यक्तान्महान्····।—का० शा०

३. अव्यक्त महानहङ्कारः पंचतन्मात्राणि चैत्यष्टौ प्रकृतयः, शेषाः षोडश विकाराः।
—सु० शा० १।६

४. तत्र सर्वं एवाचेतन एष वर्गः, पंचविंशतिस्तमः·······चेतयिता भवति।
—सु० शा० १।११

५. मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः॥—सां० का० ५

में उसे परमात्मा से अभिन्न मानकर तथा अव्यक्त शक्ति के रूप में उसका परमात्मा में अन्तर्भाव करके परमात्मा को ही अव्यक्त संज्ञा प्रदान की गई है। एवम् उसी से जगत की उत्पत्ति बताई गई है। चौबीस धातुओं वाले पुरुष का जो निरूपण चरक-संहिता में उपलब्ध होता है उससे भी मूल प्रकृति तथा आत्मा का अभेद सिद्ध होता है—'यह राशि पुरुष धातु भेद से चौबीस धातुओं वाला माना गया है। मन, दश इन्द्रियाँ, पाँच अर्थ तथा आठ धातुओं वाली प्रकृति में चौबीस धातुएँ हैं।[1] इनका परिगणन इस प्रकार है—तन्मात्र कहे जाने वाले आकाशादि पाँच सूक्ष्मभूत, बुद्धि, अव्यक्त तथा अहंकार—ये आठ समस्त भूतों की प्रकृतियाँ कही गई हैं। तथा सोलह विकार हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन के सहित पाँच अर्थ—इनको विकार कहा जाता है।[2] इस प्रकार अष्टधातु का प्रकृति में 'अव्यक्त' पद से मूल प्रकृति तथा आत्मा का ग्रहण एकत्वेन किया गया है। क्योंकि राशि पुरुष में चैतन्यात्मा भी गृहीत है, अतः मूल प्रकृति से उसका अभेद मानने पर ही चरक संहिता में कहे गए चौबीस तत्वों की व्यवस्था हो पाएगी।

चरक संहिता के व्याख्याता चक्रपाणि का कहना है—'यद्यपि सांख्य दर्शन में यह पुरुष पच्चीस तत्वों वाला कहा गया है तथा चरक संहिता में आचार्य प्रकृति व्यतिरिक्त उदासीन पुरुष को अव्यक्तत्वरूप साधर्म्य के कारण अव्यक्त प्रकृति में ही प्रक्षिप्त करके अव्यक्त शब्द से ग्रहण करते हैं।[3]

यहाँ पर चक्रपाणि अव्यक्त को प्रकृति के ही अप्रकृत रूप में स्वीकार करते हैं। यदि इस अव्यक्त को आत्मा अथवा सृष्टा आदि कहा जाता है तो चक्रपाणि के अनुसार प्रकृति तथा अव्यक्त के मध्य अत्यधिक सन्निकटता के कारण ही कहा जाता है। यह दोनों ही प्रकृति के अव्यक्तस्वरूप के ही क्षेत्र में आते हैं तथा प्रधान हर व्यवहारिक दृष्टिकोण से अपने स्वरूप से आत्मा है, क्योंकि आत्मा तथा प्रधान के

---

१. पुनश्चधातुभेदेन चतुर्विशतिकः स्मृतः।
मनोदशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी ॥—च० शा० १।१७

२. खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश ॥
बुद्धिबुद्धीन्द्रियाणि पंचैव पंचकर्मेन्द्रियाणि।
समनस्काश्च पंचार्थाः विकारा इति संज्ञिता ॥—च० सं० शा० १।६३-६४

३. यद्यपि पंचविंशतितत्वमयोऽयं पुरुषः सांख्यैरुच्यते, तथापीह प्रकृतिव्यतिरिक्तं चोदासीनं पुरुषमव्यक्तत्वसाधर्म्यादव्यक्तायां प्रकृतावैव प्रक्षिप्य अव्यक्तशब्देनैव-गृहणाति।—च० शा० १।१६ पर चक्रपाणि

स्वरूप का अत्यधिक साम्य है एवं इसका सूक्ष्म स्वरूप भी आत्मा से तालमेल रखता है। हर दृष्टि से अव्यक्त ही इनके अनुसार आत्मा है, जो ब्रह्म स्वरूप हो जाता है तथा जो सृष्टि का मूल है तथा उपसंहार भी ।[1]

इससे यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि चरक में अव्यक्त प्रकृति को अव्यक्त पुरुष से अभिन्न मानते हैं। अद्वैत वेदान्त में भी अव्याकृत प्रकृति या माया शक्ति को परमेश्वर से अभिन्न उसकी उपाधि के रूप में स्वीकार किया जाता है। अन्यत्र भी इसका समर्थन प्राप्त होता है—'माया को प्रकृति तथा माहेश्वर को उसका स्वामी समझना चाहिए।'[2] श्रीमद्भागवत् में कपिल भगवान अपनी माता देवहूति से कहते हैं—'उस सर्वव्यापक पुरुष ने अपने पास लीलाविलास पूर्वक आई हुई अव्यक्त तथा त्रिगुणात्मिका प्रकृति को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया है।'[3]

इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि चरक ने 'अव्यक्त' पद से प्रकृति तथा सृष्टि में सहायक आत्मा इन दोनों का ग्रहण किया।

भगवान् आत्रेय पुरुष को निर्विकार कहते हैं। उपनिषदों में भी इसे निर्विकार कहा जाता है तथा साथ ही सम्पूर्ण विश्व को उत्पन्न करने वाला कहा गया है।[4]

---

1. Chakrapani, the commentator of carak has taken throughout Sankhya view for granted, and has interpreted Avyakta as unmanifest primary form of nature. If it is also called the self and creater etc. It is according to him due to close contiguity in nature and position between the two viz the self and the primal nature. They both come under the category of unmanifest and the primal nature 'Pradhana' is for all practical purpose the self, as it closely resembles the self by its immediate proximity to it and its subtle nature. Nevertheless the Avyakta is self which attains the Brahma State and which is origine and the end of all beings.—Carak Samhita, (1) Ayurveda Prakasan, Jam Nagar.

२. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु माहेश्वरम् ।—श्वेता० ४।१०

३. स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयं विभुः ।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ॥—श्रीमद्० ३।२६।४

४. जन्माद्यस्य यतः ।—ब्रह्मसूत्र

ब्रह्मसूत्र भाष्य में भगवान शंकराचार्य अव्यक्त का तात्पर्य आत्मा से लेते हैं।[1] चरक संहिता में सांख्य-सृष्टि सिद्धान्त को स्वीकार करने के साथ ही आत्मा से विश्व की उत्पत्ति मानने से निश्चित रूप से औपनिषद विचार धारा का प्रतिनिधित्व करता जान पड़ता है।[2] श्री दुर्गाशंकर शास्त्री (चरक संहिता के गुजराती भाषा के टीकाकार) तथा ज्योतिश्चन्द्र सरस्वती (संस्कृत टीकाकार) दोनों इस बात पर सहमत हैं कि चरक संहिता में आत्मा का स्वरूप निरूपण करते हुए जो अव्यक्त माना गया है वह निश्चित रूप से औपनिषद विचारधारा ही है।[3] दासगुप्ता के अनुसार अव्यक्त का यह पुरुष संपृक्त रूप सांख्य का वह प्राच्य रूप है जिसकी स्थापना आसुरि के शिष्य पंचशिख के द्वारा हुई थी।[4] अव्यक्त तथा पुरुष में अभेद मानकर चरक संहिता में उल्लिखित चतुर्विंशतितत्वीय सृष्टि सम्बन्धी मान्यता सांख्य के इसी प्राच्य रूप का अनुवाद मात्र है। ऐसा लगता है कि ईश्वर कृष्ण प्रवर्तित सांख्य का चरक के काल में अस्तित्व नहीं था एवं उस काल में श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था।[5] वास्तव में ईश्वर कृष्ण का सांख्य प्राच्य सांख्य का परिष्कृत रूप है।

हम जानते हैं, कि सुश्रुत संहिता चरक संहिता का परवर्तीकालीन ग्रन्थ है। सुश्रुत संहिता के समय तक ईश्वर कृष्ण प्रवर्तित सांख्य का प्रचार हो चुका था

---

१. ब्र० सू० ३।२।२३

2. ....and despite the whole context built up in charak Samhita in keeping with sankhya doctrine of evalution this final diclaration, anamaious, though, in it's nature, definitely represents the aupanisadic tendency to derive all thing from one supream self (Atma) charak Samhita Part one A. P. Jamanayar.

३. वही

४. दास गुप्ता—हिस्ट्री आव इण्डियन फिलासफी, भाग १, पृष्ठ २१६

5. But the fact that charak does not refer to the sankhya as descrived by Ishvarakrishna and referred to in other parts of Mahabharata is definite proof that Ishvarkrishna sankhya is a later modification which was either not existent in chalaks-time or was not regarded as an theortictive old sankhy view.

अतः यह स्वाभाविक था कि सुश्रुत ईश्वर कृष्ण प्रवर्तित सांख्य में श्रद्धा व्यक्त करते।

इस सम्पूर्ण विवेचन का निष्कर्ष यह है कि चरक संहिता का सर्जनात्मक विवेचन सांख्य के प्राच्यरूप पर आधारित है तथा सुश्रुत संहिता का सर्जनात्मक ढाँचा ईश्वर कृष्ण प्रवर्तित सांख्य पर अवलम्बित है।[1] इन दोनों ग्रन्थों में उपरोक्त मतभेद पाया जाता है परन्तु साथ ही ये दोनों ग्रन्थ इस बात में सहमत हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति अव्यक्त से होती है। हमने इस अध्याय के प्रारम्भ में ही यह प्रदर्शित किया है कि अव्यक्त से सृष्टि उत्पत्ति की मान्यता संस्कृत के समस्त चिकित्सा ग्रन्थों में समान रूप से मिलती है।

जो अव्यक्त इस सम्पूर्ण नानारूपात्मक चेतनाचेतन जगत को उत्पन्न करने में समर्थ है उसका विवेचन आवश्यक है।

अव्यक्त

अव्यक्त के स्वरूप का निरूपण करते हुए महर्षि सुश्रुत ने कहा है कि यह अव्यक्त ही सब भूतों का कारण है किन्तु स्वयं अकारण है और सत्व, रज, तम गुण वाली तथा अष्ट प्रकृत्यात्मक है। अव्यक्त ही सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति का कारण है जैसे—समुद्र सम्पूर्ण जलीय वस्तुओं का आधार है उसी प्रकार यहा एक बहुत से जीवों का आधार है।[2] समस्त विकास परम्परा का आधार होने से इसकी प्रधान संज्ञा है।[3] सत्व, रजस, तमस की साम्यावस्था ही मूल प्रकृति है।[4] प्रकृति के 'प्र' का अर्थ है—प्रकृष्ट एवं 'कृति' शब्द सृष्टि वाचक है। अतः सृष्टि प्रक्रिया में प्रकृष्टतामयी शक्ति ही प्रकृति है। जैसा कि प्रकृति की व्याख्या करते हुए कहा गया है—

---

१. महाभारत में भी सांख्य के दो प्रकार बताए गए हैं पहला वह है जिसमें चौबीस तत्व हैं दूसरा वह है जिसमें पच्चीस तत्व हैं।—महाभारत १२।३१८

२. सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तं नाम। तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवौदकानां भावानां।
—सु० शा० १।३

३. प्रधीयतेऽस्मिन् हि कार्यजातमिति प्रधानमुच्यते।—सां० प्र० भा० १।१२५

४. सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।
—सां० सू० १।६१ पर सां० प्र० भा० तथा सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ६१८

प्रकृष्ट वाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः ।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता ।।[1]

पुराणों में प्रकृति का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। वायुपुराण में प्रकृति का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

अव्यक्त कारणं यत्तु नित्यं सद्सदात्मकम् ।
प्रधानं प्रकृतिं चैव ययाहुस्तत्वचिन्तकाः ।।
गन्धवर्णरसैर्हीनं शब्दस्पर्शविवर्जितम् ।
अजातं ध्रुवमक्षय्यं नित्यं स्वात्मन्यवस्थितम् ।।
जगद्योनिं महद्भूतं परं ब्रह्म सनातनम् ।
विग्रहं सर्वभूतानामव्यक्तमभवत्किल ।।
अनाद्यनन्तमजं सूक्ष्मं त्रिगुणं प्रभवाप्ययम् ।
असाम्प्रतमविज्ञेयं ब्रह्माग्रे समवर्तत ।।
तस्यात्मना सर्वमिदं व्याप्तमासीत्तमोमयम् ।
गुणसाम्ये तदा तस्मिन्गुणभावे तमोमये ।।
सर्गकाले प्रधानस्य क्षेत्रज्ञाधितिष्ठस्य वै ।
गुणभावात्व्यावमानो महान् प्रादुर्बभूव ह ।।
—वायु० पु० १।४।१७-२३

तु० (क) ब्रह्मा पु० १।५।१०३
(ख) भविष्य पु० २।७७।२-४
(ग) कूर्म पु० ४।६-९

मत्स्यपुराण में भी प्रकृति का वर्णन प्राप्त होता है—

सत्वं रजस्तमश्चैव गुणत्रयमुदाहृतम् ।
साम्यावस्थितरेतैषां प्रकृतिः परिकीर्तिता ।।
केचित्प्रधानमित्याहुरव्यक्तमपरे जगुः ।
एतदेव प्रजासृष्टिं करोति विकरोति च ।।—म० पु० ३।१४-१५

---

१. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण २।१।५

प्रकृति के विषय में लोकाचार्य लिखते हैं—'इसे प्रकृति कहा जाता है क्योंकि यह सब परिवर्तनों का उद्भव स्थान है। अविद्या कहते हैं, क्योंकि यह समस्त ज्ञान के प्रतिकूल है, माया कहते हैं, क्योंकि यह चित्र विचित्र सृष्टि का कारण है। प्रकृतिरित्युच्यते विकारोपादकत्वात्....।—तत्वत्रय, पृष्ठ ४८

समस्त भौतिक आकृतियों के एक सार्वभौम अदृश्य आदिस्त्रोत के विषय में प्लेटो का इसी प्रकार का विचार था। देखिये—टाइमिमस, पृ० २४

इसी प्रकार शिवपुराण,[१] वाराहपुराण,[२] मारकण्डेयपुराण[३] तथा विष्णुपुराण[४] में प्रकृति का वर्णन प्राप्त होता है।

व्यक्त न होने के कारण ही इसे अव्यक्त कहते हैं।[५] तब प्रश्न यह उठता है कि जब मूल प्रकृति अव्यक्त है तो उसकी सत्ता ही क्यों माना जाय? अथवा उसकी सत्ता में प्रमाण क्या है? इसका समाधान कारण कार्य-परम्परा से सम्भव है। क्योंकि सांख्य के अनुसार तो असत् को उत्पत्ति नहीं हो सकती और व्यक्त रूप से समझे जाने वाले तत्व सब कार्य हैं। अतः अव्यक्त सिद्ध है। डा० राधाकृष्णनं के शब्दों में 'भौतिक द्रव्य अपने आप में अन्तःभौतिक तत्वों से उत्पन्न पदार्थ है और उसके रूपों के विभाजन को प्रकृति की विधियों का प्रकटीकरण कहा गया है। यदि समस्त कार्य अपने कारणों के अन्दर छिपे हुये रहते हैं और यदि हम एक पश्चाद्गति से बचना चाहते हैं तो एक आदि कारण जिसका अन्य कोई कारण न हो, अवश्य स्वीकार करना होगा। कार्य कारण के सिद्धान्त से अनुमान द्वारा यह परिणाम

---

१. प्रधानं प्रकृतिं तां च मायां गुणवतीं पराम्।
बुद्धितत्वस्य जननीमाहुर्विकृतिवर्जिताम्॥—शि० पु० २।१।६।२०

२. वा० पु० १२।४

३. यदाहुः प्रकृतिं सूक्ष्मां नित्यां सदसदात्मिकाम्।
ध्रुवमजरमप्रमेयं नान्यसंश्रयम्॥
गन्धरूपरसैर्हीनः शब्दस्पर्श विवर्जितम्।
अनाद्यन्तं जगद्योनिं त्रिगुणं प्रभवाप्ययम्॥
असाम्प्रतमविज्ञेयं ब्रह्माग्रे समवर्तत।
प्रलयस्यानु तेनेदं व्याप्तमासीदशेषतः॥
गुणसाम्यात्ततः तस्मात् क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने।
गुणभावात् सृज्यमानात् सर्गकाले ततः पुनः॥—मा० पु० ४५।३२-३६

४. अव्यक्तं कारणं यत्प्रधानमृषिसत्तमैः।
प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदासदात्मकं॥
अक्षय्यं नान्यदाधारमज्ञेयमजा ध्रुवम्।
शब्दस्पर्शविहीनं तद्रूपादिभिरसंज्ञितम्॥—वि० पु० १।२।१९-२०

५. अव्यक्तं कारणं यत् तत् प्रधानमृषिसत्तमैः।
प्रोच्येते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदासदात्मकम्॥—सां० प्र० भाष्य

निकलता है कि इस आनुभविक विश्व का पर (अन्तिम) आधार प्रकृति ही है।[1] सुश्रुतसंहिताकार ने कहा है—'संपूर्ण जगत् की उत्पत्ति का हेतु है वह अव्यक्त नामक तत्व।[2] अतः कार्यरूपी दृश्यमान व्यक्त सम्पूर्ण जगत से अन्तिम कारण रूप अव्यक्त (प्रकृति) का अनुमान होता है।

वस्तुतः दृश्यमान जगत में कार्यकारणपरम्परा के अनुभव से तथा सत्कार्यवादी सांख्ययोगमत से किसी अव्यक्तमूल कारण का अनुमान होता ही है। सत्कार्यवाद का शिलान्यास 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'....नासत् जायते (छान्दोग्य० ६।२।१) में कर दिया गया था। सांख्य दर्शन के ग्रन्थों में सत्कार्यवाद तथा प्रकृति की सिद्धि में अनेक युक्तियाँ दी गयी हैं[3]—

(१) व्यक्तिगत पदार्थों का परिमाण परिमित है। जो कुछ परिमित है वह अपने से बाह्य किसी वस्तु पर निर्भर है। इसलिए सान्त, सान्त के रूप में विश्व का उद्भव स्थान नहीं हो सकता।

(२) सब व्यक्तिगत पदार्थ कुछ व्यापक लक्षण रखते हैं तथा इससे वे उपलक्षित करते हैं कि उन सबका कोई एक सामान्य उद्भव स्थान होना चाहिए, जहाँ से वे सब निकलते हैं।

(३) वस्तुओं के विकास में अपने को व्यक्त करता हुआ एक क्रियात्मक तत्व अवश्य है। विकास एक ऐसे तत्व को उपलक्षित करता है जो अपनी किसी भी स्थिति के समान नहीं हो सकता। जो अपने उत्पन्न पदार्थों के अन्दर रहता हुआ भी बृहत्तर है।

(४) कार्य कारण से भिन्न है और इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि सान्त तथा सोपाधिक जगत अपना कारण अपने आप है।

(५) साथ ही समस्त वैश्वरूप के अविभाग से भी प्रकृति की सिद्धि होती है। समस्त सृष्टिगत पदार्थों में आन्तर एकत्व स्पष्ट है जो किसी एक ही मूल कारण को सूचित करता है।

इसीलिए सुश्रुतसंहिताकार कहता है कि यद्यपि यह अव्यक्त समस्त भूतों का कारण है परन्तु स्वयं अकारण है[4] अर्थात जिसका कोई कारण नहीं है (किसी अन्य

---

१. भारतीय दर्शन, भाग २, पृ० २५८

२. '....अखिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तं नाम'।—सु० शा० १।३

३. सां० का० ९-१६ तथा उसकी विविध व्याख्यायें।

सां० सू० तथा सां० प्र० भाष्य १-७८, ११०, ११२, ११४, ११५ से १२० तक।

४. सु० शा० १।३

तत्व से न उत्पन्न होने के कारण स्वयं कारण रहित है) महदादि का मूल होकर स्वयं किसी का कार्य न होने से या इसका कोई मूल कारण न होने से मूल प्रकृति है।[१] यदि इसका भी अन्य कारण मानें तो कारणान्तरों की अनन्त शृंखला होने के कारण अनवस्था होगी।

यह आपत्ति कि प्रकृति प्रत्यक्ष में नहीं दिखायी देती, कुछ अधिक महत्व की नहीं है। क्योंकि प्रकृति की सूक्ष्मता इसे प्रत्यक्ष के अयोग्य बनाती है।[२] प्रत्यक्ष ज्ञान में बाधक हेतुओं की परिगणना करते हुए भगवान् आत्रेय कहते हैं कि अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता।[३] हम प्रकृति तथा गुणों के यथार्थस्वरूप को नहीं जानते, क्योंकि हमारा ज्ञान दृश्यमान जगत तक सीमित है[४]। यह शब्द स्पर्श से रहित है[५] जो क्रियात्मक रूप में एक सीमा है जिससे परे हम नहीं जा सकते। यह आनुभविक रूप में एक अमृतभाव हैं,[६]। किन्तु इसकी सत्ता को समस्त सृष्टि को पूर्वभूमिका के रूप में स्वीकार करना ही होता है।[७]

इसी अध्याय को पिछली पंक्तियों में हमने यह कहा था कि प्रकृति त्रिगुणात्मिका। ये तीन गुण हैं—सत्व, रज तथा तम। प्रस्तुत स्थल में अब इन तीनों गुणों का विवेचन किया जायेगा।

गुण

प्रकृति का विकास इसकी तीन घटक शक्तियों अथवा गुणों से होता है[८] जिनकी कल्पना प्रकृति के कार्यों के लक्षणों के आधार पर की गई है। प्रकृति एक

१. मूले मूलाभावादमूलं मूलम्।—सां० सू० १।६७
२. सांख्यकारिका
३. ....सौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः।—च० सू० ११।६
४. व्यास षष्टितन्त्र से इस आशय का एक श्लोक उद्धृत करते हैं—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथ प्राप्त तन्मायेव सुतुच्छकम्॥—योगभाष्य ४।१३

इसकी टिप्पणी करते हुए वाचस्पति का कहना है कि प्रकृति माया नहीं, अपितु माया जैसी है—'मायेव न तु माया'।

५. सांख्य प्र० भा० १।१२८ तुलनीय विष्णु पु० १।२, २०-२१
६. 'संज्ञामात्रम्'।—सांख्यप्रवचनभाष्य १।६८
७. प्र--पहले, कृति--सृष्टि रचना, अथवा प्र--आगे, कृति=बनाना।

—भारतीय दर्शन भाग २, राधाकृष्णन

८. सांख्यकारिका १६

त्रिगुणात्मक (तीन लड़ों वाली रस्सी) है। संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों में प्रकृति को त्रिगुणात्मिका माना गया है। जैसा कि महर्षि सुश्रुत का कथन है—"कारण के अनुसार कार्य होता है। इसलिए (त्रिगुणात्मिका प्रकृति जो कारण-स्वरूप है उसके अनुसार यह सभी महान अहंकार इत्यादि विशेष कार्य भी त्रिगुणात्मक होते हैं[1]। ये तीनों गुण सत्व, रज, तम नाम से प्रसिद्ध हैं। वाग्भट्ट ने इनको महागुण कहा है।[2] इन तीनों गुणों के लक्षण का क्रमिक वर्णन अब किया जायेगा।

सत्व

इसके लक्षणों का निर्वचन करते हुए काश्यपसंहिताकार कहते हैं कि सत्व को प्रकाशक समझना चाहिए।[3] महर्षि सुश्रुत कहते हैं कि सत्व गुण को जागृत करने वाला समझना चाहिए। शरीर में स्थित रहकर सत्व गुण बुद्धि को प्रकाशित करता है। यह ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों एवं उभयेन्द्रिय बुद्धि तथा अहंकार इन तेरह करणों में परिलक्षित होता है। सत्व गुण इन तेरह करणों को प्रकाशमान करता है जिससे निर्मल ज्ञान स्फुट होता है। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन की संरचना में भी सत्व गुण का बाहुल्य रहता है। इन करणों की अपने विषय ग्रहण करने की प्रवृत्ति सत्व गुण के कारण होती है। इन्द्रियों में सत्व गुण की जितनी अधिकता होती है विषय प्रवृत्ति तथा ज्ञान ग्रहण क्षमता उनकी उतनी ही अधिक होती है, अपने कर्म सम्पादन में भी वे उतनी ही अधिक समर्थ होती है।

सत्व गुण का एक अन्य महत्वपूर्ण लक्षण लाघव है। लघुता के कारण ही द्रव्य उर्ध्वगति वाला होता है जैसे—प्रज्वलित अग्नि की ज्वालाओं की उर्ध्वगति का कारण सत्वगुण है। सत्व गुण वाखात्मक होता है और लाघव के कारण ही द्रव्यों की तिर्यक् गति होती है।

सत्व गुण अनेक मानवीय प्रवृत्तियों एवं धार्मिक वृत्तियों का कारण होता है। सत्व गुण का परिणाम सुख होता है। सत्वोद्रेक से मन की निर्मलता, शुद्ध कर्म आदि सुख के कारण होते हैं। प्रसाद (इन्द्रियों की प्रसन्नता एवं निर्मलता) लाघव (स्फूर्ति, उत्साह), अनासक्ति (भोग विलास के प्रति विरक्ति), प्रीति (सौहार्द भाव),

---

१. तत्रकारणानुरूपं कार्यमिति कृत्वा सर्वे एवैते विशेषाः सत्वरजस्तमोमयाः भवन्ति।
—सु० शा० १।१४

२. सत्व रजस्तमश्चेति त्रयो प्रोक्ता महागुणाः।—अ० सं० सू० १

३. सत्वं प्रकाशकं विद्धि ····।—का० सं० सू० अ० २८
तुलनीय–सत्वं लघु प्रकाशम् (सां० का १३)।

क्षमा (क्रोधाभाव), सन्तोष, अनुकम्पा, सरलता, मृदुता, लज्जा, विवेक आदि सद्‌गुण सुख के ही रूप एवं सत्व गुण के परिणाम विशेष हैं।

रजोगुण के लक्षण

काश्यपसंहिताकार का कहना है कि रजो गुण प्रवर्तक होता है।[1] प्रवर्तक का तात्पर्य प्रवृत्तिशीलता से ही है। इस प्रवर्तकत्व धर्म के कारण ही रजोगुण समस्त चेतन या अचेतन द्रव्यों की गति या प्रवृत्ति में कारण होता है। मन का चांचल्य भी रजोगुण की अधिकता का ज्ञापक है। रजोगुण की बहुलता वाले मनुष्य प्रवृत्ति वाले, कम निद्रा वाले, तीव्र स्वभाव वाले तथा जल्दी जागने वाले होते हैं। रजोगुण वाले मनुष्य पैत्तिक प्रकृति वाले होते हैं, वे स्पष्ट वक्ता तथा तीखी वाणी वाले होते हैं।

सत्व तथा तम स्वयं प्रवृत्तिशील न होने से अपने प्रकाशन एवं नियमन आदि कार्यों के उत्पादन में असमर्थ होने पर रजस् के द्वारा उत्तेजित किये जाते हैं अर्थात् शैथिल्य रूप असामर्थ्य से हटाकर अपने-अपने कार्य में प्रयत्नशील या प्रवृत्त किये जाते हैं। रजोगुण का 'उपष्टम्भक' धर्म इसी तथ्य का द्योतक है।

रजोगुण का परिणाम दुःख होता है। क्योंकि रजोगुण से प्रतिकूल वेदना होती है। मन के लिए प्रतिकूल वेदना ही दुःखजनक होती है। शोक, खेद, मान, मद, मत्सर आदि इसी दुःख के रूप हैं। अतः अन्तर्मन में उत्पन्न होने वाले ये सभी भाव रजोगुण की अधिकता को निरूपित करते हैं। इस प्रकार प्रवर्तकत्व, उपष्टम्भकत्व तथा दुःखजनकत्व इन तीन लक्षणों वाला रजोगुण है[2]।

तमोगुण के लक्षण

काश्यपसंहिताकार का कहना है तमोगुण (रज तथा सत्व का) नियामक होता है[3]। तात्पर्य यह है कि यह (गुरुता के कारण) सत्व गुण तथा रजोगुण को अभिभूत करता है तथा उनका नियमन करता है। तमोगुण के उत्कर्ष होने पर रजोगुण की प्रवृत्तिशीलता मन्द होती जाती है तथा द्रव्य यदि प्राणी (चेतन) है तो वह सर्वथा

---

१. रजश्चापि प्रवर्तकम्।—का० सं० सू० २८
२. ····उपष्टम्भकं चलं च रजः।—सां० का० १३
तथा····अप्रीति····।—सां० का० १२
३. तमोनियामकं प्रोक्तं····।—का० सं० सू०२८

निष्क्रिय अथवा मन्दक्रिया वाला हो जाता है। तमोगुण के आवरण से सत्वगुण की भी ज्ञानग्रहणशक्ति कुंठित हो जाती है तथा पुरुष को अज्ञान या मिथ्या ज्ञान होता है। यह बुद्धि, मन, अहंकार तथा इन्द्रियों को आवृत कर उन्हें स्वकार्य प्रवृत्ति से रोकता है। इस प्रकार तमोगुण सत्व तथा रज का नियामक है।[1]

तमोगुण का एक अन्य लक्षण गुरुत्व है। इसका अभिप्राय है—गुरुता या भारीपन।[2] इसके कारण द्रव्यों में मन्दता, जड़ता तथा निष्क्रियता होती है। यह गति एवं प्रवृत्ति का अवरोधक है। प्राणियों में तमोगुण का आधिक्य होने पर मोह, बुद्ध्याल्पता, इन्द्रियों की स्वविषयसंबन्धिनी प्रवृत्ति तथा सामर्थ्य अल्प हो जाती है। स्वाभिमान का अभाव, पराधीनता वृत्ति, भय की भावना आदि विकृतियां भी तमोगुण जनित होती है।

तमोगुण का एक अन्य लक्षण विषाद है। तमोगुणजन्य मोह के वशीभूत होकर पुरुष संसार के द्रव्यों में अपनी प्रियता, मोह तथा ममत्व को व्यक्त करता है। तथा प्रेय वस्तुओं के नाश होने पर विषादयुक्त होता है।[3] तमोगुण का प्रभाव यह है कि मनुष्य के ज्ञान-केन्द्र आवृत या सुप्त रहते हैं। जिससे उसको सम्यक् ज्ञान की अनुभूति नहीं होती है। तमोगुण के कारण शरीर में गुरुता की वृद्धि होती जिससे मनुष्य निद्रालु हो जाता है। जैसा कि महर्षि सुश्रुत का कथन है—तमोगुण निद्रा को उत्पन्न करने वाला होता है[4]। तमोगुण के कारण मनुष्य आलसी, निष्क्रिय, परिश्रमाक्रान्त, भीरु, मन्दगति वाला तथा दीर्घसूत्री हो जाता है। तमोगुण के कारण मन अवसाद से पूर्ण रहकर खिन्न रहता है जिससे मनुष्य में प्रमाद, कुटिलता तथा धूर्तता आ जाती है। ये समस्त अवगुण मोहजन्य हैं।

इस प्रकार तमोगुण तीन लक्षण वाला है—नियंत्रण, गुरुत्व तथा मोह।

ये गुण वैशेषिक के गुण नहीं हैं क्योंकि इनके अन्दर लघुता, क्रियाशीलता आदि गुण विद्यमान हैं।[5] ये गुण पुरुष को उसी प्रकार जन्म मरण, सुख दुःख आदि के बन्धन में बांधते हैं जैसे डोरी से पशु।[6] लघुत्वादि गुणों का योग होने से सत्वादि

---

१. सांख्यकारिका १२

२. गुरुवरणकमेव तमः, ...।—सां० का० १३

३. विषादो मोहः, विषादात्मकस्तमोगुण इत्यर्थः।

४. सां० प्र० भा० १।६१

५. सां० प्र० भा० १।६१

६. गीता १४।५

(सत्व, रज, तम) तीन द्रव्य हैं। ये तीनों पुरुष के उपकरण होने से इनमें गुण शब्द का व्यवहार किया जाता है।[1] अतः द्रव्याश्रित धर्म नहीं अपितु द्रव्य रूप ही हैं।[2] इस प्रकार ये तीनों प्रकृति के धर्म या स्वभाव नहीं इसके स्वरूप ही हैं। अर्थात् प्रकृति या अव्यक्त सत्व, रजस् तथा तमस् गुणों का आधार नहीं अपितु तद्रूप या तदात्मक है जैसा कि 'सत्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्' (सां० सू० ६/३१) तथा एते गुणाः प्रधान-शब्दवाच्या भवन्ति (यो० सू० २/१८ का व्यासभाष्य) इत्यादि पंक्तियों से स्पष्ट है। इस प्रकार प्रकृति के त्रिगुणात्मक होने पर 'प्रकृति के गुण' ऐसा भेद व्यवहार कथञ्चित भेद विवक्षा से होता है।[3]

ये तीनों गुण पृथक नहीं रहते। काश्यपसंहिताकार का कहना है कि इन तीनों को परस्पर मिलकर रहने वाला समझना चाहिए।[4] ये एक दूसरे को पुष्ट करते हैं तथा मिले जुले रहते हैं। ये एक दूसरे के साथ (परस्पर विरोधी होने पर भी) घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होकर कार्य करते हैं जैसे परस्पर विरोधी होते हुए भी दीपशिखा, तेल तथा दीपक की बत्ती परस्पर सटे हुए रहते हैं।[5] जैसे परस्पर विरोधी वात, पित्त, कफ त्रिदोष शरीर को धारण किये रहते हैं उसी प्रकार सत्व, रजस, तथा तमस विरोधी होते हुए भी परस्पर अनुकूल रहते हुए अपना कार्य करते हैं जैसे इन तीनों दोषों में जिस दोष की अधिकता होगी उस अधिक दोष के अनुसार ही पुरुष के शरीर की विशिष्ट रचना तथा उसके मानसिक स्वभाव का निर्माण होता है उसी प्रकार इन तीनों गुणों में जिस गुण की अधिकता होती है उस अधिक गुण एवं उसके स्वरूप के अनुसार ही चेतन द्रव्य की मानसिक संरचना होगी। तथा इस अधिक गुण के आधार पर ही उस द्रव्य को सात्विक, राजस या तामस कहा जाता है। क्योंकि जिस विशेष द्रव्य में जो कोई गुण सर्वोपरि रहता है वह उसमें अभिव्यक्त होता है, यद्यपि अन्य गुण भी अनुपस्थित नहीं रहते।

---

१. लघुत्वादिगुणयोगात् सत्वादित्रयं द्रव्यं, तत्रगुणशब्दस्तु पुरुषोपकरणत्वात्'।

—महादेव कृत वृत्ति

तुलनीय—सत्वादीनि द्रव्याणि न च वैशेषिक गुणाः।—विज्ञानभिक्षु

२. डा० आद्या प्रसाद मिश्रः सांख्यतत्वकौमुदीप्रभा, पृ० ४८

३. वही

४. अन्योऽन्यमिथुनप्रियम्।—कां० सं० सू० अ० २८

तुलनीय—मिथुनवृत्तयश्च गुणाः।—सां० का० १२

५. यथा—वर्तितैलेऽनलविरोधिनी, अथ मिलिते, सहानलेन रूपप्रकाशलक्षणं कार्यं कुरुतः।—सां० का० १३ पर तत्वकौमुदी

सर्जनात्मक प्रक्रिया के सन्दर्भ में हम कह सकते हैं कि जो अभिव्यक्त होता है वह सत्व अथवा वस्तु का रूप है, अभिव्यक्ति का कारण रजोगुण है, तमस वह बाधा है जो सत्व की अभिव्यक्ति के मार्ग में उपस्थित रहती है तथा जिस पर विजय प्राप्त करनी है।[1] प्राचीन उपनिषदों में इन्हें मनोवैज्ञानिक रूप दिया गया है जो भौतिक तथा मानसिक बुराई को उत्पन्न करते हैं। रचना की दृष्टि से ये गुण अत्यन्त सूक्ष्म बताये जाते हैं। ये सदा परिवर्तनशील हैं यहाँ तक कि जिसे साम्यावस्था कहा जाता है उसमें भी ये गुण निरन्तर एक दूसरे में परिवर्तित होते रहते हैं। किन्तु ये परिवर्तन अपने आप में तब तक कोई विषयनिष्ठ परिणाम नहीं उत्पन्न करते जब तक कि साम्यावस्था में कोई क्षोभ नहीं उत्पन्न होता। गुणों की साम्यावस्था में क्षोभ उत्पन्न होने पर ये गुण एक दूसरे पर क्रिया प्रतिक्रिया करते हैं तथा विकास होता है। यद्यपि कार्य रूप जगत की उत्पत्ति में तीनों गुण एक साथ भाग लेते हैं तो भी वे कभी एकीभूत नहीं होते। पारस्परिक प्रभाव अथवा सामीप्य के कारण उनके अन्दर परिवर्तन होता है। वे विकसित होते हैं, परस्पर मिलते हैं[2] तथा पृथक होते हैं। उनमें से कोई

---

१. डा० सील के अनुसार—प्रत्येक घटना में तीन प्रकार के मूलतत्व होते हैं। बुद्धिगम्यसार, शक्ति और घनत्व। निकट संयोग में ये वस्तुओं के अन्दर अनिवार्य रचनात्मक अवयवों के रूप में प्रवेश करते हैं। किसी वस्तु का सार वह है जिस रूप में वह अपने को बुद्धि के आगे अभिव्यक्त करती है और इस प्रकार की अभिव्यक्ति के बिना चेतनामय जगत में कुछ भी नहीं रह सकता (समष्टिबुद्धि)। किन्तु यह सार तत्व तीन लक्षणों में से केवल एक है। यह न तो पुंज को और न गुरुत्व को धारण करता है। न यह बाधा ही देता है और न कोई कार्य ही करता है। उसके बाद तमस् का अंश है, जो पुंज, निष्क्रियता, भौतिक सामग्री है, जो गति के मार्ग में तथा चेतनामय चिन्तन के भी मार्ग में बाधा देता है। किन्तु बुद्धि सामग्री तथा भौतिक सामग्री कोई कार्य नहीं कर सकती और अपने आप में रचनात्मक क्रियाशीलता से रहित है। समस्त कार्य रजोगुण से होता है जो शक्ति का अंश है और जो भौतिक द्रव्य को बाधा पर विजय प्राप्त करके बुद्धि को भी शक्तिप्रदान करता है, जिसकी आवश्यकता इसे अपने चेतनामय नियमन तथा अनुकूलन के लिए होती है (दि पाजिटिव साइंसेज आफ दि हिन्दूज, पृष्ठ ४) डा० सील के मत में व सांख्य के दृष्टिकोण में अद्भुत साम्य है।

—सां० का० १३ पर तत्वकौमुदी

२. ये तीनों ही गुण एक दूसरे के सहचर या एक दूसरे के अभाव में न रहने वाले होते हैं इसमें देवीभागवत प्रमाण है—

भी अपनी शक्ति को नहीं खोता, भले ही दूसरे सक्रिय रूप में कार्यरत क्यों न हों।[1] इन गुणों के अत्यधिक महत्व के कारण यह कहा गया है कि गुण सिद्धान्त से रहित सांख्य की कल्पना ही सम्भव नहीं है[2]। यही स्थिति आयुर्वेद में भी है।

सृष्टि

प्रकृति वह मौलिक द्रव्य है जिसमें से यह जगत विकसित होता है। यह सारा जगत अकेले प्रकृति का विकार हैं। प्रकृति स्वरूप से अस्थिर नहीं है और इसलिये इसे अनिवार्य रूप से भिन्न-भिन्न होने की आवश्यकता नहीं है।[3] विश्राम की अवस्था को प्रकृति की स्वाभाविक दशा कही गयी है। इस स्थिति में कोई अभिनव सृष्टि नहीं होती। परन्तु सृष्टिकाल में तीन गुणों में क्षोभ होने से साम्य नष्ट होता है, वैषम्य उत्पन्न होता है तथा वैषम्य या न्यूनाधिक्य को प्राप्त हुए गुणों के विविध मिश्रण से विविध सृष्टि होने लगती है। चूंकि पुरुष के पूर्व-कृत कर्मों के भोग तथा भोगान्तर तत्वज्ञान द्वारा पुरुष के अपवर्ग की सिद्धि के लिए विविध सृष्टि अपेक्षित है। इसी विविध सृष्टि के लिए गुणों में वैविध्य या वैषम्य होना आवश्यक है। प्रश्न यह उठता है कि गुणों में क्षोभ कैसे उत्पन्न होता है। सुश्रुत कहते हैं कि प्रकृति के अचेतन होने पर भी पुरुष के मोक्ष के लिए उसकी प्रवृत्ति होती है।[4] अतएव पुरुष तथा प्रकृति के संयोग से ही सृष्टि होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पुरुष कैवल्यार्थ प्रकृति तथा पुरुष का संयोग होता है उस संयोग से प्रकृति के गुणों में क्षोभ होने से वैषम्य उत्पन्न होने पर विविध सृष्टि होती है।[5]

अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वत्रगामिनः। रजसो मिथुनं सत्वं सत्वस्य मिथुनं रजः। तमश्चापि मिथुनं ते सत्वरजसी उभे। उभयोः सत्वरजसोर्मिथुनं तमं उच्चते।

एक दूसरे के कार्य में सहायक होने का बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त माठर वृत्ति (पे २२) तथा सुवर्णसप्ततिशास्त्र (पृ० १७) में मिलता है। जैसे तिरछे खड़े किये गये तीन दण्डों या खम्भो पर आश्रित घट किसी एक पर आश्रित नहीं रह सकता। घट को अपने-अपने ऊपर सम्भालने के कार्य में तीनों में से प्रत्येक अन्य दोनों की सहायता की अपेक्षा रखता है। उसी प्रकार तीनों गुण भी अपने-अपने कार्य में अन्य दोनों की सहायता करते हैं।

१. योगभाष्य २।१८
२. सांख्य सिस्टम, पृ० २८
३. स्पेंसर--फर्स्ट प्रिंसिपल्स, पृष्ठ १६
४. सत्यप्यचैतन्ये प्रधानस्य पुरुषकैवल्यार्थं प्रवृत्तिमुपदिशन्ति।—सु० शा० १।११
५. सा० त० कौ० प्र०—डा० आद्या प्रसाद मिश्र, पृष्ठ ५६

प्रकृति तथा उससे बने हुए महाभूत पर्यन्त चौबीस तत्व स्वयं अचेतन है। उनके अणुपरमाणुओं में संयोग विभाग आदि चैतन्यसाध्य क्रियायें स्वयं नहीं हो सकती। पुरुष आत्मा के संग से उसमें चैतन्य का प्रादुर्भाव होता है।[1] उक्त चौबीस तत्वों में सृष्टि के निर्माण रूप प्रवृत्ति का कारण पुरुषों को (माया की दुःखान्तता दिखलाकर) मोक्ष दिलाना है। इस प्रकार चेतन के संग या सान्निध्य से चेतन के उपकार हेतु अचेतनों में प्रवृत्ति स्थूल जगत में भी देखी जाती है जैसे बछड़े की वृद्धि के लिए स्वयं अचेतन दुग्ध चैतन्य होकर बाहर निकलता है अथवा सम्भोग के अन्त में स्त्री-पुरुष के सुखार्थ अचेतन शुक्र का स्राव हुआ करता है।[2] प्रलय के अनन्तर उपर्युक्त वर्णित प्रक्रिया से ही सृष्टि की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। इस स्थल में उत्पन्न होने वाले प्रत्येक तत्व का वर्णन किया जायेगा।

महत्तत्व

महत्, जो सकल विश्व का कारण है, अव्यक्त के विकास में सबसे प्रथम उत्पन्न पदार्थ है।[3] इस महत् तत्व को ही अन्य शास्त्रों में बुद्धि, ब्रह्मा,[4] मति, प्रज्ञा, उपलब्धि,[5] वृति, स्मृति, चिति कहा गया है।[6] महत् शब्द विश्वीय पक्ष को दर्शाता

---

१. तत्र सर्व एवाचेतन एष वर्गः, पुरुषः पंचविंशतितमः कार्यकारणसंयुक्तश्चेतयिता भवति। ...छीरादींश्चात्र हेतूनुदाहरन्ति।—सु० शा० १।११

२. कार्येण महदादिविकारगणेन, कारणेन मूलप्रकृत्या, संयुक्त संयोगो। क्षीरादी-नित्यादि। यथा क्षीरमज्ञं वत्सविवृद्ध्यर्थं प्रवर्तते। आदि शब्दाच्च यथैकान्ते कमनीय कामिनीसुरतमहोत्सवे तत्सुखातिशयोत्पादनार्थमज्ञं रेतः प्रवर्तते, तद्व-दित्यर्थः।—सु० शा० १।११ पर डल्हण

३. (i) अव्यक्तान्महान्....।—का० सं० शा०
(ii) जायते बुद्धिरव्यक्ताद....।—च० शा० १।६६
(iii) तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते....।—सु० शा० १।३

४. मनोमतिर्ब्रह्मा बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः। प्रज्ञा चितिः स्मृतिः संवित् विपुरं चोच्यते बुधैः।—वायु० पु० अ० ४

५. न्याय तथा वैशेषिकदर्शन में बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान का पर्याय रूप माना गया है, यथा—'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्'।—न्याय० सू० १।१।१५
तथा—'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः।—वै० सू० ८।१२०

६. हिरण्यगर्भो भगवान एष बुद्धिरिति स्मृतः। महानिति च योगेषु विरंञ्चिरिति चाप्यजः महानात्मा मतिर्विष्णु जिष्णुः शंभुश्चवीर्यवान्। बुद्धि प्रज्ञोपलब्धिश्च तथा ख्यातिर्धृतिस्मृतिः पर्यायवाचकैः शब्दैः महानात्मा विभाव्यते।—अनुगीता अ० २६

है । इसके लिए प्रयुक्त उपर्युक्त पर्यायवाची शब्दसमूह से यह उपलक्षित होता है कि इसका प्रयोग विश्व-संबंधी अर्थ में किया गया है ।[1]

बुद्धि के व्यापार हैं—निश्चय करना तथा निर्णय पर पहुँचना । संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों में बुद्धि तथा बुद्धि के कार्य के विषय में निम्न वर्णन उपलब्ध होता है । मन सहित ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा विषय का ग्रहण होने के पश्चात् मन तथा बुद्धि या व्यापार होता है । विषय के ग्रहण होने के अनन्तर मन के द्वारा संकल्प किया जाता है कि गृहीत विषय गुणयुक्त होने से ग्राह्य है अथवा दोष युक्त होने से त्याज्य हैं । तत्पश्चात् उस विषय के सम्बन्ध में स्थिर निश्चय होता है । वह निश्चयात्मिका बुद्धि होती है । इसे ही अध्यवसाय भी कहते हैं ।[2] इस प्रकार आयुर्वेद शास्त्र में अध्यवसायात्मिका, व्यवसायात्मिका एवं निश्चयात्मिका तत्व को बुद्धि कहा गया है ।[3] वाचस्पति मिश्र ने ज्ञान की प्रक्रिया का निरूपण इस प्रकार किया है—

'प्रत्येक व्यवहार करने वाला मनुष्य पहले उस कार्य का (बाह्येन्द्रियों से) ग्रहण करने के बाद (मन) से उसका विचार (संकल्प विकल्प) करके फिर (अहंकार) से 'मैं' इसे करने में अधिकृत हूँ ऐसा अभिमान करके (बुद्धि) से 'यह मुझे करना है' ऐसा निश्चय करता है और तब उसमें प्रवृत्त होता है । उनमें 'यह मुझे करना है' इस प्रकार का जो बुद्धि का निश्चय है तथा जिसे चेतन पुरुष के सान्निध्य से चैतन्यवती होकर करती है, वही अध्यवसाय है ।[4]

---

१. परवर्ती वेदान्त में बुद्धि को समष्टिरूप में हिरण्यगर्भ की उपाधि करके लिया गया है ।

२. इन्द्रियेणन्द्रियार्थो हि समस्केन गृह्यते ।
कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽपि वा ।
जायते विषये तत्र या बुद्धिनिश्यात्मिका ।
व्यवस्यति तथा वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम् ॥—च० शा० १।२४

३.....निश्चयात्मिकेति स्थिरस्वरूपा अध्यवसाय रूपेत्यर्थः । व्यवस्यतीत्यनुष्ठानं करोति, उद्युक्तो भवतीत्यर्थ; बुध्यध्यवसितमर्थ वक्तुं कर्त्तुं वानुष्ठतीति यावत् । बुद्धिपूर्वकमित्यनेन यदेव बुद्धिपूर्वकमनुष्ठानं तदेवैवविधं भवति, नोन्मत्तानुष्ठानमितिदर्शयति ।—च० शा० १।२४ पर चक्रपाणि

४. सर्वोव्यवहर्त्तालोच्य मत्वा 'अहमत्राधिकृतः' इत्यभिमत्य' कर्तव्यमेतन्मया' इत्यध्यवस्यति, ततश्च प्रवर्तते इति लोकसिद्धम् । तत्र योऽयं कर्तव्यमिति विनिश्चयश्चितिसन्निधानादापन्नचैतन्यायाः बुद्धेः; सोऽध्यवसायः ।
—सा० का० २३ पर तत्वकौमुदी

सुश्रुतसंहिता के टीकाकार डल्हण कहते हैं—'महानिति बुद्धितत्वं तत्तु सत्व-समुद्रेकान्निर्मलस्फटिकोपलप्रख्यं चिच्छायायंक्रान्तिप्राप्त चैतन्यं पुरुषनानात्मकअध्यवसेय-विषयनिश्चितार्थाकारणमित्यर्थः ।' आचार्य डल्हण के 'सत्वसमुद्रेकान्निर्मलस्फटिकोपल-प्रख्यं चिच्छायासंक्रान्तिप्राप्त चैतन्यं' इत्यादि शब्द बड़े महत्व के हैं। इसमें सांख्य-सम्मत आयुर्वेदीय वर्णन के एक महान तथ्य का कथन है। वह तथ्य यह है कि अध्यव-साय चिति-शक्ति अर्थात चेतन पुरुष की छाया के संक्रमित होने से चेतन सी प्रतीत होने वाली बुद्धि का कार्य है पुरुष का नहीं। आपाततः यह कथन ठीक नहीं प्रतीत होता क्योंकि निश्चय कार्य तो किसी चेतन का ही हो सकता है, कोई जड़ वस्तु किसी अन्य वस्तु को कैसे जान सकती है। पाश्चात्य दर्शनों में ज्ञान प्राप्त करने वाले मनस् तथा ज्ञान आदि भावों को चेतना माना गया है परन्तु इसके विपरीत यहाँ पर ज्ञान को जड़ बुद्धि का ही कार्य मानता है। तब इस मत के विरुद्ध यह शंका होती है कि ऐसा कैसे हो सकता है, जबकि चेतन का ही जानना अनुभव सिद्ध है। इसी शंका का समाधान उपर्युक्त तथ्य का कथन करके किया गया है। आचार्य डल्हण के इस कथन के अनुसार जड़ बुद्धि का 'अध्यवसाय' कार्य बुद्धि में 'चिति' के संक्रमण से उसके चैतन्य प्राप्त कर लेने पर होता है। बुद्धि वस्तुतः तो चेतन नहीं हो जाती है तथापि चेतन पुरुष के संसर्ग से वह चेतन सी प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार बुद्धि को अशरीरी पुरुष के साथ नहीं मिश्रित करना चाहिए।

बुद्धि अपने आप में सात्विक है। किन्तु व्यक्ति विशेष के अन्दर जाकर पूर्व-जन्म के प्रमाणों के कारण ही यह राजस अथवा तामस बन जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि बुद्धि के द्वारा केवल सुख की प्राप्ति होती है किन्तु उपार्जित प्रभावों के कारण इसके दुःखमय परिणाम होते हैं। यही कारण है कि एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर भिन्न प्रकार का असर रखती है। प्रत्येक ज्ञेय पदार्थ को ध्यान बंटाने वाले वैय-क्तिक प्रयोजन से देखा जाता है इस प्रकार जो वस्तु एक के लिए सुखदायी है वह दूसरे के लिए दुःखदायी है।[1] जैसे रूप, यौवन, कुल, शील से सम्पन्न वही स्त्री अपने पति को सुख देती है क्योंकि उसके प्रति उस स्त्री का सुखात्मक सत्व रूप ही प्रकट होता है। वही स्त्री सौतों को दुख देती है क्योंकि उनके प्रति उसका दुःखात्मक रजोरूप ही प्रकट होता है। इसी प्रकार उसे न पा सकने वाले पर पुरुष को मूढ़ बना देती है क्योंकि उनके प्रति उस स्त्री का मोहात्मक तमोरूप ही प्रकट होता है।[2]

---

१. डा० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग २, पृष्ठ २६६

२. सां० का० १३ पर तत्वकौमुदी

बुद्धि नित्य भी है, अनित्य भी है। यह प्रकृति की कारणावस्था में बीजशक्ति के रूप में अंकुर बनकर विद्यमान रहती है और तब इसके व्यापार प्रकट नहीं होते। जब यह कार्यावस्था में परिवर्तित होती है तो यह बुद्धि कहाती है। वास्तव में यह वह क्षमता है जिससे हम पदार्थों में भेद करते हैं।[1] विज्ञानभिक्षु इसे कभी असफल न होने वाली तथा सब संस्कारों को धारण करने वाली मानता है।[2]

अहंकार

अव्यक्त से उत्पन्न होने वाली परम्परा में दूसरा व्यक्त तत्व अहंकार है जो उपर्युक्त महत्तत्व से उत्पन्न होता है। महत् की अहंकार के प्रति वही स्थिति है जो चैतन्य की आत्मचैतन्य के प्रति। महत् की भांति यह भी त्रिगुणात्मक होता है। अहंकार में तीनों गुणों की विषयरूपा स्थिति रहती है। गुणों की वैषम्यावस्था के कारण अहंकार तत्व मनुष्यों में ममत्व भावना का उत्पादक होता है। संसार के विभिन्न पदार्थों में मनुष्य का जो यह भाव उत्पन्न होता है कि मैं हूं, यह मेरा है, मैं इसका अधिकारी[3] हूँ, मैं इससे पृथक हूँ अथवा वह मुझसे भिन्न है, इत्यादि भाव या वाक्य अहंभाव के द्योतक हैं और ये सब अहंकार से प्रेरित हैं। स्वतन्त्र प्रवृत्ति एवं स्वेच्छाचारी वृत्ति ही उसके स्वभाव का गुण होता है।

दासगुप्ता पंतजलि के दर्शन में अहंकार को महत्वापन्न स्वीकार करते हैं।[4] वास्तव में अहंकार को भौतिक सामग्री के रूप में लिया गया है और जहाँ बुद्धि अपने व्यापार में अधिक ज्ञान विषयक है वहां अहंकार अधिक क्रियात्मक है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अहंकार का कार्य अभिमान अथवा आत्मप्रेम है। कर्तृत्व का सम्बन्ध इसके साथ है आत्मा अथवा पुरुष के साथ नहीं।[5] इसे द्रव्य माना गया है क्योंकि यह अन्य द्रव्यों का उपादानकारण है। पुरुष अहंकार के द्वारा ही प्रकृति की क्रियाओं को अपनी क्रियायें समझने लगता है। हरिदास भट्टाचार्य के अनुसार फ्रायड तथा युंग जैसे आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता अहंकार के ऊपर विशेष बल देते हैं।[6]

---

१. स च बुद्धेर्गुणं समानसामानजातीयव्यवच्छेदकत्वात्।

—सां० का० २३ पर तत्वकौमुदी

२. सा० प्र० भा० २।४१।४२

३. अहंकारोऽभिमन्यते 'ममेदमहमत्राधिकृतः' इति मन्यते इत्यर्थः।

—च० शा० १।२१ पर चक्रपाणि

४. दि स्टडी आफ पंतजलि, पृ० ५३

५. सां० प्र० सू० ६।५४

६. इंडियन इथिक्स,—सी० एच० आई, वाल्यूम थ्री, पृ० ६२०-६४४

यह आरोप कि आयुर्वेद में वर्णित ज्ञानोत्पत्तिक्रम (च० शा० १।२१) में अहंकार का वर्णन न होने से अहंकार की उपयोगिता असिद्ध है, उचित नहीं। चरक संहिता के टीकाकार चक्रपाणि इस सम्भावित आरोप का खण्डन करते हुए कहते हैं— 'विचार का रूप यह है—यह वस्तु हानिकारक है या लाभकर, इसे लें या न लें आदि। इस प्रकार विकल्प का कारण चार प्रकार का माना जाता है—१. बाह्य इन्द्रिय स्वरूप, २. आभ्यान्तर। आभ्यान्तर के तीन भेद हैं (१) मन, (२) अहंकार, (३) बुद्धि। इन चारों में इन्द्रियां निर्विकल्प रूप से ग्रहण करती है। मन यह विचार करता है कि दोषयुक्त होने से हेय या उपादेय है, अहंकार अपने अधिकार का यह निश्चय करता है। तब बुद्धि यह निश्चय करती है कि यह दोष युक्त है अतः त्याग दूं या गुणयुक्त है अतः इसे ग्रहण कर लूं। ऊहा करना बाह्य इन्द्रियों का विषय है परन्तु फिर भी विना मन की सहायता से ऊहा नहीं होती, अतः मन का विषय मान लिया जाता है। यथा 'सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्। तस्मात्त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि।' (सां० का ३५) इस प्रकार ऊहा तथा विचार के अनन्तर बुद्धि अध्यवसाय करती है। अहङ्कार का व्यापार अभिमनन यहां पर अनुक्त होने पर भी बुद्धिव्यापार से ही सूचित है, ऐसा जानना चाहिए। अहंकार से अभिमत बुद्धि ही विषय में प्रवृत्त होती है जिससे बुद्धिव्यापार से ही अहंकार व्यापार का ग्रहण किया गया है क्योंकि बुद्धि में सभी कारणों के व्यापार का अर्पण होता है जैसा कि कहा गया है—एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः। कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति (सा० ३६) अर्थात ये बाह्यइन्द्रियां और अन्तःइन्द्रियां आपस में विलक्षण होती हुयी भी गुणविशेषता से दीपक की तरह कार्य करतीं हैं। जैसे दीपक से वर्त्ति स्नेह लेकर अग्नि को देती है जिससे प्रकाश होता है उसी प्रकार बाह्य इन्द्रियां विषय को लेकर मन को देती हैं, मन संकल्प कर अहंकार को देता है अहंकार अपना अधिकार स्थापित कर बुद्धि को देता है।'[1] इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि बुद्धि-ग्रहण से अहंकार का भी ग्रहण आयुर्वेद में हो गया है।

---

१. ····विचारो हेयोपादेयतया विकल्पनम्। चतुर्विधं हि विकल्पकारणं सांख्याः मन्यन्ते, तत्र वाह्यमिन्द्रियरूपम्, आभ्यान्तरं तु मनोऽहङ्कारो बुद्धिश्चेति त्रितयम्। तत्रेन्द्रियाण्यालोचयन्ति निर्विकल्पकेन गृहणन्तीत्यर्थः मनस्तु संकल्पयति हेयोपादेयतया कल्पयतीत्यर्थः, अहंकारोऽभिमन्यते 'ममेदमहमत्राधिकृतः' इति मन्यते इत्यर्थः, बुद्धिरध्यवस्यति 'त्यजाम्येनं दोषवन्तमुपादयाम्येनं गुणवन्तं' इत्यध्यवसायं करोतीत्यर्थः। उहस्तु यद्यपि बाह्यचक्षुरादिकर्म, तथाऽपि तत्रापि मनोऽधिष्ठानमस्तीति मनःकर्मतयोक्तः। वचनं हि 'सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।

महाभूत

संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों को दार्शनिक तत्वों का अध्ययन करते समय महाभूतों की उत्पत्ति के संबंध में हमें उस रोचक तथ्य की प्राप्ति होती है जिसमें इन ग्रन्थों में पारस्परिक मतभेद दिखायी पड़ता है। जहाँ एक और चरकसंहिता[1] तथा तथा काश्यपसंहिता[2] ग्रन्थों में उत्पत्ति क्रम के वर्णन-प्रसंग में महाभूतों की उत्पत्ति अहंकार से बतायी गयी है। वहीं दूसरी ओर सुश्रुत संहिताकार अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति निरूपित करते हुए महाभूतों की उत्पत्ति पंचतन्मात्रों से मानते हैं। देखिये—'अहंकार तीन प्रकार का होता है वैकारिक या सात्विक, तैजस या राजस तथा भूतादि या तामस। सात्विक अहंकार से, राजस की सहायता से ग्यारह इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं।····तामस अहंकार से राजस की सहायता से पांच तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। क्रमशः पांचों तन्मात्रों से आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी ये पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं[3]। परन्तु उत्पत्ति का यह क्रम आयुर्वेदीय दर्शन से तालमेल नहीं रखता। क्योंकि इस उत्पत्ति क्रम के अनुसार तो इन्द्रिया सांख्य दर्शन के समान आहंकारिक हो जायेंगी जबकि आयुर्वेद को इन्द्रियां भौतिक ही मान्य है। इसका विशेष विवेचन इसी अध्याय में आगे यथा-स्थान किया जायेगा। यह निश्चित हुआ कि आयुर्वेद को चरक संहिता तथा काश्यप संहिता में वर्णित अहंकार से महाभूतों की उत्पत्ति स्वीकार्य है।

तस्मातत्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि' (सा० का० ३५) इति। ततः परं बुद्धि प्रवर्तते इति ऊहविचारान्तरं बुद्धिरध्यवसायं करोतीत्यर्थः। अहंकारव्यापारश्चाभिमननमिहानुक्तोपि बुद्धिव्यापारेणैव सूचितो ज्ञेयः। बुद्धिर्हि त्यजाम्येनमुपाददयामीति वाऽध्यवसायं कुर्वती अहङ्काराभिमत एव विषये भवति तेन बुद्धिव्यापारेणंवाहङ्कारव्यापारोऽपि गृह्यते। बुद्धौ हि सर्वकरणव्यापारार्पणं भवति। यदुक्तम्—एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणागुणविशेषाः। कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति।—सां० का ३६ च० शा० १।२१ पर चक्रपाणि

१. परं खादीन्यहंकारादुत्पद्यन्ते यथाक्रमम्।—च० शा० १।६६

२. अहंकारात् खादीनि····।—का सं० शा० ४

३. '····स (अहंकार) त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति। तत्रवैकारिकादहंकारात् तैजससहायात् तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाव्युत्पद्यन्ते, भूतादेरपि तैजससहायात् तल्लक्षणान्येव पंचतन्मात्राव्युत्पद्यन्ते····। तेभ्यो भूतानि व्योमानिलजलोर्व्यः।
—सु० शा० १।५

महाभूतोत्पत्ति

अभी तक किये गये विवेचन से सृष्ट्युत्पत्ति का यह क्रम निश्चित हुआ—अव्यक्त से महत्तत्व की उत्पत्ति होती है महत्तत्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार से पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है तथा पंचतन्मात्राओं से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। ये महाभूत पाँच हैं—आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी। इनके गुण हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध। इनमें आकाशादि में केवल एक गुण शब्द होता है। परवर्त्ती भूतों में गुण बढ़ते हैं। पूर्वभूत और उनके गुण परवर्ती भूतों में अनुवर्तित होते हैं।[२]

इन महाभूतों की उत्पत्ति में यह तथ्य विशेष महत्वपूर्ण है कि एक महाभूत से क्रमशः अन्य महाभूत की उत्पत्ति होती है। तथा अपने नैसर्गिक गुण के अतिरिक्त उसमें पहले वाले महाभूत के गुण संक्रमित होते जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि के आदि में प्रथम आकाश महाभूत स्वयंसिद्ध रहता है। वह नित्य और विभु (व्यापक) होने से विनाश को प्राप्त नहीं होता। आकाश का नैसर्गिक गुण शब्द है। जिस प्रकार आकाश को नित्य माना जाता है उसी प्रकार उसका नैसर्गिक गुण शब्द भी नित्य होता है। जिस समय केवल आकाश वर्तमान रहता है उस समय केवल एक गुण शब्द ही पाया जाता है। उसके बाद जब आकाश के संयोग से वायु की उत्पत्ति होती है[३] तो उस वायु में उसका अपना नैसर्गिक गुण स्पर्श तो विद्यमान रहता ही है किन्तु उसके साथ जिस आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है उस आकाश का शब्द

---

१. (i) जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्ध्याहमितिमन्यते। परं खादीन्यहङ्कारादुत्पद्यते यथाक्रमम् ॥—च० शा० १।६६

अर्थात अव्यक्त से बुद्धि, बुद्धि से अहंकार तत्व की उत्पत्ति होती है। इसके बाद यथाक्रम से खादि अर्थात पंच सूक्ष्मभूतों की उत्पत्ति होती है। इन सूक्ष्म भूतों को तन्मात्रा भी कहते हैं। पंच तन्मात्राओं से महाभूत उत्पन्न होते हैं। पाँच महाभूतों से एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है।

(ii) का० स० शा० ४

२. महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धाश्च तद्गुणाः।
तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे-परे।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥—च० शा० १।२७-२८

३. आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः (पृथिवीः अद्भ्यः।—तैत्ति उ० २। १।१)

गुण भी आ जाता है। इस प्रकार वायु में शब्द तथा स्पर्श ये दो गुण रहते हैं। इसके बाद जब वायु से अग्नि की उत्पत्ति होती है तो उसमें अग्नि का अपना नैसर्गिक गुण रूप तो होता ही है, इसके अतिरिक्त पूर्ववर्ती आकाश तथा वायु के गुण क्रमशः शब्द तथा स्पर्श भी उसमें रहते हैं। इस प्रकार अग्नि में शब्द, स्पर्श तथा रूप ये तीन गुण रहते हैं। तत्पश्चात् अग्नि से जल महाभूत समुत्पन्न होता है तब जल में उसका अपना नैसर्गिक गुण 'रस' तो विद्यमान रहता ही है इसके अतिरिक्त पूर्ववर्ती महाभूत आकाश, वायु तथा अग्नि के गुण भी अवस्थित रहते हैं। जल महाभूत क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस इन चार गुणों से समन्वित रहता है। इसके पश्चात् जल से सबसे अन्त में पृथ्वी महाभूत की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी का अपना नैसर्गिक गुण 'गन्ध' है जो उसमें सर्वदा विद्यमान रहता है किन्तु इसके अतिरिक्त उसमें पूर्ववर्ती महाभूत आकाश, वायु, अग्नि तथा जल के क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस गुण भी रहते हैं। इस पृथ्वी में अपने नैसर्गिक गुण गन्ध के साथ अन्य चारों महाभूतों के गुण विद्यमान रहने से उसमें पांच गुण हो जाते हैं।

इस प्रकार महाभूतों में पहला महाभूत आकाश एक गुण वाला है अर्थात् आकाश, में केवल एक गुण शब्द विद्यमान रहता है। उसके बाद पिछले-पिछले महाभूत में अपने से पूर्व-पूर्व महाभूत के गुणों के अनुप्रवेश से क्रमशः गुण की वृद्धि होती जाती है। गुणी अर्थात महाभूत में क्रमानुसार पूर्व में रहने वाले महाभूत और उनके गुणों का अनुप्रवेश माना जाता है।

भूतानुप्रवेशजन्य गुणवृद्धि क्रम को इस प्रकार समझा जा सकता है—

आकाश—शब्द
वायु—शब्द, स्पर्श
अग्नि—शब्द, स्पर्श, रूप
जल—शब्द, स्पर्श, रूप, रस
पृथ्वी—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध

महर्षि सुश्रुत भी इसी मत से सहमत हैं[1]। महर्षि सुश्रुत कहते हैं पृथ्वी आदि

१. अन्योन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्।—सु० शा० १।२१
तुलनीय—(i) तत्र शब्दगुणकमाकाशं मारुते प्रविष्टं, शब्दस्पर्शगुणत्वान्मारुतस्य आकाशमारुतौ तेजसि प्रविष्टौ, शब्दस्पर्शरूपगुणत्वात्तेजसः, आकाशमरुत्तेजस्तोयानिपृथिव्यामनुप्रविष्टानि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणत्वात् पृथिव्याः, एवं व्योमानिलानलजलोर्वीणां परस्परमनुप्रवेशकानुप्रवेश्यत्वेनावस्थितानामन्योन्यानुप्रविष्टत्वमुक्तम्।—डल्हण

महाभूत तन्मय अर्थात मूल प्रकृतिमय है।[1] उस मूल प्रकृति से ही अवान्तररूपेण पांच महाभूतों का उत्पत्ति होती है। इसीलिए पाँचो महाभूतों को मूल प्रकृति का परिणाम या विकार कहा गया है। प्रकृति के अन्य परिणामों या विकारों की भाँति ये पाँच महाभूत भी तद्‌गुणात्मक (त्रिगुणात्मक सत्व, रज, तम) इन तीन गुणों से युक्त होते हैं उन्हीं महाभूतों से उन्हीं महाभूतों वाला यह समस्त भूतग्राम उत्पन्न होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि तीनों सत्व, रज, तम गुणों से युक्त महाभूतों में जिस गुण या गुणों की अधिकता होती है उन्हीं गुणों के अनुसार उन महाभूतों में अपने-अपने विशेष धर्म तथा कर्म होते हैं। एतद्‌विध पांच महाभूतों के संयोग से ही विभिन्न गुण धर्मा वाले स्थावर व जंगम समस्त द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। महाभूतों में जो गुरुत्व, स्थिरत्व, उष्णत्व, चलत्व आदि गुण होते हैं वे ही गुण स्थावर जंगम द्रव्यों में भी होते हैं। इसका विचार आगे यथास्थान किया जायेगा। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन आयुर्वेद में मात्र चिकित्सा की दृष्टि से किया गया है।

महाभूतों में सत्वादि गुण

यद्यपि आकाशादि पाँचों महाभूतों में सत्व, रज, तम तीनों गुण होते हैं तथापि

(ii) आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भी ऐसा ही कहा—

'तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणं, शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद्‌वायुः-शब्दस्पर्शगुणः, शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद्‌रुपतन्मात्रात्तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणं, शब्द-स्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद्‌रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः, शब्दस्पर्शरूपरस तन्मात्रसहिताद् गन्धमात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणाः पृथिवी जायते।'

—सां० का० २२

(iii) एकैकेन शब्दादिगुणेन उत्तरे उत्तरे भूते परिवृद्धा एकोत्तरपरिवृद्धाः। तत्रोत्तरे भूते शब्दादयो गुणाः पूर्वाभूतानुप्रवेशकृताः, शब्दादयस्त्वाकाशादीनां यथाक्रमं नैसर्गिकाः।

तुलनीय—काश्यपसंहिता में कहा गया है—जिस प्रकार लकड़ी में अग्नि तथा तिलों में तेल होता है, उसी प्रकार से ये पंचमहाभूत भी परस्पर एकदूसरे के आश्रित तथा एक दूसरे के गुणों वाले होते हैं—अन्योन्यसंश्रयाण्याहुरन्योन्यगुण-वन्ति च महाभूतानि दृश्यानि दार्वग्नितिलतैलवत्।—का० शा० ७६

१. तन्मयान्येव भूतानि तद्‌गुणान्येव चादिशेत्।
तैश्च तल्लक्षणः कृत्स्नो भूतग्रामो व्यजनत्।
तस्योपयोगोऽभिहितश्चिकित्सां प्रति सर्वदा।—सु० शा० १।१२१३

प्रत्येक में एक दो गुण अधिक होते हैं। यह अधिक गुण ही प्रत्येक महाभूत की अपनी-अपनी विशेषता, अपने विशिष्ट गुण कर्म का कारण होता है।

आकाश में सत्वगुण अधिक होता है क्योंकि वह प्रकाशक है यह विषयों का ज्ञान कराने में सहायक होता है। वायु में रजोगुण की अधिकता होती है क्योंकि वह वह (चंचल तथा चेष्टाओं का कारणभूत) होता है। अग्नि या तेज में सत्व तथा रज का अधिक्य होता है क्योंकि यह प्रकाशक और चल होता है। जल में सत्व तथा तम की अधिकता होती है क्योंकि जल स्वच्छ प्रकाशक गुरु तथा आवरक होता है। पृथिवी में तमोगुण का बाहुल्य होता है इस कारण वह अत्यन्त आवरक होती है।[1]

महाभूतों के लक्षण एवं गुण

चिकित्सा की दृष्टि से महाभूतों का आयुर्वेद में विशेष महत्व होने से महाभूतों के संबंध में आयुर्वेद ने अन्य दर्शनों की अपेक्षा न रखते हुए स्वतन्त्र दृष्टिकोण अपनाया है। अतः आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से महाभूतों का लक्षण व उनके गुणों का विवेचन अपेक्षित हैं। इन महाभूतों का लक्षण निरूपण दो प्रकार से किया जा सकता है—(१) साधारण, (२) असाधारण।

(१) साधारण—आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी ये पांच महाभूत होते हैं तथा इन महाभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये उनके लक्षण प्रतिपादक क्रमशः पाँच गुण होते हैं। इन्हीं गुणों के आधार पर महाभूतों का ज्ञान होता है। ये गुण महाभूतों के नैसर्गिक गुण कहलाते हैं।[2]

(२) असाधारण—इस साधारण लक्षण के अतिरिक्त महाभूतों के असाधारण लक्षण भी हैं जो उनके भौतिक गुणों पर आधारित है। जैसे पृथ्वी का खरत्व (खुरदुरापन) जल का द्रवत्व (पतलापन) वायु का चलत्व (गतिशीलता), अग्नि का उष्णत्व

---

१. (i) तत्र सत्वबहुलमाकाशं, रजोबहुलोवायुः, सत्वरजोबहुलोऽग्निः, सत्वतमोबहुला आपः तमोबहुला पृथिवीति।—सु० शा० १।२०

(ii) सत्वबहुलामाकाशं प्रकाशकत्वात्, रजोबहुलो वायुश्चलत्वात्, सत्वरजोबहुलोऽग्निः प्रकाशकत्वाच्चलत्वाच्च, सत्वतमोबहुलो आपः स्वच्छत्वात् प्रकाशकत्वाद्गुरुत्वादावरणत्वाच्च, तमोबहुला पृथिवी अत्यन्तावरकत्वात्।

—सु० शा० १।२० पर डल्हण

२. शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः।—च० शा० १।२७

(गरम होना), तथा आकाश का अप्रतिघात (गति में बाधक न होना तथा स्पर्श न होना) ये महाभूतों के विशेष चिह्न होते हैं।[1]

महाभूतों के साधारण गुण दार्शनिक दृष्टि से एवं असाधारण गुण चिकित्सा की दृष्टि से उपयोगी व महत्वपूर्ण है। साधारण गुणों की तुलना में असाधारण गुणों का वैशिष्ट्य यह है कि असाधारण-गुण स्पर्शेन्द्रियगोचर होते हैं।[2]

यहाँ पर महाभूतों के जिन असाधारण लक्षणों का निर्देश किया गया है उनमें पृथ्वी का खरत्व, जल का द्रवत्व, वायु का चलत्व तथा अग्नि का उष्णत्व का ज्ञान त्वगिन्द्रिय से हो जाता है। परन्तु आकाश के अप्रतिघात या स्पर्श के अभाव का ज्ञान त्वचा द्वारा कैसे सम्भव है? इस प्रश्न के उत्तर में उपलब्ध प्रमाण के आधार पर यह सिद्धान्त प्रतिपादित है कि जिन इन्द्रियों के द्वारा जिसके भाव का प्रत्यक्ष होता है उन्हीं इन्द्रियों से उसके अभाव का ज्ञान भी होता है। जैसे किसी अग्नि-संतप्त वस्तु का स्पर्श करने पर त्वचा द्वारा उसकी उष्णता का ज्ञान होता है। उसके बाद किसी शीतल वस्तु का स्पर्श होने पर त्वचा द्वारा उस वस्तु में उष्णता के अभाव का ज्ञान भी होता है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति की आँखें बन्द कर उसे आगे बढ़ने के लिए कहा जाय तथा बीच में किसी वस्तु के आने पर उसे ज्ञान होगा कि प्रतिघात है। किन्तु वह वस्तु वहाँ से हटा लेने पर उस प्रतिघात के अभाव का ज्ञान भी उसे स्पर्श द्वारा ही होगा। इसी प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा किसी वस्तु के प्रतिघात का ज्ञान होता है तो उसी प्रतिघात के अभाव का ज्ञान भी स्पर्शेन्द्रिय द्वारा होता है। आकाश का प्रतिघात न होना ही उसका विशेष लक्षण है, जिसका ज्ञान स्पर्शेन्द्रिय से होता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि महाभूतों का त्वाच-प्रत्यक्ष होता है।

महाभूतों के लक्षणात्मक गुण विवेचन के सन्दर्भ में काश्यपसंहिताकार का कहना है—'आकाश का लक्षण अतिप्रतिषेध (रुकावट न होना है) वायु का लक्षण चलन, अग्नि का लक्षण उष्णता, जल का लक्षण द्रवत्व, पृथिवी का लक्षण स्थिरता है[3]।

---

१. खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्।
आकाशस्याप्रतिघातो दृष्टं लिंग यथाक्रमम्॥—च० शा० १।२९

२. लक्षण सर्वमेवैतत् स्पर्शनेन्द्रियगोचरम्।
स्पर्शनेन्द्रियः स्पर्शो हि सविपर्ययः॥—च० शा० १।३०

३. खस्याप्रतिषेधो लिंग, वायोश्चलनं, तेजस् औष्ण्यं, अपां द्रवत्वं, पृथिव्यां स्थैर्यम्।
—का० सं० शा०

यहाँ पर अन्य लक्षण तो पूर्ववत् ही निरूपित किये गये हैं। केवल पृथिवी का लक्षण खरत्व के स्थान पर स्थिरता बताया गया है। यद्यपि स्थिरता गुण पृथ्वी का गुण है किन्तु यह त्वाचप्रत्यक्ष न होने से इसे विशेष लक्षणों में नहीं गिना गया।

महाभूतों के निरूपण के प्रसंग में एक बहुत महत्वपूर्ण तथ्य की चर्चा करना आवश्यक है। चरकसंहिताकार का कथन है—अर्थाः शब्दादयो ज्ञेयाः गोचराः विषयाः गुणाः (शा० १।३१) इस श्लोकार्ध का अर्थ है—'आकाशादि के गुण शब्दादि, अर्थ, ज्ञेय, गोचर तथा विषय भी कहलाते हैं।' परन्तु चक्रपाणि ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'आकाशादि के जो गुणविशेष शब्दादि हैं, वे जब 'अर्थ' शब्द के द्वारा कहे जाते हैं तो उन्हें आकाशादि का स्थूल रूप समझना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि (सूक्ष्म) आकाश का (स्थूल) परिणाम ही शब्द है, (सूक्ष्म) वात का (स्थूल) परिणाम स्पर्श है। शब्दादि के ग्रहण से जो आकाशादि का ग्रहण किया जाता है, वह शब्दादि के आकाशादि का परिणाम होने से उचित ही है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि श्रोत्रेन्द्रिय से जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब वायु और स्पर्श है इत्यादि।[1] चक्रपाणि की यह व्याख्या अद्वैत वेदान्त के अनुकूल है। सदानन्दयोगीन्द्र के वेदान्तसार में आकाशादि सूक्ष्म महाभूतों को तन्मात्र तथा अपंचीकृत कहा गया है।[2] इसके अनन्तर जब पंचीकरण की प्रक्रिया के द्वारा प्रत्येक महाभूत पंचात्मक होकर स्थूलभाव को प्राप्त करता है, उस समय आकाश में शब्द, वायु में शब्द तथा स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध स्फुटतया अभिव्यक्त होते हैं।[3]

---

१. अर्थानाह-अर्थाः इत्यादि। 'अर्थ' शब्देन तु ये शब्दादयोऽभिधीयन्ते गुणविशेषास्ते स्थूलखादिरूपा एव ज्ञेयाः। तेन आकाशपरिणाम एव शब्दः, वातपरिणामः स्पर्श इत्यादि ज्ञेयम्। शब्दादिग्रहणेनाकाशादिग्रहणं यत्, तत् आकाशादिपरिणामाः एव शब्दादयः इतियुक्तमेव। एतेन यच्छोत्रग्राह्यं तत्सर्वमाकाशं शब्दश्च। यत्स्पर्शनेन गृह्यते तत्सर्वं वायुः स्पर्शश्चेत्यादि ज्ञेयम्।

—च० शा० १।३१ पर चक्रपाणि

२. एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपंचीकृतानि चोच्यन्ते।

—सदानन्दकृतोवेदान्तसारः

३. तदानीमाकाशे शब्दोऽभिव्यज्यते वायौशब्दस्पर्शावग्नौ शब्दस्पर्शरूपाण्यप्सुशब्दस्पर्श-रूपरसाः पृथिव्या शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च।—वही

यह शब्दादि की अभिव्यक्ति वस्तुतः आकाशादि का स्थूल परिणाम ही है।[1]

परन्तु सांख्य दर्शन का सिद्धान्त इसके विपरीत प्रतीत होता है। वहाँ पर स्थूलभूतों की उत्पत्ति शब्दादि सूक्ष्म तन्मात्राओं से बतायी गयी है। ई० कृष्ण की सांख्यकारिका में कहा गया है—'शब्दादि तन्मात्राएँ अविशेष तथा सूक्ष्म हैं। इन पाँच तन्मात्राओं से आकाशादि पाँच भूत उत्पन्न होते हैं। ये भूत विशेष अर्थात स्थूल हैं, तथा शान्त (सुख रूप), घोर (दुःखरूप) तथा मूढ़ (मोहरूप) माने गये हैं।'[2]

वस्तुतः तत्त्वदृष्टि से सांख्य तथा वेदान्त के एतद्विषयक सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म से स्थूल की उत्पत्ति दोनों मानते हैं। सांख्य सूक्ष्म शब्दादि तन्मात्राओं से स्थूल आकाशादि की उत्पत्ति मानता है और अद्वैतवेदान्त सूक्ष्म आकाशादि तन्मात्राओं से स्थूल शब्दादि की उत्पत्ति मानता है। केवल शब्दों का हेर फेर है, तत्त्व में कोई अन्तर नहीं है। चरकमुनि तथा उनके अनुयायी चक्रपाणि ने दोनों मतों का समन्वय कर दिया है। सूक्ष्म आकाशादि महाभूतों को सूक्ष्म शब्दादि भी कहा जा सकता है तथा स्थूल आकाशादि को स्थूल शब्दादि भी कहा जा सकता है। 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में आचार्य वाचस्पति मिश्र भी इसका समर्थन करते हुए पाये जाते हैं—विशेष हैं—स्थूल शब्दादि, जो पृथिव्यादिरूप हैं, तथा शान्त और मूढ़स्वरूप हैं। अविशेष है—तन्मात्राएं अर्थात सूक्ष्म शब्दादि। 'तन्मात्र' शब्द में 'मात्र' पद से स्थूल भूतों का व्यावर्त्तन करते हैं। उर्ध्वरेताओं तथा योगियों की श्रवणेन्द्रिय, शब्दतन्मात्रा अर्थात सूक्ष्म शब्द तथा स्थूल शब्द दोनों ही प्रकार के शब्दों को ग्रहण करती है, किन्तु हम लोगों की श्रवणेन्द्रिय केवल स्थूल शब्द को ही ग्रहण करती है। इससे सिद्ध होता है कि शब्दादि वस्तुतः आकाशादि रूप हैं। इनमें कार्यकारण, गुणगुणी अथवा सूक्ष्म-स्थूल सम्बन्ध मानने पर अभेद की ही सिद्धि होती है।

---

१. अद्वैतवेदान्त में परिणाम शब्द भी विवर्त्त के ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। सर्वज्ञात्ममुनि का कथन है—'विवर्त्तवादस्य हि पूर्वभूमिवेदान्तवादे परिणामवादः (संक्षेपशारीरिक ११।६१), अर्थात् वेदान्त सिद्धान्त में परिणामवाद विवर्त्तवाद की पूर्वभूमि है।

२. विशेषाः—स्थूलाः शब्दादयः शान्तघोरमूढ़रूपाः पृथिव्यादिरूपाः, अविशेषाः तन्मात्राणि सूक्ष्माः शब्दादयः। मात्रग्रहणेन स्थूलभूतमपाकरोति।
....तत्रोर्ध्वरतेसां योगिनां च श्रोत्रं शब्दतन्मात्रविषयं स्थूलशब्दविषयं च, अस्मदादीनां तु स्थूलशब्दविषयमेव।—सां० त० कौ० ३४

इन्द्रियों की उत्पत्ति

इन महाभूतों से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इन्द्रियां मानवशरीर के अत्यन्त आवश्यक एवं उपयोगी अवयव हैं। भौतिकवादियों के अनुसार हमारे समस्त ज्ञान विज्ञान की ये इन्द्रियां ही आधार हैं। यहाँ तक कि संसार की तथा स्वयं अपनी संकल्पनाएं भी इन्द्रियों का प्रतिफल हैं।[1] समस्त प्राणियों के शरीर में पहुँचे हुए पाँच भौतिक आहार के सारभूत रस से रसरक्तादि सात धातुएं उत्पन्न होती हैं। ये धातुएं भी आहारजन्य होने से पाँचभौतिक होती हैं। इन सारभूत पाँचभौतिक धातुओं मे भी प्रसादरूप अर्थात अत्यन्त निर्मल जो पंचभूतांश होते हैं, उन्हीं से शरीर के भीतर इन्द्रियों का आविर्भाव होता है। इस प्रकार इन्द्रियों के आरम्भक द्रव्य रसादि धातुओं के प्रसादांशरूप आकाशादि पंचभूत ही सिद्ध होते हैं।

महाभूतों से उत्पन्न होने वाली ये इन्द्रियाँ दस हैं।[2] मन ग्यारहवीं इन्द्रिय है।[3] इन्द्रियों का वर्गीकरण ज्ञान तथा कर्म के अनुसार है; स्थानानुसार नहीं। उनमें चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना तथा स्पर्शन ये ज्ञानेन्द्रियाँ है।[4] रूप तथा रूपवान् द्रव्य का प्रकाशन करने वाली इन्द्रिय चक्षु कहलाती है। जिसके द्वारा सुना जाता है उसे श्रोत्र, जिसके द्वारा सूंघा जाता है उसे घ्राण, जिसके द्वारा छः रसों का आस्वादन किया जाता है उसे रसना तथा जिसके द्वारा स्पर्श किया जाता है उसे स्पर्शेन्द्रिय कहा जाता है। इन ज्ञानेन्द्रियों के शरीरगत अधिष्ठान (आश्रय) इस प्रकार बताये गये हैं—इन्द्रियाधिष्ठान पाँच हैं दोनों आँखें, दोनों कान, दोनों नासापुट, जिह्वा तथा त्वचा।[5] यद्यपि आँख, कान, तथा नासापुटों की संख्या दो-दो हैं तथापि एक समान ही इन्द्रिय का अधिष्ठान होने के कारण इनको एक-एक ही मानना युक्तिसंगत है। तभी इन्द्रियाधिष्ठानों की संख्या पाँच सिद्ध हो सकेगी। अन्यथा यह संख्या आठ हो जायेगी। आँख, कान इन्द्रियाँ नहीं प्रत्युत उनको निवासभूमियाँ हैं। इन्द्रियार्थ

---

१. गिलफोर्ड-जनरल साइकालोजी, पृष्ठ २२२

२. बुद्धीन्द्रियाणि पंचैव पंच कर्मेन्द्रियाणि च।—च० शा० १।६४

३. तद्यथा श्रोत्रत्वक्जिह्वाघ्राण वाग्हस्तोपस्थपायुपाद मनांसीति।
तत्रपूर्वाणि पंच बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पंच कर्मेन्द्रियाणि। उभयात्मकः मनः।
—सु० शा० १।६

४. तत्र चक्षु श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पंचेन्द्रियाणि।—च० सू० ८।९

५. पंचेन्द्रियाधिष्ठानि—अक्षिणी, कर्णौ, नासिके, जिह्वा, त्वक् इति।
—च० सू० ८।१०

पाँच है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।[1] इनका कार्य इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—

ज्ञानेन्द्रियाँ

नाम	कार्य
श्रोत्र	शब्दग्रहण
त्वक्	स्पर्शग्रहण
चक्षु	रूपग्रहण
जिह्वा	रसग्रहण
घ्राण	गन्धग्रहण

ऊपर प्रस्तुत की गयी तालिका से स्पष्ट है कि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय अपने नियत विषय का ग्रहण करने के लिए सीमित व प्रतिबन्धित है।

कर्मेन्द्रियों की संख्या भी पांच होती है—दोनों हाथ, दोनों पैर, पायु, गुदा, उपस्थ, जिह्वा।[2] यहाँ पर भी दोनों हाथ, दोनों पैरों को एक-एक इन्द्रिय माना गया है, क्योंकि ये दोनों एक ही प्रकार के कर्म करते हैं। इन इन्द्रियों के कर्म को इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है[3]—

कर्मेन्द्रियाँ

नाम	कार्य
वाक्	वचन
पाणि	आदान (ग्रहण)
पाद	विहरण (गमनकर्म)
पायु	मल त्याग (विसर्ग)
उपस्थ	आनन्द (मैथुन-शुक्र एवं मूत्र त्याग)

---

१. तत्र बुद्धीन्द्रियाणाँ शब्दादयो विषयः·····।—सु० शा० १।१८

२. पंचकर्मेन्द्रियाणि तद्यथा हस्तौ पादौ पायुरुपस्थौ जिह्वा चेति।—च० शा० ७।७

३. हस्तौ पादौ गुदोपस्थे जिह्वेन्द्रियमथापि वा। कर्मेन्द्रियाणि पंचैव, पादौ गमनकर्मणि। पायूपस्थौ विसर्गार्थं हस्तौ ग्रहणधारणे। जिह्वा वागिन्द्रियं·······।

—च० शा० १।२५-२६

तुलनीय—कर्मेन्द्रियाणां यथासंख्यं वचनादानन्द विसर्ग विहरणानि।

—सु० शा० १।१८

उपर्युक्त दस प्रकार के विषय पृथक्-पृथक् रूप से एक-एक इन्द्रिय के विषय हैं। इन विषयों का क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से सीमित नहीं है। अतः इस दृष्टि से इन्द्रियों का विषय क्षेत्र भी सीमित नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक विषय के क्षेत्र का विस्तार इतना अधिक है कि उसे शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता। क्योंकि सुनने के लिए अनेक प्रकार के शब्द हैं, स्पर्श के लिए अनेक विषय हैं। देखने के लिए अनेक रूपवान पदार्थ हैं। रसास्वादन के लिए विभिन्न रस वाले अनेक द्रव्य हैं। गन्ध विषय से युक्त अनेक द्रव्य हैं इसी प्रकार अनेक कर्म हैं जो कर्मेन्द्रियों से जानने योग्य हैं। इस प्रकार इन्द्रियों का विषय अत्यन्त विस्तृत है।

उभयेन्द्रिय

यह संख्या में एक है। इसे मन कहा जाता है। यह ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों में अधिष्ठित होकर कर्म करता है इसलिए वह उभयात्मक है। इसका विशेष विवरण आगे के अध्याय में किया जायेगा।

इन्द्रियों का भौतिकत्व

आयुर्वेद दर्शन यद्यपि तत्त्वमीमांसा में सांख्य दर्शन से साम्य रखता है परन्तु आयुर्वेद का इन्द्रियोत्पत्ति सिद्धान्त में सांख्य से मतभेद है। इस सम्बन्ध में आयुर्वेद की अपनी विशिष्ट प्रणाली है। सांख्य में तो इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानी गयी है। ईश्वर कृष्ण ने 'सात्विकः एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्' इत्यादि पच्चीसवीं कारिका में तथा 'सात्विकमेकादशम्' इत्यादि (सा० सू० २।१८) में भी इन्द्रियों की उत्पत्ति सात्विक अहंकार से मानी गयी है। परन्तु आयुर्वेद में इन्द्रियों को आहंकारिक नहीं माना गया है। आयुर्वेद के अनुसार तो इन्द्रियों की उत्पत्ति पंचमहाभूतों से होती है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय में एक-एक महाभूत की अधिकता होती है जिससे वह इन्द्रिय अपने महाभूत के अनुसार ही विषय को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। महर्षि चरक का कथन है—'जिन इन्द्रियों से ज्ञान प्रवृत्त होता है, वे श्रोतादि पाँच ज्ञानेन्द्रियां हैं। पाँचभौतिक होने पर भी वे आकाशादि भूतों में से क्रमशः एक-एक भूत की अधिकता से युक्त होती हैं तथा उनके व्यापार से उनका अनुमान किया जाता है।[1] अभिप्राय यह है कि सभी इन्द्रियां पांचभौतिक हैं तथापि

---

१. एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि तु। पंचकर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिः प्रवर्तते।—च० शा० १।२४

चक्षु में तेज की मात्रा अधिक होती है, श्रोत्र में आकाश, त्वक् में वायु, रसना में जल, घ्राण में पृथ्वी की मात्रा अधिक होती है। यही तथ्य एक अन्य स्थल में कहा गया है 'अनुमान के द्वारा ग्राह्य ये इन्द्रियाँ यद्यपि महाभूतों के परिणाम विशेष का समुदायरूप है तथापि चक्षु में तेज का, श्रोत्र में आकाश का, घ्राण में पृथ्वी का, रसना में जल का तथा स्पर्शन में वायु का विशेष आधिक्य सिद्ध होता है।[1] इन इन्द्रियों में जो इन्द्रिय जिस भूत की अधिकता से युक्त होती है वह इन्द्रिय तद्भूतात्मक अर्थ को ही ग्रहण करती है एवं उसी के अनुसार उसका व्यपदेश एवं अभिधान, नामकरण होता है जैसे तेज की अधिकता से चक्षु को तैजस्, पृथ्वी की अधिकता से घ्राण को पार्थिव, वायु की अधिकता से त्वक् को वायव्य, आकाश की अधिकता से श्रोत्र को नाभस तथा अप (जल) की अधिकता से रसना को आप्य कहा जाता है। इसके अतिरिक्त जिस महाभूत की प्रधानता होती है, वह उसी महाभूत के अनुरूप विषय को ग्रहण करने में समर्थ होती है जैसे श्रोत्र में आकाश महाभूत की अधिकता होने के कारण श्रोत्रेन्द्रिय केवल आकाश महाभूत के प्रत्यात्मनियत गुण शब्द को ही ग्रहण करने में समर्थ होती है, अन्य का नहीं। इसी प्रकार त्वगिन्द्रिय का निर्माण (उत्पत्ति) वायु

एकैकाधिकपदेन पंचापि पाञ्चभौतिकानि, परं चक्षुषि तेजोऽधिकामित्याद्युक्तं सूचयति। कर्मानुमेयानीति कार्य्यानुमेयानि, कार्यं चक्षुर्बुद्ध्यादि। यद्यपि च सांख्ये आहंकारिकाणीन्द्रियाणि, यदुक्तं—"सात्विकः एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्।" (सां० का २५) इति, तथापि मतभेदाद् भौतिकत्वमिन्द्रियाणां ज्ञेयम्। किंवा, औपचारिकमेतद् भौतिकत्वमिन्द्रियाणां ज्ञेयम्। उपचारबीजं च यद्गुणभूयिष्ठं यदिन्द्रियं गृहणाति, तत्तद्भूयिष्ठमित्युच्यते। चक्षुस्तेजो गृहणाति तेन तैजसमुच्यते इत्यादि ज्ञेयम्।—चक्रपाणि

१. तत्रानुमानगम्यानां पंचमहाभूतविकारसमुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि, खं श्रोत्रे, घ्राणे क्षितिः आपो रसने, स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपपद्यते।
—च० सू० ८।१४

संप्रति वैद्यकसिद्धान्तेन पाञ्चभौतिकानामपि चक्षुरादीनां तथा तैजसात्वादिव्यपदेशो भवति तदाह तत्रेत्यादि। अनुमानेन प्रतीयन्ते इत्यनुमान गम्यानि। अनुमानं च चक्षुर्बुद्ध्यादयः करणकार्या, क्रियात्वात्, छिदिक्रियावत्। महाभूतानि खादीनि तेषां विकारः परिणामविशेष, समुदायो मेलकः, स आत्मासमवायिकारणं येषा तानि। विशेषेणाधिकत्वेन। एतदुक्तं भवति-पाञ्चभौतिकत्वेऽपि तेजोऽधिकत्वाच्चक्षुस्तैजसं व्यपदिश्यते, एवं घ्राणादिष्वपि पृथिव्याद्यधिकत्वेन पृथिव्यधिकमित्याद्यवधार्यते।—चक्रपाणि

महाभूत के द्वारा होने के कारण वह केवल वायु महाभूत के प्रत्यात्मनियत गुण स्पर्श को ही ग्रहण करने में समर्थ है, चक्षु इन्द्रिय में तेज महाभूत की अभिव्यक्ति होने के कारण वह केवल तेज महाभूत के प्रत्यात्मनियत गुण को ही ग्रहण कर सकता है। रसनेन्द्रिय में अपमहाभूत को प्रधानता होने के कारण वह जल महाभूत के मुख्य गुण रस को ही ग्रहण करती है तथा पृथ्वी महाभूत से निर्मित होने वाली घ्राणेन्द्रिय केवल पृथ्वी महाभूत के मूलगुण गन्ध का ज्ञान कराने में ही समर्थ है। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय की रचना जिससे होती है उसी महाभूत से, महाभूत के गुण के अनुसार इन्द्रिय अपने विषय का ग्रहण कर उसका ज्ञान कराती है।

इन्द्रियों की पाँचभौतिकता सिद्ध करने के पश्चात् सुश्रुत के उन वचनों की चर्चा करना आवश्यक हो जाता है जब वे कहते हैं कि वैकारिक अहंकार से तैजस अहंकार की सहायता से ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है।[1] यहाँ पर हम देखते हैं कि सुश्रुत इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानते हैं। हम पहले ही यह कह चुके हैं कि सांख्य दर्शन भी इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानता है। परन्तु महर्षि सुश्रुत की उपरोक्त मान्यता आयुर्वेद में अमान्य है। सुश्रुत संहिता के टीकाकार डल्हण के वचनों से भी यह स्पष्ट होता है।[2]

भगवान् सुश्रुत की धारणा के मूल में या तो सुश्रुत की सांख्यसम्मतदार्शनिक-दृष्टिकोण के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति रही होगी या सांख्य सिद्धान्त में असीम निष्ठा। जिससे कि वे प्रमादवश बिना आयुर्वेदिक दृष्टि को ध्यान में रखे वे इन्द्रियों को आहंकारिक कह गये हैं। वस्तुतः उनके मत में कोई स्वारस्य नहीं है। क्योंकि यदि अहंकार ही समस्त इन्द्रियों का आरम्भक कारण है तो सभी इन्द्रियों को एकरूप होना चाहिए था। उन इन्द्रियों का भेदक हेतु क्या है जिसके कारण चक्षु ही रूप को ग्रहण कर पाता है, घ्राण नहीं। इस प्रश्न का समाधान न तो सुश्रुत ने किया है न ही सांख्य दर्शन ने। जबकि इन्द्रियों को भौतिक मानने से इसका समाधान अनायास हो जाता है। जिस इन्द्रिय में जिस भूत का प्राधान्य होता है वह इन्द्रिय उसी भूत के गुणविशेष को ग्रहण करती है इसकी चर्चा पहले ही की जा चुकी हैं। इन्द्रियों की भौतिकता के

१. तत्र वैकारिकादहंकारात् तैजससहायात् तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते।

—सु० शा० १।४

२. वैकारिकः सात्विकः तैजसो राजस। तत्र सात्विकादहंकाराद्राजसहायात् तमोमात्रयाऽनुविद्धादेकादशेन्द्रियाणि। तल्लक्षणानि प्रकाशलक्षणानि, सत्वस्य प्रकाशकत्वात्। तान्यहंकारादुत्पन्नान्याहंकारिकाणीति सांख्ये, वैद्यके तु भौतिकानि।

—डल्हण

सिद्धान्त पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि भौतिक मानने पर इन्द्रियों में प्रकाशकता कैसे सिद्ध हो सकेगी। यह आक्षेप उचित नहीं है क्योंकि जिस प्रकार अहंकार त्रिगुणात्मक है, उसी प्रकार आकाशादि पंचभूत भी त्रिगुणात्मक है। पंचभूत ही क्या आयुर्वेद में सारा विश्व ही त्रिगुणात्मक माना जाता है। जिस प्रकार त्रिगुणात्मक अहंकार के सत्वांश से प्रकाशक इन्द्रियों का आविर्भाव संभव है, उसी प्रकार त्रिगुणात्मक पंचभूतों के अपने पृथक्-पृथक् सत्वांश से इन्द्रियों का आविर्भाव मानने पर उनकी प्रकाशकता कैसे बाधित होगी। सत्वगुण का स्वभाव तो प्रत्येक देश, काल तथा अवस्था में प्रकाशक होना है तथा स्वभाव का व्यभिचार देखने में नहीं आता। अतः भूतगत सत्वांश की प्रकाशकता का व्याघात कैसे होगा ? इसके अलावा भूतों को केवल प्रकाश्य कहना भी अविचारित कथन है क्योंकि जिस प्रकार चक्षु प्रकाशक है उसी प्रकार तेज (अग्नि या उसका प्रकाश) भी प्रकाशक है जो कि एक भूत है। जैसे चक्षु के अभाव में उजाला किसी वस्तु को प्रकाशित नहीं कर सकता वैसे उजाले के अभाव में चक्षु भी किसी वस्तु को प्रकाशित नहीं कर सकता। इतना अवश्य है कि भूतों की अपेक्षा इन्द्रियों में प्रकाशकता अधिक पायी जाती है। इसका कारण यह है कि शरीरगत भौतिक आहार के प्रसादांश से उत्पन्न होने वाली सप्तधातुओं का भी प्रसाद रूप अत्यन्त निर्मल, सत्वमय जो भूतांश होता है, उससे इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है अतः उनमें अधिक प्रकाशकता होना स्वाभाविक है। इस प्रकार सुश्रुत का इन्द्रियोत्पत्ति संबंधी उपरोक्त सिद्धान्त उचित नहीं है। इस स्थल के अतिरिक्त एक अन्य स्थल में भगवान् सुश्रुत ने स्वयं यह स्वीकार किया है—इन्द्रियाँ भौतिक होती है। उनका कथन है—आयुर्वेद में इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियार्थ भी भौतिक ही वर्णित किये गये हैं।[१]

इन्द्रियों के भौतिकत्व में आयुर्वेदीय मत का पुनः समर्थन सुश्रुत के इस कथन से होता है—मनुष्य इन्द्रिय द्वारा अपने-अपने इन्द्रियार्थ को ही ग्रहण करता है। जिस इन्द्रिय का जो विषय है उस इन्द्रिय के द्वारा वह उसी विषय को ग्रहण करता है क्योंकि वे इन्द्रियार्थ तथा इन्द्रियाँ एक से ही (तुल्ययोनि) उत्पन्न होती हैं। अतः अन्य इन्द्रिय से अन्य विषय का ग्रहण नही किया जा सकता।' यही सिद्धान्त है।[२]

---

१. भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते, तथेन्द्रियार्थाः।—सु० शा० १।१८

२. इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः॥—सु० शा० १।१९

इन्द्रियाणामिन्द्रियार्थानां च पाञ्चभौतिकत्वेऽपि अस्य भूतस्य यत्र यत्रेन्द्रिय आधिक्यं तेनेन्द्रियेण तस्य तस्यैव गुणाः शब्दादयो गृह्यन्ते इति दर्शयितुमाह-

इस कथन में इन्द्रियों के पाँचभौतिकत्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इसका विचार निम्नलिखित तीन तथ्यों के आधार पर किया जा सकता है—

(१) जिस प्रकार पाँच प्रकार के अर्थों के लिए जैसे पाँच इन्द्रियाँ है वैसे पाँच इन्द्रियों के उत्पादक कारण पाँच उपादान कारण होते हैं। एक ही कारण से उत्पन्न होने पर पाँचों इन्द्रियों का स्वरूप एक समान ही होना चाहिए। यदि यह तथ्य ठीक होता तो एक ही इन्द्रिय से पाँचों प्रकार के इन्द्रियार्थों का ग्रहण होना चाहिए। तथा एकाध इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर अथवा न होने पर उसका कार्य अन्य इन्द्रियों से होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः यह निश्चित हुआ कि इन पाँचों इन्द्रियों के उपादान कारण पाँच भूत हैं।

(२) श्रोत्र केवल शब्द को ही ग्रहण कर सकता है। शब्देतर अन्य अर्थों को ग्रहण करने में वह असमर्थ होता है। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के संबंध में अनुभव है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियों का विषय ग्रहण कार्य नियमयुक्त होता है। यह कार्य तभी सम्भव है जब प्रत्येक इन्द्रिय की प्रकृति (योनिउपादान कारण) भिन्न-भिन्न हों। इसीलिए आयुर्वेद में प्रत्येक इन्द्रिय का उपादान कारण भिन्न-भिन्न अर्थात् एक-एक महाभूत माना गया है।

(३) यह स्पष्ट किया जा चुका है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी के गुण हैं। शब्द आकाशीय गुण है तथा उसका ग्रहण घ्राणेन्द्रिय द्वारा होता है। इससे यही अनुमान होता है कि शब्द और श्रोत्र, रूप और चक्षु, रस तथा जिह्वा, स्पर्श तथा त्वचा तथा गन्ध और घ्राण ये 'तुल्ययोनि' वाले होते हैं।

इतने विवेचन से यह सिद्धान्त स्थापित हो गया कि इन्द्रियों की उत्पत्ति

इन्द्रियेणेत्यादि। इन्द्रियेण चक्षुरादिना रूपादिकमात्मीयमात्मीयं मानव उपादत्ते। तद्यथा-चक्षुतैजसमेव रूपमादत्ते, पार्थिव घ्राणेन्द्रियं पार्थिवमेव गन्धमादत्ते, एवं शेषेष्वपि बोद्धव्यम्। नियतमात्मीयमेव कुत इत्याह—तुल्ययोनित्वादिति, एकभूत-हेतुत्वात्।—डल्हण

तुलनीय—तत्र यद्यदात्मकमिन्द्रियं विशेषात् तत्तदात्मकमेवार्थमनुगृह्णाति, तत्स्व-भावाद्विभुत्वाच्च।—च० सू० ८।१४

महाभूतों से ही होती है। वैशेषिक[1] तथा वेदान्त[2] में भी इन्द्रियों को भौतिक माना गया है।

तत्त्वों का वर्गीकरण

जिस प्रकार सांख्य दर्शन में प्रकृति से उत्पन्न होने वाले तत्त्वों का वर्गीकरण किया गया है उसी प्रकार संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों में तत्त्वों के वर्गीकरण का प्रयास किया गया है। सांख्य दर्शन में यह वर्गीकरण चार प्रकार से किया गया है—प्रथम-प्रकृति, द्वितीय-विकृति, तृतीय-प्रकृति तथा विकृति, चौथा-न प्रकृति न विकृति।[3] प्रकृति वह है जो दूसरे तत्व को उत्पन्न करने में कारण होता है। किन्तु स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होता। आदि मूल तत्व अव्यक्त को ही प्रकृति कहते हैं।

जो तत्व अन्य तत्वों को उत्पन्न करता है वह प्रकृति' और जो स्वयं दूसरे तत्वों से उत्पन्न होता है वह विकृति कहलाता है। अन्य तत्वों को उत्पन्न करने के कारण तथा स्वयं किसी अन्य तत्व से उत्पन्न होने के कारण उसे 'प्रकृति-विकृति' कहते हैं।

जो स्वयं दूसरे तत्वों से उत्पन्न होता है किन्तु स्वयं किसी अन्य तत्व को उत्पन्न करने में असमर्थ रहता है उसे विकार कहा जाता है।

स्वयं अनुत्पन्न होने से जो किसी की विकृति नहीं है तथा न ही किसी अन्य तत्व को उत्पन्न करने में जो किसी की प्रकृति नहीं है उसे 'न प्रकृति न विकृति' कहते हैं।

संस्कृत के चिकित्सा-ग्रन्थों में यह वर्गीकरण कुछ भिन्न रूप में प्राप्त होता है। सुश्रुताचार्य अव्यक्त को प्रकृति मानते हैं तथा स्वनिरूपित सृष्टिक्रम का अनुसरण करते हुए महत्, अहंकार तथा पंचतन्मात्र को भी प्रकृति मानते हैं। क्योंकि उनके अनुसार ये आठों तत्व अन्य तत्वों को उत्पन्न करते हैं। शेष ग्यारह इन्द्रियाँ तथा

---

१. 'भूयस्त्वाद् गन्धत्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रवृत्तिः।'
तथापस्तेजोवायुश्च रसरूपस्पर्शाविशेषात् ॥—वै० सू० ८।२।५-६
पृथिव्यादीनां पञ्चानामपि भूतत्वेन्द्रियप्रकृतित्वबाह्येकैकेन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्तानि ;—प्रशस्तपादभाष्य

२. सत्वांशैः पंचभिस्तेषां क्रमाद्धीन्द्रियपंचकम्।—पंचदशी १।१९
रजोऽशैः पंचभिस्तेषां क्रमात्कर्मेन्द्रियाणि तु।—पंचदशी १।२१

३. मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥

पाँच महाभूत बिकृति हैं क्योंकि ये किसी अन्य तत्व को उत्पन्न नहीं करते हैं। अतः ये केवल विकार मात्र हैं।[1] किसी की न प्रकृति तथा न किसी की विकृति-आत्मा तो निर्विवाद रूप से स्वीकृत है। इस प्रकार यह वर्गीकरण इस प्रकार हुआ—प्रकृति, विकृति, न प्रकृति न विकृति। परन्तु सुश्रुत के टीकाकार डल्हण कहते हैं कि महान्, अहंकार, पंचतन्मात्राएँ ये सात तत्व अन्य वस्तुओं के उत्पत्ति करने के कारण प्रकृति तो हैं ही साथ ही एक दूसरे के कार्य होने से विकृति भी है।[2] आचार्य के कथन का तात्पर्य यह है कि प्रकृति का विकार महान् है, महान् का विकार अहंकार है तथा अहंकार का विकार पंचतन्मात्र हैं। अतः ये तत्व प्रकृति के साथ ही साथ विकृति भी है। अतः आचार्य डल्हण को एक 'प्रकृति-विकृति' यह वर्गीकरण भी मान्य है।

चरकसंहिता में आठ प्रकृतियों की गणना करते समय महाभूतों को भी प्रकृति माना गया है। भगवान् आत्रेय कहते हैं, 'अव्यक्त (मूल प्रकृति), बुद्धि (महान्), अहंकार, तथा पांच महाभूतों के सूक्ष्म अंश यह आठ भूत प्रकृति कहे जाते हैं। विकार १६ होते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, स्पर्शन, चक्षु, रसना और घ्राण), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हस्त, पाद, गुदा, मेढ़, वाक्), मन के साथ पाँच अर्थ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) इन्हें विकार कहा जाता है।[3] महान्, अहंकार, महाभूतों के सूक्ष्म अंश इन सात पदार्थों को प्रकृति माना गया है। परन्तु जहाँ एक ओर ये सातों पदार्थ अपने-अपने कार्य द्रव्य (अपने से उत्पन्न होने वाले) को लक्ष्य में रखकर ये प्रकृति हैं वहीं दूसरी ओर अपने-अपने कारणद्रव्य से उत्पन्न होने के कारण विकृति भी हैं।[4] ऐसा चरकसंहिता के टीकाकार चक्रपाणि का भी मत है।[5] इस प्रकार ये सातों पदार्थों

---

१. अव्यक्तं महानहंकारः पंच तन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः, शेषाः षोडश विकाराः।
—सु० शा० १।६

२. तेन महदादयः सप्त कार्यत्वेन विकृतयोऽपि।—सु० शा० १।६ पर डल्हण

३. खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाष्टमः।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश।
बुद्धिन्द्रियाणि पंचैव पंच कर्मेन्द्रियाणि च।
समनस्काश्च पंचार्था विकारा इति संज्ञिताः॥—च० शा० १।६३।६४

४. आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान-देसाई, पृष्ठ ५५

५. बुद्ध्याद्यास्तु स्वकारणविकृतिरूपा अपि स्वकार्यापेक्षया प्रकृतिरूपा इह प्रकृतित्वेनोक्ताः।—च० शा० १।६३-६४ पर चक्रपाणि

'प्रकृति विकृति' हैं। किसी भी पदार्थ की 'न प्रकृति न विकृति' निर्विकार आत्मा को चरक संहिता में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। इस प्रकार से चरकसंहिता में भी प्रकृति, प्रकृति-विकृति, विकृति, न प्रकृति न विकृति-यह चार प्रकार का वर्गीकरण माना गया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि संस्कृत के चिकित्सा-ग्रन्थों में प्राप्त दार्शनिक तत्वों का चार प्रकार से विभाजन किया जा सकता है—(१) प्रकृति, (२) प्रकृति विकृति, (३) विकृति, (४) न प्रकृति न विकृति।

प्रकाशमान तेरह तत्त्वों का वर्णन

आयुर्वेदोक्त तत्त्वों में केवल तेरह तत्त्व को लेकर उनका विषय आधिभौतिक बताया गया है। इन तेरह तत्त्वों में ११ इन्द्रियाँ तथा महत् एवं अहंकार हैं। किन्तु ये स्वयं आध्यात्मिक हैं। उनके देवता भी भिन्न हैं। अब यहाँ यह शंका उठती है कि चौबीस तत्त्वों में से अव्यक्त, पंचतन्मात्रा तथा पंचमहाभूतों को क्यों छोड़ दिया गया? वे आध्यात्मिक हैं या नहीं? इनका न तो वर्णन ही किया गया न हां उनके देवता बताये गये। इसका उत्तर यह होगा कि चौबीस तत्वों में से बुद्धि, अहंकार और एकादश इन्द्रियाँ प्रकाशक होने से उनका वर्णन किया है। वे किस देवता की सहायता से प्रकाशक होती हैं इसका भी विवरण मिलता है। बुद्धि आदि शरीर में रहकर आत्मा के लिए उपयुक्त होने से आध्यात्मिक माने गये हैं। शेष तत्वों के प्रकाशक न होने के कारण उनका विषय नहीं बताया गया है। उनके बिना आत्मा को विषयों का ज्ञान होने के कारण वे आध्यात्मिक नहीं माने गये हैं विश्वरूप विष्णु के जिस भाग से जो देवता उत्पन्न हुए हैं, वे उस अंग के देवता माने जाते हैं जैसे बुद्धि का देवता ब्रह्मा, अहंकार का ईश्वर, मन का चन्द्रमा, श्रोत्र का दिशायें, चर्म का वायु, नेत्र का सूर्य, जिह्वा का जल, नासिका का पृथ्वी, वाणी का अग्नि, हाथों का इन्द्र, पैरों का विष्णु, पायु का मित्र तथा उपस्थ का प्रजापति देवता है।[1]

प्रकृति और पुरुष का साधर्म्य और वैधर्म्य

इसी अध्याय में यह बताया जा चुका है कि प्रकृति तथा पुरुष के संयोग से ही सृष्टि होती है। इन दोनों ही तत्वों के धर्मों में कुछ समानता है, कुछ विषमता

---

१. स्वस्वश्चैषां विषयोऽधिभूतं, स्वयमध्यात्मम्, अधिदैवतम् अथबुद्धेर्ब्रह्मा, अहंकारस्येश्वरः, मनसश्चन्द्रा, दिशः श्रोत्रस्य, त्वचो वायुः, सूर्यश्चक्षुषः, रसनस्यापः, पृथिवी घ्राणस्य, वाचोऽग्निः, हस्तयोरिन्द्रः, पादयोर्विष्णुः, पायोमित्रः, प्रजापतिरूपस्थस्येति।—सु० शा० १।१०

है। प्रकृति पुरुष के जिन धर्मों में समानता होती है वह उनका साधर्म्य होता है जिन धर्मों में असमानता होती है वह वैधर्म्य है। प्रकृति-पुरुष के साधर्म्य का वर्णन करते हुए महर्षि सुश्रुत कहते हैं—'प्रकृति तथा पुरुष दोनों अनादि हैं, अनन्त हैं। दोनों लिंगरहित हैं तथा नित्य (अविनाशी) है। दोनों ही अपर (दोनों के परे कोई पदार्थ नहीं) है, दोनों ही सर्वगत (सर्वव्यापी या विभु) हैं।[1]

दोनों की समानताओं को बताकर महर्षि ने असमानताओं का निर्देश किया है। महर्षि सुश्रुत कहते हैं—'प्रकृति एक है, चैतन्यरहित है अर्थात अचेतन है। यह सत्वरजतमोगुणात्मक है। यह बीजधर्मिणी है। इसका अर्थ यह है कि जैसे वृक्ष में बीज में रहता है, उसी प्रकार यह भी संसार रूपी वृक्ष का बीज स्वरूप है। उसी से फिर संसार उत्पन्न होता है। सत्व, रज, तम जब समान अवस्था में रहते हैं तब महत् आदि विकारों के लिए प्रकृति बीजस्वरूप में रहने वाली है। सुश्रुतसंहिता के टीकाकार आचार्य गयी के मत में संहारकाल में भूत इन्द्रिय, पंचतन्मात्रा, अहंकार महदादिकों के लिए आधारभूत होने से बीजधर्मिणी कहलाती है और वह प्रसवधर्मिणी है। इसका अर्थ यह है कि जब बीजधर्मिणी प्रकृति उत्पन्न करने वाले व्यापक रूप के साथ मिलकर अपनी साम्यावस्था को छोड़ती है तब महद् इत्यादि क्रमानुसार स्थावर जंगमात्मक जगत का निर्माण करती है, इसलिए उसे प्रसवधर्मिणी कहते हैं। प्रकृति का एक और गुण बताया गया है जिसे 'अमध्यस्थधर्मिणी' कहते हैं।[2] मध्यस्थ को सुख दुःख का अनुभव नहीं होता, इस प्रकृति को ही सुख दुःख का अनुभव होने से अमध्यस्थधर्मिणी कहते हैं।[3] इसके विपरीत पुरुष अनेक, चेतन, सत्वादिगुणों से रहित,

---

१. तद्यथा उभावप्यनादी, उभावप्यनन्तौ, उभावप्यलिंगौ, उभावपि नित्यौ, उभावप्यनपरौ, उभौ च सर्वगताविति।—सु० शा० १।१२

२. एका तु प्रकृतिरचेतना त्रिगुणा बीजधर्मिणी प्रसवधर्मिण्यमध्यस्थधर्मिणी चेति।

३. अमध्यस्थधर्मिणीति सत्वादिगुणराशितया सुखादिरूपत्वात्, सुखी हि सुखमभिलिप्सन् दुःखी दुःखं विद्विषन् अमध्यस्थो भवति, प्रकृतिश्च सत्वादिरूपा, ततो मध्यस्था।...बहवः इति युगपन्मरणासंभवादनेके पुरुषाः 'पुरं शब्देन महदादिकृतं सूक्ष्मं लिंगशरीरमुच्यते, तच्च योगिनामेव दृश्यं, तत्र पुरि शेते इति पुरुषः। अगुणा इति अविद्यमानसत्वादिगुणाः। अबीजधर्माण इति महदादीनां महाप्रलये प्रकृताविव तेऽवनवस्थानात्मध्यस्थधर्माण इति प्रीत्यप्रीतिविषादायोगेच्छाद्वेषशून्यत्वात्। तदुक्तं सांख्ये—'तस्मात्तु विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य। कैवल्यं माध्यस्थं दृष्ट्रत्वमकर्तृभावश्च' (सां० का० ६) इति।

—सु० शा० १।१३ पर डल्हण

अबीजधर्मी तथा मध्यस्थधर्मी है ।[1]

पुरुष तथा प्रकृति के साधर्म्य तथा वैधर्म्य को इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—

साधर्म्य

प्रकृति	पुरुष
१. अनादि है ।	१. अनादि है ।
२. अन्तरहित है ।	२. अन्तरहित है ।
३. निराकार है ।	३. निराकार है ।
४. नित्य है ।	४. नित्य है ।
५. इसके पर कोई नहीं है ।	५. सबसे पूर्व यही है ।
६. व्यापक है ।	६. सर्वत्र विद्यमान है ।

वैधर्म्य

प्रकृति	पुरुष
१. एक है ।	१. अनेक हैं ।
२. अचेतन है ।	२. चेतन है ।
३. त्रिगुणात्मक है ।	३. त्रिगुणातीत है ।
४. बीज धर्मवाली है ।	४. बीज धर्म से रहित है ।
५. प्रसवधर्मी है ।	५. प्रसवधर्म से शून्य है ।
६. सुख दुःख को भोगने वाली है ।	६. सुख दुःख से शून्य हैं ।

जगत का कारण

महर्षि सुश्रुत ने बताया है कि स्थूल बुद्धि वाले जगत के छः कारण हैं[2]—

१. स्वभाव
२. ईश्वर
३. काल
४. यदृच्छा
५. नियति
६. परिणाम

---

१. वहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणा अबीजधर्माणोऽप्रसवधर्माणो मध्यस्थधर्माणश्चेति ।
—सु० शा० १।१३

२. स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा ।
परिणामं मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः ।।—सु० शा० १।१५

वैसे तो महर्षि सुश्रुत ने जगत के छः कारणों का उल्लेखमात्र किया है परन्तु उनके कारणत्व के विषय में विशद विवेचन किया है, साथ ही ग्रन्थान्तरों की सहायता से समझ लेना अनुचित न होगा।

स्वभाव

शरीर का अंग प्रत्यंग बनने में स्वभाव ही कारण है।[1] शरीर का बनना दाँतों की उत्पत्ति तथा गिरना, हाथों में बाल का न आना[2] स्वभावतः होता है। अर्थात् ऐसा देखा जाता है कि लोग बाल कटवा डालते हैं या नाखून काट देते हैं परन्तु बिना प्रयास के ही अपने आप निकल आते हैं। अथवा शरीर क्षीण होने पर भी नख तथा केश ये दोनों अपनी प्रकृति के कारण निरन्तर बढ़ते रहते हैं, ऐसी स्थिति है।[3] इनकी उत्पत्ति तथा बुद्धि का कारण स्वभाव ही है योगवाशिष्ठ में कहा गया है—कण्टकों में तीक्ष्णता, चित्र तथा विचित्र मृग एवं पक्षी, ईख में मृदुता, मिर्च में कटुता कौन करता है ? वस्तुतः यह सब स्वभाव से ही होता है।[4]

ईश्वर

ईश्वरवादी ईश्वर को जगत् का कारण बताते हैं। न्यायवैशेषिक ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण बतलाते हैं। इसे सिद्ध करने के लिए न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार ने कुछ तर्क प्रयुक्त किये हैं ?—यथा घट आदि वस्तु कर्त्ता से उत्पन्न होती है उसी प्रकार पृथ्वी आदि वस्तु भी कर्त्ता से उत्पन्न हुए हैं तथा उनका कर्त्ता से उत्पन्न हुए हैं तथा उनका कर्त्ता होना हमारे जैसे शरीरधारियों के लिए सम्भव नहीं है, इसलिए उन पृथ्वी अंकुरादि के कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि हो जाती है।[5]

---

१. अंगप्रत्यंगनिर्वृत्ति स्वभावादेव जायते।
सन्निवेशःशरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ ।।—सु० शा० अं० ३

२. तलेष्वसंभवो यश्च रोम्णामेतत्स्वभावतः।—सु० शा० २

३. धातुषु क्षीयमाणेषु वर्धते द्वाविमौ सदा।
स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा नखकेशाविति स्थितिः ।।—सु० शा० अ० ४।६०

४. कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं चित्रं विचित्रं मृगपक्षिणं च।
माधुर्यमिक्षौ कटुता मरीचे स्वभाववतः सर्वमिदं प्रवृत्तम् ।।—यो० वा०

५. एतेन ईश्वर प्रमाणमादि दर्शितं भवन्ति। तथाहि यथा घटादि कार्यकर्त्तृजन्यं न च तत्कर्तृत्वमस्मदादीनां संभवतीत्यतस्तत्कर्तृत्वेनेश्वर सिद्धि।—न्या० सि० मु०

ऋग्वेद में ईश्वर को जगत का कारण प्रमाणित करने वाले वाक्य पाये जाते हैं—द्युलोक तथा पृथिवीलोक को उत्पन्न करने वाला एकमात्र ईश्वर है।[1]

यजुर्वेद में ईश्वर को जगत का कारण बताया गया है—विश्व को बनाने वाला तथा अन्य लोकों का रक्षक।[2]

निम्न वचन से भी ईश्वर ही जन्म के प्रति कारण सिद्ध होता है—ईशावास्य-मिदं सर्वं यत्किंञ्चित् जगत्यां जगत्।[3]

न्यायवैशेषिक में ईश्वर की इच्छा ही जगत का कारण बताया गया है। ईश्वर ही ब्रह्मा को सृष्टि करने के लिए नियुक्त करता है।[4]

काल

संसार के जितने भी पदार्थ हैं वे सब किसी समय में ही उत्पन्न होते हैं। अतः काल सम्पूर्ण उत्पन्न हुए पदार्थों का निमित्तकारण माना जाता है तथा वह जगत् के सारे पदार्थों का आधार भी है।[5] प्रत्येक पदार्थ के विषय में यह प्रतीति होती है कि वह अमुक काल में है। काल में पदार्थ किस प्रकार है, इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—'यह घट इस समय है' इत्यादि की प्रतीति का स्वरूप यह है कि घट का सूर्य की गति से सम्बन्ध है, क्योंकि सूर्य की गति ही काल का नियामक होती है तथा सूर्य की गति से भूतल पर स्थित घट का संयोग नहीं हो सकता। इसलिए सम्बन्ध कारण काल नामक बिभु पदार्थ माना गया है इसे मानने से घट का सूर्य की गति से 'स्वाश्रयतपनसंयोगसंयोगिरूप' संबंध बन जाता है। स्वपद से सूर्य की क्रिया का ग्रहण होता है। उसका आश्रय सूर्य है तथा इस संयोग वाला काल है तथा इस काल का संयोग घट के साथ है। इस घट का सूर्य की क्रिया से संबंध काल द्वारा ही होता है।

इस काल का प्रत्येक पदार्थ से संयोग है और इसी काल के द्वारा उन पदार्थों में काल संबंध की प्रतीति होती है इसलिए काल को जगत का कारण एवं आधार कहा गया है।

इस प्रकार काल जगत का कारण है। वही जगत में क्रान्ति करता है। विश्व की उत्पत्ति या नाश करना काल के ही आधीन है। कालचक्र के फेर में स्थावर

---

१. द्यावा भूमिः जनयत्येव एकः।—ऋग्वेद १०।८१।३

२. विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।—यजुर्वेद १७।१९

३. ईशावास्योऽपनिषद्

४. ततः पुनः प्राणिनां भोगभूतये महेश्वर सिसृक्षानन्तरं....।
—प्र० पा० भाष्य सृष्टि प्रकरण

५. जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः।—न्यायसिद्धान्त मु०

जंगम को पड़ना ही पड़ता है, काल अवधिरहित है।[1] कालचक्र का संबंध प्राणिमात्रों तथा जड़जीवों से अविच्छिन्न है। दोषों का संचय, प्रकोप, शान्ति आदि काल के अधीन है। यद्यपि काल का विस्तृत विवेचन संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों में किया गया है। यहाँ पर जितना जगत के कारण रूप में उपयोगी है, उतना ही वर्णन किया गया है। जाकोबी ने संसार के स्तरों के ऊपर विचार करते समय काल को संसार की अवस्था के रूप में ही माना है।[2] आधुनिक आधिभौतिक शास्त्र भी इस आध्यात्मिक कालमाप विधि को स्वीकार करता है।[3] आधिभौतिक शास्त्री आइंस्टाइन भी समय के मानसिक अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए यह कहा करते थे कि मनुष्य का रमणियों के बीच एक घण्टा भी एक क्षण के समान है और चूल्हे के पास व्यतीत होने वाला एक क्षण घण्टों के बराबर है।[4]

यदृच्छा

काल की ही भाँति यदृच्छा (योगायोग) भी जगत का कारण है। जगत की उत्पत्ति बिना कारण के यों ही होती हैं।

नियति

नियति या भाग्य को भी जगत् का कारण बताया गया है। प्रशस्तदेव ने सृष्टिप्रकरण में बताया है कि मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा स्वीकार कर सर्वोत्कृष्ट ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य से सम्पन्न सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा भी प्राणिमात्र का इतना-इतना कर्मफल है, यह जानकर पुण्यापुण्य कर्मानुसार ज्ञान सुखदुःखानुभव रूप भोग तथा आयु वाले मनोभाव से उत्पन्न दक्षादि प्रजापति, स्वयंभू आदि चतुर्दश मनु, द्वादश

---

१. कालो हि निरवधिः····।—उ० रामचरित
तु० (क) न कालस्याति बन्धुत्वं न हेतुर्न पराक्रमः।
न मित्तज्ञाति-सम्बन्धः कारण नात्मनो वशः।—वा० रामा० कि, २५।७
(ख) लंघ्यते न खलु कालनियोगः।—किरातार्जुनीय ९।१३
(ग) कालस्थास्खलितप्रभावरभसं भाति प्रभुत्वेऽद्भुते।
—राजतरंगिणी ८।३४०६

२. एजेज आफ दि वर्ल्ड एकार्डिंग टु दि पुरानाज, इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, वाल्यूम १, पृष्ठ १९९

३. डा० के० आर० सेन : रिलेसनसिप विटवीन वाडी एण्ड माइंड, दि जर्नल आफ साइंस क्लब, कलकत्ता, वाल्यूम छठवां, पृष्ठ ६४-६५

४. एवोल्यूसन ऑफ सांख्य सिस्टम आफ थाट, पृष्ठ ३९-४०

आदित्यादि देवता, गौतमादि महर्षि कव्यवाहन इत्यादि पिता कुशमाण्ड आदि सम्पूर्ण पुत्रों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को क्रमशः मुख, भुजा, उदर तथा पैर से उत्पन्न कर इसके अतिरिक्त ऊँचे-नीचे प्राणिमात्र की रचनाकर उन प्राणियों को कर्म तथा ज्ञान की वासना के अनुसार ही धर्म, ज्ञान, वैराग्य, कर्म तथा ऐश्वर्य उन्हें देते हैं।[1] अंशमात्र भी अधिक या न्यून नहीं देते। इस प्रकार न्यायवैशेषिक के अनुसार सृष्टि में नियति का कारणत्व है।

योगसूत्र में भी बताया गया है कि जन्य क्लेशरूपी मूल के रहने पर जन्म, आयु और भोग रूपी कर्माशय के फल प्राप्त होते हैं।[2]

परिणाम

परिणामवादियों का कहना है कि सबका कारण परिणाम है, क्योंकि प्रधान ही महद् आदि रूपों में परिणत होकर सबका कारण है। परिणामवाद की विस्तृत व्याख्या 'योगसूत्र' में की गयी है। इसमें तीन प्रकार का परिणाम बताया गया है—

(१) तत्वान्तर परिणाम

(२) धर्म परिणाम

(३) लक्षण परिणाम

अनादि अविद्या के कारण जब पुरुष का प्रकृति से संयोग होता है तब संयोग के कारण अभिव्यक्त हुयी प्रकृति का बुद्धि से लेकर इस दृश्यमान जगत पर्यन्त प्रकृति का परिणाम तत्व-परिणाम कहलाता है।[3] पंचममहाभूतों की स्थिति में आने के बाद प्रकृति का जो और परिणाम होता रहता है, उस परिणाम से नये तत्व नहीं अभिव्यक्त होते, प्रत्युत धर्मी के धर्मों में ही परिवर्तन आता है। यही धर्मी का धर्म परिणाम कहलाता है जैसे मिट्टी के चूरे का मृत्पिण्ड के रूप में परिणत होना, इस मृत्पिण्ड का कपालों के रूप में परिणत होना तथा उन कपालों का घट आदि के रूप में अभिव्यक्त होना। इन धर्मों का लक्षण परिणाम होता है। बाद में लक्षण परिणाम के द्वारा उस लक्षण को त्याग कर वह धर्म वर्तमान लक्षण में आता है। उसके बाद

---

१. स च महेश्वरेण विनियुक्तो ब्रह्माऽतिशयज्ञान वैराग्यैश्वर्य सम्पन्नः प्राणिनां कर्मविपाकं विदित्वा कर्मानुरूप ज्ञान भोगायुषः सुतान् प्रजापतीनूमानस्यान्....।
—प्र० पा० भा० सृष्टि प्र०

२. सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।—यो० सू० २।१३

३. न विशेषेभ्यः परं तत्वान्तरमस्ति, इति विशेषाणां नास्ति तत्वान्तरपरिणामः तेषां तु धर्मलक्षणावस्था परिणामाः व्याख्यायन्ते।—यो० सू० २।१९ पर भाष्य

लक्षण परिणाम के ही फलस्वरूप वह धर्म 'अतीत-लक्षण' को प्राप्त करता है। यह धर्मी का लक्षण परिणाम हुआ। इस प्रकार बिना परिणाम के ये कोई भी त्रिगुणात्मक वस्तुएँ नहीं रह सकती हैं क्योंकि पुरुष के अतिरिक्त प्रत्येक पदार्थ नित्य परिणामी गुणों से बना होने के कारण नित्य परिणमनशील रहेगा।[1] इस प्रकार परिणामवादी दार्शनिक पद्धतियों ने परिणाम को जगत का कारण स्वीकार किया है। अच्छी तरह से परिणाम हुए आहार का सार रस है। जगत में इस प्रकार परिणतता पर या परिणाम पर ही कार्य होता है। शुक्र की उत्पत्ति के लिए उग्र का परिणाम ही कारण है। क्योंकि वे चिकित्सा में फलप्रद हैं।

वस्तुतः ये छहो भी त्रिगुणात्मक प्रकृति के अन्तर्गत अन्तर्भूत होते हैं। उनकी स्वभावादि के रूप में अभिव्यक्त होने से इनको पृथक् संज्ञा दी गयी है। इसकी व्याख्या करते हुए 'गयी' का थथन है कि प्रकृति[2] को परिणामशाली उपादान कारण मानना चाहिए, जबकि काल, स्वाभाविक प्रक्रिया, आदि को जगदुत्पत्ति का नैमित्तिक कारण मानना चाहिए।

• •

---

१. एवं धर्मलक्षणावस्था परिणामैः शून्यं न क्षणमपि गुणवृत्तमवतिष्ठते चलञ्च गुणवृत्तम्।—योग० सू० ३।१३ का भाष्य

२. प्रकृति के मूल प्रयोजन का करण जगत के मूल और उद्गम के विषय में जिज्ञासा का भाव हो सकता। प्रकृति का शाब्दिक अर्थ है 'उद्गम' अथवा 'मूल'। इस लिए सांख्य संज्ञा के रूप में 'प्रकृति' का पारिभाषिक प्रयोग होने से पहले, इस संज्ञा का प्रयोग सम्भवतः जगदुत्पत्ति विषयक अन्य विवेचनों के सन्दर्भ में होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य में प्रकृति की धारणा को ग्रहण कराने के लिए स्वभाव, काल आदि के भावों को मिला दिया गया है और सांख्य की दो शाखाओं, कापिल शाखा और पातंजल शाखा, का इस विवाद से जन्म हुआ कि प्रकृति 'यदृच्छा' का परिणाम है अथवा ईश्वरेच्छा का परिणाम। पूर्वकाल में विद्यमान जगदुत्पत्ति के सब वैकल्पिक स्त्रोतों के समुदाय द्वारा 'प्रकृति' के भाव को प्राप्त किया गया और इस प्रकार वे सब प्रकृति के भाव में समाहित है।

—डा० एस० एन० दासगुप्त : भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग २, पृष्ठ ४११

आध्यात्मिक-निरूपण

समस्त इन्द्रियधारी प्राणियों में आत्मनिर्णय का एक तत्व विद्यमान है जिसे सामान्यतः 'आत्मा' नाम दिया गया है। वस्तुतः प्रत्येक प्राणी के अन्दर जिसमें जीवन हैं, आत्मा विद्यमान है तथा भिन्न-भिन्न आत्माएं मौलिक रूप में स्वरूप से एक समान है। जो भेद प्रतीत होते हैं वे वस्तुतः भौतिक संस्थानों के कारण हैं, जो आत्मा को मलिन तथा व्यर्थ करते हैं। उक्त मलिनता का नानाविध श्रेणीविभाग उन शरीरों के स्वभाव के कारण है, जिनमें आत्माओं का निवास है। जिस तत्व से भौतिक संस्थानों का उद्भव हुआ, आत्माओं का उस तत्व से सम्बन्ध नहीं हो सकता। संस्कृत के चिकित्सा-ग्रन्थ जीवन की आकस्मिक घटनाओं से उन्मुक्त तथा काल तथा परिवर्तनों से असंपृक्त 'आत्मा' के अस्तित्व का प्रतिपादन करते है। इस विषय में 'चेतना' साक्षी है कि यद्यपि व्यक्ति एक अर्थ में एक विशिष्ट तथा परिमित शक्ति वाला प्राणी है, जो मरणशीलता संबंधी समस्त आकस्मिक घटनाओं तथा परिवर्तनों के अधीन है, तो भी उसके अन्दर ऐसा कुछ अवश्य है जो उसे इन सबसे ऊपर उठाता है। वह न तो मन है, न जीवन है, न शरीर है बल्कि सूक्ष्म साक्षीरूप आत्मा है, जो इन सबको धारण करती है।

सान्त जगत की सीमाओं से बचकर निकल भागने का प्रयत्न उस चेतना की ओर संकेत करता है कि सान्त जगत अपने आप में यथार्थ नहीं है जैसा कि डेस्कार्ट ने कहा है कि 'सत्ता' के भाव की धारणा तभी बन जाती है जबकि हमें अपनी परिमित शक्ति की स्वीकृति विवश होकर अंगीकार करनी पड़ती है।[1] जैसा कि हम आगे इस अध्याय में देखेंगे कि संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों में आत्मा की सत्ता को सिद्ध करने के लिए सन्तोषजनक व ठोस तार्किक आधार उपलब्ध होते हैं अतः ड्यूसन का यह कथन कि भारतीय कभी भी तात्विकीय प्रमाण के बन्धन में नहीं फंसे[2] सर्वथा अनुचित है।

यद्यपि समस्त भारतीय दर्शनों में आत्मा सम्बन्धी गहनतम विवेचन विस्तार से किया गया है तथापि आयुर्वेद में आत्मा के विषय में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है जो कि अभी तक अज्ञात थे। इसलिए दार्शनिक क्षेत्र में यह आयुर्वेद की अपनी विशेष देन है जिसका वर्णन इस अध्याय में होने जा रहा है।

---

१. डेस्कार्ट—मेडिटेशन्स, पृष्ठ ४

२. ड्यूसन—सिस्टम आफ दि वेदान्त, पृष्ठ १२३

यह अध्याय इसलिए भी विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान से भारतीय चिकित्सा-विज्ञान का एक तात्विक मतभेद दिखाई पड़ता है। देह के भीतर या बाहर जो कुछ भी है उन सबके मूल में प्रकृति ही है। पाश्चात्य विज्ञान इसी प्रकृति के ज्ञात नियमों के आधार पर ही पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है, परन्तु अभी भी ऐसी अनेक गुत्थियाँ हैं जो कि अद्यावधि नहीं सुलझायी जा सकीं। बहुत पहले पाश्चात्य विज्ञान में आत्मा नाम की ऐसी कोई सत्ता का अस्तित्व नहीं माना जाता था जिसमें कि ये गुत्थियां सुमझायी जा सकतीं। परन्तु इधर पाश्चात्य चिन्तकों में एक आध्यात्मिक चिन्तन की ओर आकर्षण हुआ है। जैसा कि इंग्लैण्ड के एक प्रसिद्ध विज्ञान शास्त्री जे० आर्थर टाम्सन ने जो लिखा है उसका आशय यह है,[1] "कैमेस्ट्री, जिसको अधिभूतशास्त्र कह सकते हैं, फिजिक्स जिसको अधिदेवशास्त्र कह सकते हैं और वायलोजी, सायकालोजी तथा सोशियालोजी तीन जीवशास्त्र, अध्यात्म शास्त्र के अङ्ग कहे जा सकते हैं।"

टाम्सन महोदय ने अपने दूसरे ग्रन्थ में भी इसी आशय को प्रकट किया है। इन पाँचों के ऊपर मेटाफिजिक्स अर्थात् ब्रह्म विद्या, का स्थान है क्योंकि इन पाँचो का समन्वय करना, ज्ञान समूह में, अर्थात् समग्र ज्ञान पुरुष के काय व्यूह में अङ्गत्वेन इनका यथास्थान समावेश करना उनके तारतम्य, बलाबल उचित प्रयोग का निर्णय करना, इनके अन्तर्गत वस्तुओं के वर्णनों की समीक्षा करके, उन वर्णनों के परस्पर विरोधों को दूर करना और उनकी त्रुटियों की पूर्ति करना, यह काम ब्रह्मविद्या ही कर सकती है।"[2] इसी सन्दर्भ में यूरोप के जगत विख्यात हरवर्ट स्पेन्सर महोदय के विचार दृष्टव्य हैं—"अध्यात्म शास्त्र का अधिकार अन्य सब शास्त्रों से ऊँचा है। यह तो एक स्वलक्षण, विलक्षण शास्त्र है, अद्वितीय है। इसके समान, इसका सजातीय कोई दूसरा शास्त्र नहीं। यह दोहरा शास्त्र है, इसका सम्बन्ध ज्ञात से भी है, ज्ञेय से भी है। अचेतन शरीर से भी तथा चेतन शरीर से भी, विषय से भी, विषयी से भी। अन्य

१. डा० भगवानदास—दर्शन का प्रयोजन, पृष्ठ ७५
(दीज इवेन्टफुल इयर्स, वाल्यूम दो, पृष्ठ ४२३-४४६ के आधार पर)

2. There is much need for MetaPhysics to fuction as a sublime logic, testing the completeness and consistancy of scientific description. Why things happen, is no proper question for science, its sole business is how they happen, why is the business of Metaphysics. Introduction 10 science (H.U.L. series) p. 47, 106, 166-167, 251

शास्त्रों का सम्बन्ध केवल विषयों से है अतः वे इकहरे शास्त्र हैं। यदि हमसे पूछा जाय कि मानस पदार्थो का अनुवाद शारीर शब्दों में करना अच्छा है या शारीर का मानस में, तो हमको दूसरा ही विकल्प अर्थात् शारीर पदार्थों का मानस, पदार्थों में अनुवाद करना ही उचित जान पड़ेगा।[1]

परन्तु पाश्चात्यों का यह दृष्टिकोण व्यापक नहीं है जबकि इसके विपरीत भारतीय दर्शन एवं विज्ञान आत्मा को ही केन्द्र बिन्दु मानकर संसार की व्याख्या करने का सफल उद्योग करता है। यह शरीर केवल कुछ तत्वों का समूह नहीं है इसके परे भी आत्मा तथा मन आदि अतीन्द्रिय, अनुमान तथा शब्द प्रमाण से ग्राह्य तत्व हैं, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। संसार में जितनी भी चिकित्सा प्रणालियाँ हैं, उनमें भारतीय चिकित्सा पद्धति आत्म-तत्व का सर्वाङ्ग निरूपण करती है जो कि भारतीय चिकित्सा पद्धति की अपनी विशेषता है।

भारतीय चिकित्सा पद्धति में आत्मा के बारे में उतना ही विशद तथा विस्तृत विवेचन किया गया है जितना कि अन्य दर्शन शास्त्रों में किया गया है। किन्तु दोनों के उद्देश्य में अन्तर है। दर्शन शास्त्रों में आत्मतत्व का विवेचन केवल मुक्ति या कैवल्यार्थ है। संसार की विविध योनियों में भ्रमित होने वाले जीवात्मा को कर्मबन्धन से छुटकारा दिलाने के लिए उसके यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। जबकि आयुर्वेद में आत्म-तत्व का विवेचन इससे भिन्न प्रयोजन से किया गया है। आयुर्वेद का प्रयोजन है स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा आतुर पुरुष के विकार का प्रशमन करना। इस प्रयोजन के लिए शरीर, सत्व तथा इन्द्रियों से अधिष्ठित आत्मा ही अभिप्रेत है। यही स्वास्थ्य, रोग तथा चिकित्सा का विषय है। इस प्रकार स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोगों के उपशमन के लिए आयुर्वेद में आत्मा रहित शरीर, सत्व तथा इन्द्रियों का कोई महत्व नहा है। ठीक इसी प्रकार शरीर, सत्व तथा इन्द्रियों से रहित आत्मा का भी चिकित्सा की दृष्टि से महत्व नहीं है। क्योंकि आयुर्वेदिक दृष्टि ही यह है कि केवल आत्मा या केवल शरीर का रोगग्रस्त होना

---

1. The claims of psychology are not smaller but greater than those of any other science. It is a double science which, as whole, is quite Sui generis. Were we compelled to choose between the alternatives of translating (1) mental into physical, or (2) physical into mental, phenomena, the latter alternative would seem the more acceptable of the two."

—H. Spencer, Principles of Phychology, P. 141

सम्भव नहीं है अतः उसकी चिकित्सा का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु चिकित्स्य पुरुष के अतिरिक्त परम-आत्मा का भी निरूपण संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों से मिलता है। यह भी स्मरणीय है कि संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों में आत्मा की मुक्ति या कर्मबन्धन से छुटकारे का भी वर्णन मिलता है।

साधारणतः मन अथवा अन्तःकरण से परे उसके व्यापारों का ज्ञान कराने वाली सत्ता को आत्मा कहते हैं। आत्मा ही ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है। आत्मा के सम्बन्ध में लोगों के भिन्न-भिन्न मत हैं उनमें से कई मत एक दूसरे के विरोधी भी हैं। इस विरोध तथा मतवैभिन्य के बाद इतना तो सभी स्वीकार करते हैं कि आत्मा चेतन है। इस चेतन को वे चाहे आत्मा का गुण-धर्म मानें या स्वभाव। आयुर्वेद ने आत्म-तत्वनिरूपण में मूलतः सांख्य तथा वैशेषिक को अपना आधार बनाया है, पर चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से उसने जहाँ-जहाँ कठिनाइयों का अनुभव किया है वहाँ या तो अन्य दर्शनों से सहायता ली हैं या फिर स्वयं अपनी मान्यताएँ स्थापित की हैं। इसके पूर्व कि हम अपने इस प्रयास में आगे बढ़े हमारे लिए सांख्य तथा वैशेषिक के आत्मा सम्बन्धी मूल विचारों पर एक नज़र डाल लेना अच्छा होगा।

सांख्य के अनुसार आत्मा का स्वरूप

सांख्य दर्शन में आत्मा को 'पुरुष' की संज्ञा दी गयी है उसके अनुसार पुरुष की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(१) पुरुष, प्रकृति तथा उसके विकारों से नितान्त भिन्न अपनी सत्ता रखता है।
(२) पुरुष सुखदुखादि गुणों से परे तथा त्रिगुणातीत है।
(३) पुरुष चेतन है।
(४) पुरुष निष्क्रिय है। उसकी क्रियाशीलता प्रकृति के सानिध्य का ही परिणाम है।
(५) पुरुष अनादि तथा अनन्त है।
(६) पुरुष विभु अर्थात सर्वव्यापी तथा एक रस रहने वाला अर्थात् अपरिणामी है।
(७) पुरुष अनेक हैं।

वैशेषिक के अनुसार आत्मा का स्वरूप

वैशेषिक दर्शन में आत्मा की निम्नलिखित विशेषताएँ बतायी गयी हैं—

१—आत्मा शरीर, इन्द्रिय और मन से भिन्न अपनी पृथक सत्ता रखता है।
२—आत्मा नित्य एवं सर्वव्यापी (विभु) द्रव्य है।

३—आत्मा चेतना का आधार है ।

४—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, धर्माधर्म, प्रयत्न, संस्कार आदि गुण इसी में निवास करते हैं ।

५—आत्मा के दो रूप हैं—जीवात्मा और परमात्मा । परमात्मा अथवा ईश्वर एक है । जीवात्माएँ अनेक हैं । भिन्न-भिन्न शरीर में भिन्न-भिन्न जीवात्माएं रहती हैं । इनका ज्ञान मानस प्रत्यक्ष द्वारा होता है ।

एक तथ्य की ओर प्रारम्भ में ही संकेत कर देना अच्छा होगा कि आयुर्वेद के सभी संहिताकारों ने आत्मा को समान महत्त्व नहीं दिया है । चरक ने आत्मा का विशद विवेचन किया है । सुश्रुत ने संक्षेप में ही उसका उल्लेख किया है उनके अनुसार चिकित्सा शास्त्र में पञ्चमहाभूत से आगे बढ़ने की कोई जरूरत ही नहीं उन्होंने तो स्पष्ट कहा है—"भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सते । (सुश्रुत शा० १-१२)" वाग्भट ने सुश्रुत के कथन का अक्षरशः पालन करते हुए अपने ग्रन्थों में ईश्वर, अव्यक्त, महान्, पञ्चतन्मात्र, अहंकार आदि विषयों का कोई उल्लेख नहीं किया है । अन्य संहिताकारों ने किसी न किसी रूप में इन्हीं मतों को ग्रहण किया है ।

संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों में आत्मा की तीन विभिन्न स्थितियां वतायी गयी हैं—

१—कर्म पुरुष ।

२—आतिवाहिक पुरुष ।

३—परमात्मा ।

अब प्रत्येक का निरूपण क्रमशः किया जाएगा ।

कर्मपुरुष

प्रस्तुत स्थल में जिस कर्मपुरुष का वर्णन किया जाएगा वही आयुर्वेद का अधिकरणभूत चिकित्स्य पुरुष है । इस कर्मपुरुष को जीवात्मा, राशि पुरुष एवं संयोग पुरुष आदि नाम से भी पुकारा जाता है । इसी चिकित्स्य-पुरुष[1] के लिए आयुर्वेद का अवतरण इस मर्त्य लोक में हुआ है । अतः इस चिकित्स्य पुरुष का स्वरूप समझना आवश्यक है क्योंकि इसके स्वरूप को बिना समझे चिकित्सा-कर्म सम्भव नहीं है ।

चरक-संहिता में कर्मपुरुष का वर्णन इस प्रकार किया गया है—"सत्व (मन), आत्मा और शरीर (पाञ्चभौतिक) ये तीन (जलपूर्ण घट को रखने के लिए लकड़ी से

१. कर्मपुरुष चिकित्साधिकृतः ।—सुश्रुत शा० १।२१

निर्मित तिपाई के) डंडों के समान हैं। इन्हीं त्रिदण्डों के संयोग से यह लोक स्थित है। तथा वह उसका अधिकरण कहा गया है। उसी को पुमान भी कहा जाता है। वह पुमान चेतन होता है। इसी पुरुष के उपकार के लिए यह आयुर्वेद प्रकाशित किया गया है।[1]

जिस प्रकार तिपाई के त्रिदण्डों से यदि एक भी दण्ड हट जाय तो तिपाई की अवस्थिति नहीं रह सकती। ठीक उसी प्रकार सत्व, आत्मा तथा शरीर—इन तीनों में से एक भी हट जाय तो यह पुरुष नहीं रह सकता। यहां पर जो सत्व को आत्मा तथा शरीर से पहले रखा गया है उसके पीछे रहस्य यह है कि आत्मा तथा शरीर की क्रिया मनाधीन है। आत्मा के ग्रहण से बुद्धि तथा अहंकारादिकों का ग्रहण हो गया है तथा शरीर-ग्रहण से इन्द्रिय तथा अर्थों का ग्रहण किया गया है।[2] चरक संहिताकार ने स्वयं कहा है "आत्मा, इन्द्रियां, मन तथा अर्थ का राशि रूप जो यह पुरुष संज्ञा वाला है।"[3]

यहां आत्मा, अर्थ, इन्द्रिय, शरीर तथा मन के साथ 'राशिपुरुष' का अविना-भाव सम्बन्ध हैं। ये राशि पुरुष पुरुष के घटक हैं। इन घटकों के समष्टि रूप राशि पुरुष तथा उनके अधिष्ठान चेतना धातु का वर्णन करने के पूर्व इन घटकों का विवेचन, जीव के स्वरूप को ठीक-ठीक समझने के लिए आवश्यक है। अर्थ और इन्द्रिय का विवेचन पिछले अध्याय में हो चुका है। यहाँ पर सत्व, शरीर तथा आत्मा (इन घटकों) का वर्णन किया जा रहा है।

---

१. सत्वात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
स पुमाश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं संप्रकाशितः॥—च० सू० १।४६-४७

२. त्रिदण्डः परस्परसंयोगविधृतः, कुम्भादिधारकस्तद्वत्। एतेन यथा त्रिदण्डेऽन्यतमापाये नावस्थानं, तथा सत्वादीनामन्यतमापायेऽपि न लोकस्थितिरित्युक्तं भवति। ....अत्र सत्त्वमादौ कृतं, तदधीनत्वादात्मशरीरक्रियायाः, यदुक्तं "अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः। युक्तस्य मनसा, तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः (च० शा० १।७५)"........अत्र चात्मग्रहणेन बुद्धयहंकारादीनां ग्रहणं शरीरग्रहणेनेन्द्रियाणामर्थानां च शरीरसंबद्धानां ग्रहणं, व्याख्येयम्।
—च० सू० १।४६-४७ परच क्रपाणि

३. आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां यो यं पुरुष संज्ञकः राशिः।—च० सू० २५।४

सत्व (मन)

मन[1] की व्याख्या करते हुए हमारे शास्त्रकारों ने कहा है—"मन्यते बुध्यते अनेनिति मन:" अर्थात् जो मनन करने का, सोचने समझने का साधन हो वही मन है। मनन शब्द का प्रयोग इस सन्दर्भ में बहुत ही व्यापक अर्थ में किया गया है। बुद्धि चित्त, अन्तःकरण आदि शब्द प्रायः इसके पर्यायवाची शब्दों के रूप में व्यवहार किए जाते हैं।

सभी पञ्चेन्द्रिय प्राणियों के शरीर में मन की अवस्थिति रहती है। मानव शरीर में मन की उपयोगिता विशेषरूप से है। अतः अन्य दर्शनशास्त्रों की भाँति मन है। का निरूपण चिकित्सा शास्त्रों में भी किया गया है। कुछ लोग शंका कर सकते हैं कि चिकित्सा शास्त्र एक आरोग्यप्रद शास्त्र है। अतः आध्यात्मिक विषयों के प्रतिपादन से उसे कोई प्रयोजन नहीं होना चाहिए तथापि आध्यात्यिक तत्व मन भी रोगाधिष्ठान होने से चिकित्सा शास्त्र का प्रतिपाद्य बन जाता है। उन लोगों को यह भी जान लेना आवश्यक है कि चिकित्सा ग्रंथों में मन तथा मन के विषय बुद्धि तथा आत्मा को आध्यात्मिक तत्व बताया गया है।[2] इनमें प्रथम तीन मन से सम्बद्ध हैं। अतः आयुर्वेदीय दर्शन में मन को प्रमुख स्थान प्राप्त है। बिना मन के कोई भी इन्द्रिय अपने विषय को नहीं ग्रहण कर सकती।[3] अन्य स्थल पर चरक मुनि ने कहा है—"मनपूर्वक इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थ को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं।"[4] बृहदारण्यकोपनिषद्,[5] सांख्यदर्शन[6] तथा न्यायदर्शन[7] में भी मन का महत्व स्वीकार किया गया हैं।

मन का लक्षण—चिकित्सा ग्रन्थों में मन का लक्षण करते हुए कहा गया है—ज्ञान का होना अथवा न होना ही मन का लक्षण है। आत्मा, इन्द्रिय तथा इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष होने पर मन का संयोग न होने पर ज्ञान नहीं होता तथा उपर्युक्त आत्मे-

---

१. पुनः मनः सत्वसंज्ञक चेतः इत्याहुरेके।—च० सू० ८।१३

२. मनो मनोऽर्थो बुद्धिरात्मा च, इत्यध्यात्मद्रव्यगुणसंग्रहः।—च० सू० ८।१३

३. इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।—च० शा० १।२२

४. मनः पुरस्सराणि चेन्द्रियाण्यर्थ ग्रहणानि समर्थानि भवन्ति।—च० सू० ८।७

५. वृहदारण्यकोपनिषद् १।५।३

६. चक्षुरादीनां वागादीनां च मनोऽधिष्ठितानामेव स्वस्वविषयेषुप्रवृत्तेः।
—सां० का० २७ पर तत्वकौमुदी

७. वात्स्यायनभाष्य १।१।४

न्द्रियार्थ सन्निकर्ष होने पर मन का सानिध्य होने से ज्ञान होता है।[१]

ज्ञानोत्पत्ति में हम यदि आत्मा इन्द्रिय तथा इन्द्रियों के विषय—इतनी ही सामग्री को कारण माने तो हम देखते हैं कि इन सबके होते हुए कभी तो इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है तथा कभी नहीं होता। ज्ञान का कभी होना तथा कभी न होना अर्थात् कभी अभाव तथा कभी भाव-इस बात का गमक है कि इनके अतिरिक्त एक वस्तु है, जिसका संयोग होने से तो ज्ञान होता है तथा संयोग न होने से नहीं होता हैं। यही अतिरिक्त वस्तु मन है। जैसे—कक्षा में बैठे हुए विद्यार्थी को मन की उपस्थिति रहने से अध्यापक की बात सुनायी पड़ती है तथा मन की अनुपस्थिति से नहीं सुनाई पड़ती।

मन का अस्तित्व न मानने पर अव्यवस्था हो जाएगी क्योंकि व्यापक होने से आत्मा का इन्द्रियों से सदैव संयोग रहता है तथा इन्द्रियों का एक साथ अपने-अपने विषय के साथ दिन-रात सर्वदा सम्बन्ध रहता है। अतः ऐसी स्थिति में सदैव सब इन्द्रियों को एक ज्ञान होना चाहिए। इससे सिद्ध है कि ज्ञानोत्पत्ति का एक अन्य कारण भी है, जो कि मन ही है। यह मन जब अन्यत्र आसक्त होता है तब ज्ञानेन्द्रिय के सामने आयुर्वेद विपय का ग्रहण नहीं हो सकता जबकि यह मन किसी ज्ञानेन्द्रिय से संयुक्त होता है तो वह ज्ञानेन्द्रिय अपने विषय का ग्रहण करती है।

मन अतीन्द्रिय है।[२] यह दुर्लक्ष्य होने के कारण चक्षुरादि इन्द्रियों की अपेक्षा भी अधिक सूक्ष्म है। अतः इसकी अतीन्द्रियता सुस्पष्ट है। टीकाकार चक्रपाणि ने "अतिक्रान्तमिन्द्रियमतीन्द्रियम्" इस विग्रह के द्वारा अतीन्द्रिय पद को प्रादि-तत्पुरुष मानकर 'इन्द्रियत्व का अतिक्रमण करने वाला', ऐसा अर्थ किया है। किन्तु यह अर्थ उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि अन्य स्थलों पर मन के इन्द्रियत्व का निरूपण होने से पूर्वापर विरोध प्रसक्त होगा। चक्रपाणि का कहना है कि प्रस्तुत अध्याय में पांच इन्द्रियों का परिगणन करके मन को अतीन्द्रिय कहा गया है। अतः यहाँ ग्रन्थकार को मन का इन्द्रियत्व अभीष्ट नहीं है तथा आगे चलकर जो एकादश इन्द्रियों का अभिधान किया है, वह दर्शान्तरों की अपेक्षा से है, अतः पूर्वापर विरोध नहीं है। इस विषय में मेरी धारणा कुछ भिन्न है। वस्तुतः संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों में जिस

---

१. लक्षणंमनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते।
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सानिध्यात् तच्च वर्तते ॥—च० शा० १।१८-१९

२. अतीन्द्रियं पुनर्मनः।—च० सू० ८।४

दर्शन का निरूपण हुआ है, वह सर्वथा एक मौलिक दर्शन है। भले ही सांख्य वैशेषिकादि दर्शनों का प्रभाव उसमें दिखायी पड़ता हो। चिकित्सा ग्रन्थों में जिन दार्शनिक तत्वों का संग्रथन किया गया है वे सभी तत्व यथार्थ की सुदृढ़ भूमि पर खड़े हुए हैं। अतः पूर्वापर विरोध की तनिक भी गुंजाइश ही नहीं है। जबकि चरक संहिता में सर्वत्र अतीन्द्रिय पद का "इन्द्रियों से अग्राह्य इस अर्थ का ही प्रयोग हुआ है, फिर यहाँ पर अकस्मात् मनोनिरूपण के प्रसङ्ग में 'इन्द्रियत्व का अतिक्रमण करने वाला' यह अर्थ ग्रहण करके पूर्वापर विरोध का आवाहन करना कहाँ की बुद्धिमत्ता हैं। सांख्य तथा वैशेषिक दोनों दर्शनों में भी मन को इन्द्रिय माना गया है तथा संस्कृत के समस्त चिकित्सा ग्रन्थों में सर्वत्र मन के इन्द्रियत्व का प्रतिपादन हुआ है।

मन के गुण—भगवान आत्रेय कहते हैं[1] कि अणुत्व (सूक्ष्मत्व) तथा एकत्व (एक होना) ये मन के दो गुण होते हैं अर्थात् मन अणुपरिणाम वाला है तथा एक है।

यदि मन का एकत्व न स्वीकार किया जाएगा तो समस्त इन्द्रियों के साथ उसका सम्पर्क निरन्तर बना रहेगा। ऐसी स्थिति में उसे समस्त इन्द्रियों द्वारा एक साथ ही सर्वविध ज्ञान की अनुभूति होने लगेगी। जिससे कि ज्ञान परम्परा में अव्यवस्था हो जायेगी। क्योंकि एक साथ समस्त इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होने पर समस्त ज्ञान सम्बन्ध स्थापित करने के लिए संघर्ष करेंगे जिससे कि ज्ञान परम्परा बाधित हो जाएगी।

जैसा कि हम पीछे भी कह चुके हैं कि मन किसी एक इन्द्रिय से साथ संयुक्त रहता है तो केवल उसी इन्द्रिय के ज्ञान का ग्रहण होता है अन्य का नहीं। जैसे कि वार्तालाप में संलग्न दो व्यक्तियों में से किसी एक का मन यदि वार्तालाप से परामुख हो गया हो तो वार्तालाप का स्वर निरन्तर उसके कर्णेन्द्रिय में जाने पर भी उसे बातचीत का ज्ञान नहीं होगा।

अतः यह स्पष्ट हो गया कि मन जिस इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है। तब केवल उसी इन्द्रिय द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। कभी-कभी एक ही समय में कचौड़ी खाते समय हमें हाथ से तोड़ने पर उसके शीतत्व तथा उष्णत्व का ज्ञान होता है तथा साथ ही रसना द्वारा रस-ज्ञान भी होता हैं, साथ ही घ्राण द्वारा गन्ध की अनुभूति होती है, चक्षु द्वारा उसे सतत देखते रहते हैं, साथ ही बातचीत करने पर शब्दों को

---

१. अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ।—च० शा० १।१९
तुलनीय "....तस्यैकत्वमणु च द्वौ गुणौ....।"—का० शा० पृष्ठ ६७

भी सुनते जाते हैं। अतः उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त ज्ञानों का अनुभव एक साथ हो रहा है। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं होता। मन की चञ्चलता तथा अतितीव्र गति के कारण मन का सम्पर्क प्रत्येक इन्द्रिय के साथ जल्दी जल्दी तथा पृथक-पृथक होता है। वस्तुतः इन्द्रियों के साथ उसका संयोग इतनी शीघ्रता तथा तीव्र गति से होता है कि एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय के साथ संयुक्त होने के व्यवधान का समय (क्षण) की हमें प्रतीति ही नहीं होती। अतः हमारा यह भ्रम ही है कि मानो मन समस्त इन्द्रियों के साथ एक समय में संयुक्त हो रहा है। इन्द्रियों के साथ मन के संयोग की यह प्रक्रिया हम एक उदाहरण से समझ सकते हैं। एक के ऊपर एक रखे हुए व्यवस्थित कमलपत्र के समुदाय का सूचिका-वेधन करने पर हमें ऐसा लगता है कि समस्त पत्रों का वेधन एक साथ ही हुआ है, जबकि ऐसा नहीं होता। सत्य तो यह है कि उन पत्तों का वेधन एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा इसी क्रम से होता है। परन्तु यह वेधन इतनी तीव्र गति से होता है कि हम कमलपत्रों के पृथक-पृथक वेधन को नहीं जान पाते और यह समझते हैं कि सभी पत्तों का वेधन एक साथ हुआ है। यही बात शष्कुली भक्षण में भी है। युगपद ज्ञानोत्पत्ति के अभाव से यह सिद्ध हो गया कि मन एक ही है। जैसा कि आचार्य ने स्वयं कहा है—"स्वार्थ इन्द्रियार्थ तथा संकल्प का व्यभिचरण (अर्थात् एक अर्थ को छोड़कर अर्थान्तर का ग्रहण) करने के कारण तथा रजस, तमस तथा सत्वगुण से होने के कारण यह मन एक ही पुरुष में अनेक जैसा प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुतः उसमें अनेकत्व नहीं है क्योंकि जो अनेक होता है वह एक ही समय में अनेक विषयों में प्रवृत्त होता है।[1]"

न्यायदर्शन में भी युगपदज्ञानोपत्ति का अभाव ही मन का ज्ञापक लिंग कहा गया है।[2] वैशेषिक सूत्रों में आत्मेन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर भी ज्ञान का भाव तथा अभाव मन का लिंग बताया गया है।[3] ज्ञानयोग पद्यादैकं मनः। न्या० सू० ३।२।५७ तथा 'प्रयत्नयोगपद्याज्ज्ञानयोगपद्याच्चैकं (वै० सू० ३।२।३) सूत्रों से स्पष्ट है कि मन के एकत्व सम्बन्ध आयुर्वेदिक मान्यता से न्याय तथा वैशेषिक दर्शन भी सहमत है।

---

१. स्वार्थेन्द्रियार्थ संकल्प्य व्यभिचरणाच्चानेकमेकस्मिन् पुरुषे सत्वं रजस्तमः सत्वगुण-योगाच्च, न चानेकत्वम् अनेकमेककालमनेकेषु प्रवर्तते न ह्येकं ह्येककालमनेकेषु प्रवर्तते।—च० सू० ८।५

२. युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम्।—न्या० सू० १।१।१६

३. आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्।
— वै० सू० ३।२।१

युगपदज्ञानोत्पत्ति का अभाव होने के कारण मन को अणु माना जाता है। यदि मन को आत्मा के समान विभु माना जाय तो एक होने पर भी, सर्व शरीर व्यापी होने के कारण सभी इन्द्रियों से युगपद् सन्निकर्ष होने पर युगपतशब्दादिज्ञानोत्पत्ति का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा। चूंकि इन्द्रियाँ एक काल में एक ही अर्थ को ग्रहण करती है अतः मन का एकत्व तथा अणुत्व सिद्ध होता है, इन्द्रियाँ मन से अधिष्ठित होकर ही विषय ज्ञान में प्रवृत्त होती है, इसलिए जिस समय मन चक्षु को अधिष्ठित करता है, एक तथा अणु होने के कारण उसी समय घ्राणादि को अधिष्ठित नहीं कर सकता। न्याय वैशेषिक दर्शनों में "यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु" (न्या० सू० ३।२। ५९) तथा "तदभावादणुमनः" (वै० सू० ६।१।१३) इत्यादि सूत्रों से तथा "अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहीष्यते" (न्या० सि० मु० ८५) विश्वनाथ की इस कारिका से मन के अणुत्व के विषय में चिकित्साग्रन्थों का ऐकमत्य सिद्ध होता है।

मन के कार्य

मन के प्रायः दो रूप हमारे सामने आते हैं—एक तो वाह्येन्द्रियानुग्राहक का रूप तथा दूसरा अन्तरिन्द्रिय का रूप। वाह्येन्द्रियानुग्राहक के रूप में वह इन्द्रियों को अर्थ ग्रहण में सहायता पहुँचाता है तथा अन्तरिन्द्रिय के रूप में अपनी ही विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त कराने में आत्मा को सहायता पहुँचाता है।

उक्त विवरण के अनुसार मन के दो प्रमुख कार्य हुए—वाह्य संसार तथा आत्मा के बीच सम्पर्क स्थापित कराना अर्थात् ज्ञानोपलब्धि में आत्मा का सहायक होना और अपनी अणुता के कारण स्वयं अपनी ही क्रियाओं का नियंत्रण करना। मन के कार्यों पर प्रकाश डालते हुए महर्षि चरक ने कहा है—"इन्द्रियों में अधिष्ठित होकर उनका संचालन करना, स्वयं अपने को ही अपने से अहित विषयों की ओर जाने से रोकना, ऊह तथा विचार करना ये मन के कर्म हैं। इसके बाद बुद्धि प्रवर्तित होती है।[1] विषयग्रहण के लिए प्रवृत्त हुई इन्द्रिय मन से अधिष्ठित होकर ही विषय ज्ञान में समर्थ होती है, अतः मन के कर्मों में सर्वप्रिय कर्म इन्द्रियाभिग्रह है।[2] जब मन हानिकारक विषयों में प्रवृत्त होता है तो उसका नियमन स्वयं मन के द्वारा ही सम्पादित होता है। यह मन का दूसरा कार्य है। धृति का विनाश होने पर मनुष्य का मन विषयाभिमुख हो जाता है, ऐसी स्थिति में मन का नियंत्रण अत्यन्त

---

१. इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः।
ऊहो विचारश्च ततः बुद्धिः प्रवर्तते ॥—च० शा० १।२१

२. यदीन्द्रियाणामभिग्राहकं च मन इत्यभिधीयते ॥—च० शा० ३।१९

दुष्कर हो जाता है। परन्तु धृति का अवलम्बन लेकर उसका नियमन किया जा सकता है क्योंकि धृति नियमात्मिका है। मन का तीसरा कर्म ऊह अर्थात् आलोचनात्मक निर्विकल्पक ज्ञान है तथा चौंथा कर्म है विचार करना। इसके बाद बुद्धि व्यवसाय करती है[1] कि मैं इसका ग्रहण करूँ या न करूँ।

मन उभयेन्द्रिय है

सांख्य तथा न्यायदर्शन की भांति संस्कृत चिकित्सा ग्रन्थों में मन को इन्द्रिय माना गया है। इन्द्रियों के साथ ही मन का भी परिगणन किया गया है[2] परन्तु मन सामान्य इन्द्रिय नहीं है, क्योंकि जहाँ श्रोत्रेन्द्रियादि (ज्ञानेन्द्रिय) तथा वाक् (कर्मेन्द्रिय) इत्यादि अपने-अपने निश्चित कर्म करती हैं वहीं मन उभयेन्द्रिय है। अर्थात् यह ज्ञानेन्द्रिय भी है तथा कर्मेन्द्रिय भी है। क्योंकि उसके आश्रय से दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ अपना कार्य करती हैं। इस प्रकार से आयुर्वेद ने दर्शन की परम्परा का पालन करते हुए मन को उभयात्मक[3] इन्द्रिय ही माना है क्योंकि वह एक ओर जहाँ आन्तरिक स्थितियों का बोधक कराने में सहायक होता है वहीं दूसरी ओर कार्य के सम्पादन में भी।

मन और शरीर

व्याधिकीय दृष्टि से देखने पर मन तथा शरीर का गहरा सम्बन्ध प्रतीत होता है। मानसिक विकृतियाँ शारीरिक व्याधियों को और शारीरिक विकृतियां मानसिक रोगों को उत्पन्न करती हैं। मानसिक रोग में शारीरिक लक्षण तथा शारीरिक रोग में मानसिक लक्षण पाए जाते हैं।

अपनी कार्यकारिता के लिए अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र होते हुए भी इन दोनों के सम्बन्ध को अनादि तथा अनन्त माना है। उन्हीं के शब्दों में—"शरीर और मन के सम्बन्ध की परम्परा को आदि नहीं कहा गया है, इसका आदि सम्भवतः है भी

---

१. इन्द्रियाभिग्रहः इन्द्रियाधिष्ठानं मनसः कर्म तथा स्वस्य निग्रहो मनसः कर्म, मनो ह्यनिष्टविषयप्रसृतम् मनसैव नियम्यते "मनसश्च गुणान्तरयुक्तं सद्विषयान्तर-नियमयति" इत्याहुरेके। ऊहो विचारश्चेति। अत्रोह आलोचनं ज्ञानं निर्विकल्पकं, विचारो हेयोपादेयतया विकल्पनम्।—च० शा० १।२१ पर चक्रपाणि

२. करणानि मनो बुद्धि बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च।—च० सू० २६।४३

३. उभयात्मकं मनः।—सु० शा० १।४
उभयात्मकं बुद्धयात्मकं कर्मात्मकं च। बुद्धीन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च मनोऽधिष्ठितानामेव।—डल्हण

नहीं । मन अपेक्षाकृत सूक्ष्म है, शरीर स्थूल । मन में सत्व की प्रधानता अधिक है और शरीर में रज तथा तम की । मन की गति सूक्ष्म है, शरीर की स्थूल । आयुर्वेद का अधिकरणभूत चिकित्स्य पुरुष के घटकत्रय में से प्रथम घटक सत्व (मन) का विवेचन हो गया है । अब द्वितीय घटक शरीर का विवेचन किया जाएगा । भारतीय वाङ्मय में दो प्रकार के शरीरों की कल्पना की गयी है—स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर । सूक्ष्म शरीर का विवेचन इसी अध्याय में आगे किया जाएगा । प्रस्तुत स्थल में हमारा वर्ण्य विषय स्थूल शरीर ही है । स्थूल शरीर के समुचित ज्ञान के बिना आयुर्वेद दर्शन अधूरा माना जाता है क्योंकि आयुर्वेद का जो अधिकरण रूप चिकित्स्य-पुरुष है उसका मूल शरीर है । इसीलिए तो उसको शरीरमूलक कहा गया है ।[1] शरीर का विनाश होने पर चिकित्स्य पुरुष का भी विनाश हो जाता है । शरीर का महत्व हमारे जीवन दर्शन में इसलिए भी है क्योंकि वह धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष सभी साध्यों का साधन हैं ।[2] स्पष्ट है कि शरीर के बिना भोग तथा मोक्ष सम्भव नहीं है । इसीलिए आचार्य ने कहा है "जो चिकित्सक पुरुष सर्वदा सब प्रकार से सम्पूर्ण शरीर को जानता है, वह चिकित्सक ही सम्पूर्ण लोक को सुख प्रदान करने वाले आयुर्वेद को पूर्ण रूप से जानता है ।[3]

शरीर का लक्षण

आयुर्वेद के अनुसार समस्त चेष्टाओं, इन्द्रियों, मन और आत्मा के आधारभूत पाञ्चभौतिक पिण्ड को स्थूल शरीर कहते हैं । चिकित्सा ग्रन्थों में स्थूल शरीर का विवेचन करते हुए बताया गया है, "शरीर चेतना का अधिष्ठानभूत है, पञ्चमहाभूतों का विकार रूपरसादि धातुओं का समुदाय ही उसका स्वरूप है, यह समयोगवाही है ।"[4] चक्रपाणि का कथन है कि "चेतनाधिष्ठानभूत में भूत पद को उपमान के अर्थ में ग्रहण करना चाहिए[5] अर्थात् शरीर चेतना का अधिष्ठान जैसा है । आत्मगत चेतना

---

१. शरीर ह्यस्य मूलम् । शरीर मूलस्य पुरुषो भवति ।—च० नि० ६।७

२. शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम् ।—रघुवंश

३. शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद योभिषक् ।
आयुर्वेदं स कात्स्न्येंन वेद लोक सुखप्रदम् ॥—च० शा० ६।१९

४. तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठान भूतं पञ्चमहाभूत विकारसमुदायात्मक समयोग-वाहि ।—च० शा० ६।४

५. ········भूत शब्द उपमाने । तेन चेतनायाः आत्मसम्बन्धिन्याः शरीर एवोपलभ्या-त्मनः शरीरमधिष्ठानमिति भवति, परमार्थतस्तु चेतनात्माश्रया, आत्मा च निरा-श्रय एव ।—च० शा० ६।४ पर चक्रपाणि

की उपलब्धि चूंकि शरीर में होती है इसलिए शरीर को उसका अधिष्ठान कहा गया है। पारमार्थिक दृष्टि से चेतना का आश्रय आत्मा है और आत्मा का आश्रय कोई भी नहीं है प्रत्युत आत्मा ही अन्य सभी भावपदार्थों का अधिष्ठान या आश्रय है।

उपर्युक्तविवेचन से स्थूल शरीर की विशेषताओं का परिगणन हम इस प्रकार कर सकते हैं—

१—शरीर पञ्चभूतात्मक है।
२—शरीर चेतना का अधिष्ठान है।
३—शरीर उत्पत्ति एवं मरणधर्मा है।
४—शरीर अवयवी है।
५—शरीर समयोगवाही है।

अब हम इन सभी विशेषताओं का विवेचन क्रमशः करेंगे।

शरीर पञ्चभूतात्मक है—आयुर्वेद के अनुसार सृष्टि के सारे पदार्थ पञ्चभूतात्मक हैं। वे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के सूक्ष्म परमाणुओं के सम्मिश्रण से बने हैं। स्थूल शरीर भी इन्हीं से निर्मित है। स्थूल शरीर के भौतिक आधार रज एवं शुक्र भी इन्हीं से युक्त हैं। सुश्रुत ने रज को प्रधानतया आग्नेय और शुक्र को प्रधानतः सौम्य कहा है[1] पर चरक ने शुक्र को पृथ्वी, जल, तेज और वायु से गुणों से युक्त माना है।[2] सर्वव्यापी आकाश का योग उसमें शुक्र-क्षरण के समय होता है। भिन्न-भिन्न प्राणियों के शुक्र तथा रज में पञ्चमहाभूतों का अनुपात भी भिन्न-भिन्न होता है, अतः शुक्र तथा रज से उत्पन्न होने वाले प्राणियों में भी महाभूतों के अनुपात अथवा मिश्रण में भिन्नता पायी जाती है। मिश्रण की यह भिन्नता प्राणियों की प्रकृति, उनके शील, गुणों में भी भिन्नता उत्पन्न कर देती है। इसीलिए प्राणियों की प्रकृति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं।

स्थूल शरीर इन पञ्चमहाभूतों से ही उपजता है। पाञ्चभौतिक आहार द्रव्यों से शरीर में पाञ्चभौतिक धातु सप्तक (रस, रक्त, मांस, भेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र)

---

१. आर्तवं शोणितं त्वाग्नेयमग्नीषोमीययत्वाद गर्भस्थ।
पाञ्चभौतिकं त्वपरे जीवरक्तमाहुराचार्य्याः॥
विस्रता द्रवता रागः स्पन्दनं लघुता तथा।
भूयादीनां गुणा ह्येते दृश्यन्ते चात्र शोणिते॥—सू० सू० १४-८-१०

२. शुक्रं तदस्य प्रवदन्ति धीरा यद्धीयते गर्भ समुद्भवाय।
वाय्यग्निभूम्यब्गुणपादवत्तत् षड्भ्यो रसेभ्यः प्रभवश्च तस्य॥—च० शा० २-४

का आविर्भाव होता है तथा धातु सप्तक के प्रसादांश से पाञ्चभौतिक इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इन्हीं के आश्रय से पनपता है और अन्ततः इन्हीं में विलीन हो जाता है।

आयुर्वेद के आचार्यों ने यह भी बतलाया है कि प्राणियों के शरीर का कौन-कौन सा अवयव किस महाभूत से बनता है। इस सम्बन्ध में चरक, सुश्रुत, तथा काश्यप के मतों को नीचे का तालिका में देखा जा सकता है।

चरक[1]

आकाशीय विकार	वायवीय विकार	आग्नेय विकार	जलीय विकार	पार्थिव विकार
शब्द	स्पर्श	रूप	रस	गन्ध
श्रोत्र	स्पर्शन	दर्शन	रसन	घ्राण
लघुता	रूक्षता	प्रकाश	शीतलता	गुरुता
सूक्ष्मता	प्रेरण	पाचन	मृदुता	स्थिरता
विवेक	धातु व्यूहन	उष्णता	स्नेह	काठिन्य
	शारीरिक		(चिकनापन) क्लेद	
	चेष्टाएँ			

सुश्रुत[2]

शब्द	स्पर्श	रूप	रस	गन्ध
शब्देन्द्रिय	स्पर्शेन्द्रिय	रूपेन्द्रिय	रसेन्द्रिय	गन्धेन्द्रिय
विविक्तता	चेष्टाएँ	वर्ण	सर्व द्रवसमूह	सर्व मूर्तसमूह
सर्वच्छिद्रसमूह	स्पन्दन	सन्ताप	गुरुता	गुरुता
	लघुता	भ्राजिष्णुता	शैत्य	
		पाचन	स्नेह	
		अमर्ष		
		तीक्ष्णता	शुक्र	
		शौर्य		

---

१. तत्रास्याकाशात्मकं शब्दः श्रोतं लाघवं सौक्ष्म्यं विवेकश्च, वाय्वात्मकं स्पर्शः, स्पर्शनं रौक्ष्यं प्रेरणं धातुव्यूहनं चेष्टाश्च शारीर्यः, अग्न्यात्मकं रूपं दर्शनं प्रकाशः पक्तिरौष्ण्यं च, अबात्मक रसो, रसनं शैत्यं मार्दवं स्नेहः क्लेदश्च, पृथिव्यात्मकं गन्धो घ्राणं गौरवं स्थैर्यम् मूर्तिश्चेति।—च० शा० ४-१२

२. आन्तरिक्षा :—शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च, वायव्यास्तुस्पर्शः स्पर्शेन्द्रियं सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च, तैजसास्तुरूपं रूपेन्द्रियं

काश्यप[1]

शब्द	स्पर्श	रूप	रस	गन्ध
श्रोत्र	स्पर्शन	चक्षुरिन्द्रिय	रसनेन्द्रिय	घ्राणेन्द्रिय
लाघव	रूक्षता	प्रकाश	शीतलता	गुरुता
सूक्ष्मता	प्रेरणा	पित्त	मृदुता	स्थिरता
विवेक	धातु व्यूहन	पाचन	द्रवता	मूर्तता
मुख	प्राण	उष्मा	स्नेह	
कण्ठ	अपान	शरीर-वृद्धि	क्लेद, कफ, भेद	
कोष्ठ	शारीरिक चेष्टाएं		रक्त, मांस, शुक्र	

शरीर की पाञ्चभौतिकता का सिद्धान्त अद्वैतवेदान्त[2] तथा सांख्य[3] दर्शन को भी मान्य है। किन्तु न्याय दर्शन में शरीर को एक भौतिक माना गया है। उनके अनुसार पृथ्वी लोक में यह शरीर पार्थिव होता है।[4] अन्य लोकों में आप्स, तैजस

वर्णः सन्तापो भ्राजिष्णुता पक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं शौर्यं च, आप्यास्तुरसो रसनेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहो गुरुता शैत्यं स्नेहो रेतश्च, पार्थिवास्तुगन्धो गन्धेन्द्रियं सर्वमूर्तसमूहो गुरुता चेति।—सु॰ शा॰ १।१९

१. कश्यप उवाच—गर्भस्य खलु भो शब्दश्च श्रोत्रं च लाघवं च सौक्ष्म्यं च विवेकश्च मुखं च कण्ठश्च कोष्ठं चाकाशात्मकानि भवन्ति, स्पर्शश्च स्पर्शनं च रौक्ष्यं च प्रेरणं च धातुव्यूहनं च प्राणश्चापानश्च शरीरचेष्टा च वायवात्मकानि भवन्ति, रूपं च चक्षुश्च प्रकाशश्च पित्त च पंक्तिचोष्मा च शरीरवृद्धिश्च तैजसानि भवन्ति, रसश्च रसनं च शैत्यं च मार्दवं च द्रवश्च स्नेहश्च क्लेदश्चश्लेष्मा च मेदश्च रक्तं च शुक्रं चाप्यानि भवन्ति, गन्धश्च घ्राणं च गौरवं च स्थैर्यं च मूर्तिश्च पार्थिवानि भवन्ति।—का॰ शा॰

२. एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यो····लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्वर्तिचतुर्विध स्थूल शरीराणां तदुचितानामन्न पानादीनां चोत्पत्तिर्भवति।—वेदान्त सारः

३. पाञ्चभौतिको देहः।—सांख्य सूत्र ३।१७
तु॰—स्थूल शरीरादि का पाञ्चभौतिकत्व ही सांख्य सिद्धान्त है।
—डा॰ आद्या प्रसाद मिश्र 'सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा', पृ॰ ३३८

४. पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धे।—न्या॰ सू॰ ३।१।२७

तथा वायव्य शरीर भी पाए जाते हैं।[1] शरीर पार्थिव है, इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि पृथ्वी ही (शरीरक) समवायिकारण है। परन्तु इससे शरीर की उत्पत्ति में जलादि अन्य भूतों के संयोग का निषेध नहीं, क्योंकि घट का समवायिकारण मृत्तिका होने पर भी घटोत्पत्ति में जलादि का संयोग अपेक्षित है।[2] इस दृष्टि से विचार करने पर नैयायिकों को भी शरीर की पाञ्चभौतिकता अभीष्ट जान पड़ती है।

शरीर चेतना का अधिष्ठान है

चेतना शब्द प्रायः ज्ञान, संज्ञा, प्रबोध, समझ, प्रज्ञा, जीवन, सजीवता आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। आयुर्वेद में भी 'चेता' शब्द मन के लिए तथा 'चेतना' अथवा 'चैतन्य' जीवन के पर्यावाची शब्दों के रूप में व्यवहृत हुए हैं।

चेतना आत्मा अथवा जीवन का लक्षण है। यह इन्द्रियों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है इसीलिए सेन्द्रिय द्रव्यों के चेतन एवं निरिन्द्रिय द्रव्यों को अचेतन कहा गया है। प्राणी की समस्त चेष्टाएं, चाहे वे शारीरिक हों अथवा मानसिक, चेतना से प्रसूत होती है।

चेतना शरीर के आश्रय से ही प्रकट होती है; उसी के माध्यम से काम करती है। स्थूल शरीर ही चेतना का अधिष्ठान माना जाना जाता है। इस शरीर से पृथक् चेतना के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

शरीर उत्पत्ति एवं मरण धर्मा है

शरीर उत्पन्न होता है, बढ़ता है, विकसित होता है, क्षीण होता है और अन्ततः मृत्यु को प्राप्त होता है। ये शरीर के स्वाभाविक धर्म हैं। शरीर का अर्थ है 'शीर्ण होने वाला'। काय (संचित होने वाला) तथा देह (वृद्धि को प्राप्त होने वाला) आदि इसके पर्याय है।

आयुर्वेद में शुद्ध रज एवं शुक्र से शरीर की उत्पत्ति मानी गयी है। इस संदर्भ में रज तथा आर्तव शब्द मासिक स्त्राव तथा स्त्रीबीज (डिम्बाणु) दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार शुक्र शब्द भी वीर्य तथा शुक्रकीट दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। रतिकाल में रज तथा शुक्र के मिलने पर जब आत्मा मन, इन्द्रियं एवं

१. आप्यतेजसवायव्यानि लोकान्तरे शरीराणि।—वा० भाष्य ३।१२७

२. न त्विदभवादिभिरसम्पृक्तया पृथिव्यारब्धं चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयभावेन कल्पते इत्यतः। पञ्चानां भूतानां संयोगे सति शरीरं भवति। भूत संयोगो हि मिथः पञ्चानां निषिद्ध इति।—वा० भा० ३।१।२७

तन्मात्राओं सहित उसमें प्रवेश कर जाता है तो गर्भ रह जाता है। कुछ आचार्यों ने गर्भ में आकाश का प्रवेश इसी काल में माना है।

सुश्रुत के शब्दों में—"गर्भाशय में स्थित आत्मा, प्रकृति और विकारों से युक्त शुक्र तथा शोणित गर्भ कहलाता है। चेतनायुक्त उस गर्भ में वायु विभजन करती है, तेज पाचन करता है, जल विलन्नता उत्पन्न करता है, पृथिवी उसे ठोस बनाती है तथा आकाश आकार वृद्धि करता है। इस प्रकार परिवर्द्धित हुआ वह गर्भ जब हाथ, पैर, जिह्वा, कान नितम्ब आदि अंगों से युक्त होता है तो उसे शरीर कहते हैं।[1]

उत्पत्ति के बाद प्राणी के विकास की क्रिया अनवरत रूप से चलती रहती है। परिपक्वावस्था तक यह विकास अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाता है। प्रौढ़ावस्था तक उसमें प्रौढ़ता बनी रहती है। बाद में धीरे-धीरे शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों में ह्रास के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगते हैं जिस प्रकार प्राणियों के वृद्धि एवं विकास में वैयक्तिक भिन्नताएँ पाई जाती हैं उसी प्रकार ह्रास में भी वैयक्तिक भिन्नताओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। फिर जरा अवस्था आती है और जरा अवस्था के बाद मृत्यु।

शरीर अवयवी है

शरीर भिन्न-भिन्न अङ्ग एवं उपाङ्गों से मिलकर बना है। मानव शरीर में 'प्रधानः छः अङ्ग हैं—दो हाथ, दो पैर, सिर, ग्रीवा, मध्य शरीर।[2]

शरीर समयोगवाही है

यहाँ योग शब्द मिश्रण अथवा संकलन के अर्थ में व्यवहृत हुआ है आयुर्वेद के मतानुसार हमारे शरीर एवं शारीरिक स्वास्थ्य का आधार दोषों, धातुओं तथा मलों के योग हैं। शरीर इनको सम मात्रा में वहन करने के कारण ही समयोगवाही कहलाता है।

शरीर के वर्णनोपरान्त प्रस्तुत स्थल में गर्भ तथा शरीर का अन्तर बताया जा रहा है। क्योंकि इस सबन्ध में लोक दृष्टि तथा शास्त्र दृष्टि में भेद है। गर्भ वास्तव में शरीर की प्रारम्भिक अवस्था है। पञ्चभूतात्मक शुक्र तथा शोणित के मिश्रीभूत

१. शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसंमूर्च्छितं 'गर्भ' इत्युच्यते। तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति, तेज एव पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथ्वी संहन्ति, आकाशं विवर्धयति, एवं विवर्धितः स यदा हस्तपादजिह्वाघ्राणकर्णनितम्बादिभिरङ्गैरुपेतस्तदा 'शरीरम्' इति संज्ञा लभते।—सु० शा० ५-२

२. तत्रायं शरीरस्याङ्ग विभागः, तद्यथा द्वौ बाहु, द्वे शक्थिनी, शिरो ग्रीवं, अन्तराधिः इति षडङ्गमङ्गम्।—च० शा० ७।५

होने पर 'गर्भ' इस संज्ञा से कहा जाता है।[1] पांच महाभूतों के निज-निज क्रिया से जब गर्भ में क्रमशः हाथ, पैर जिह्वा, नासिका, कर्ण आदि अङ्ग-प्रत्यङ्ग सम्पूर्ण बन जाते हैं तथा आत्या के आश्रयभूत एवं पाँच महाभूतों के विकारभूत रसरक्तादि द्रव्यों के समुदायरूप उसी गर्भ को शरीर कहा जाता है।

आत्मा का अस्तित्व

चिकित्स्य पुरुष के घटकत्रय में से दो घटकों (सत्व, शरीर) के विवेचन के पश्चात् तीसरे घटक आत्मा का वर्णन किया जा रहा है।

आत्मा के अस्तित्व के प्रश्न को लेकर प्राचीन काल से ही विद्वानों के बीच वाक् संघर्ष होता रहा है।

आत्मा के अस्तित्व को न मानने वाले सम्प्रदायों में चार्वाक मतानुयायी सर्वप्रमुख हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार किया है।[2] कठोपनिषद काल में भी आत्मा को न मानने वाले नास्तिक जन थे, तभी तो नचिकेता यमराज से कहता है कुछ लोगों के अनुसार आत्मा है, कुछ लोगों के अनुसार आत्मा नहीं है।[3] संस्कृत के प्रमुख चिकित्सा ग्रंथ चरक संहिता में नास्तिकों का उल्लेख मिलता है। नास्तिकों की निन्दा में तत्पर चरक मुनि का यह कथन द्रष्टव्य है— यदृच्छावाद से उपहृत आत्मा वाले नास्तिक के मत में परीक्षा, परीक्षा का विषय कर्ता, कारण, देवता, ऋषि, सिद्ध, कर्म, कर्म का फल, आत्मा आदि कुछ भी नहीं है। इस प्रकार नास्तिकों का यह ग्रह सभी पापों से बढ़कर महापाप है।[4] ऐसे नास्तिकों के लिए उनका सत्परामर्श है—इसलिए अनुचित अधर्म में फैली हुई इस मति[5] (बुद्धि) का त्याग कर विद्वानों को चाहिए कि सज्जन पुरुषों के बुद्धि स्वरूप दीपक से उचित मार्ग को ठीक-ठीक रूप में देखें या करें। आस्तिक लोगों को नास्तिकों से दूर रहने का आदेश दिया।[6]

---

१. शुक्रशोणितं गर्भाशयास्थमात्मप्रकृतिविकार संमूर्छितं 'गर्भ' इत्युच्यते।.....एवं विवर्द्धितः स यदा हस्तपादजिह्वाघ्राणकर्ण नितम्बादिभिरुपेतस्तदा 'शरीर' इति संज्ञा लभते।—सु० शा० ५।३

२. न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।—सर्वदर्शनसंग्रह

३. अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।—कठ० १।१।२०

४. नास्तिस्यास्ति नैवात्मा यदृच्छोपहतात्मनः।
पाकेभ्यः परम् चैतत् पातकं नास्तिकग्रहः ॥—च० सू० ११।१५

५. एतामिति नास्तिक बुद्धिं।—वही, चक्रपाणि

६. तस्मान्मतिं विमुच्यताम मार्गप्रसृतां बुधः।
सतां बुद्धिप्रदीपेन पश्येत् सर्वं यथा तथाम् ॥—वही ११।१६

आत्मा के अस्तित्व का जो वर्णन हमें चिकित्सा ग्रंथों में उपलब्ध होता है वह केवल पूर्वों का अनुकरण मात्र नहीं है अपितु यह प्रमाणों से भलीभाँति प्रमाणित है। चरकसंहिता के वचन हैं—"जिन प्रमाणों से सभी प्रमेय विषयों को जाना जाता है उन्हीं सभी प्रमाणों से आत्मा को भी माना जाता है।[1]"

अनुभव इस बात का साक्षी है कि जब सचेतन शरीर आत्मा से शून्य हो जाता तो शरीर की समस्त क्रियायें समाप्त हो जाती हैं तथा शरीर मृत हो जाता है। यदि देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व नहीं स्वीकार किया जाएगा तो शरीर में आत्मा का निर्गमन होने के पश्चात् शरीर द्वारा क्रियायें सम्पादित होने का प्रसङ्ग उठ जाएगा, जबकि ऐसा नहीं होता अतः देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व तो अनुभव सिद्ध है। देहातिरिक्त आत्मा के सद्भाव निरूपण में भगवान आत्रेय के वचन प्रमाण हैं—"इन्द्रियों की अन्यान्यता स्पष्ट है अर्थात् ज्ञान की द्वारभूत इन्द्रिया अनेक हैं, यह स्पष्ट है किन्तु कर्ता भोक्ता यही एक आत्मा है। इस प्रकार समस्त कर्मों का कारण करणों से युक्त कर्ता आत्मा ही है। अहंकार, कर्म, कर्मफल, देहान्तर गमन, विगत भावों का स्मरण इन सबमें देह के अतिरिक्त कोई अन्य कारण है तथा वह कारण केवल आत्मा है।[2] भावों के विनाश में निमेषकाल से भी शीघ्रकाल ही लगता है। जब ये शरीरादि भाव नष्ट हो जाते हैं तब उनकी उत्पत्ति फिर से नहीं हो सकती, किये हुए यागादि कर्मों का फल दूसरा नहीं प्राप्त कर सकता यह विद्वानों का मत है। अतः प्राणियों की क्रिया में तथा उनके फल भोगने में नित्यपुरुष नामक आत्मा कारण होता है। प्राणियों के देह से अतिरिक्त कारण (आत्मा) को स्वीकार करने पर ही अहंकार फल, कर्म देहान्तरगति, स्मरण शक्ति आदि सफल होंगे अर्थात् ये रह सकते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि देह व्यतिरिक्त आत्मा है।

---

१. कारणं पुरुषः सर्वैप्रमाणैरुपलभ्यते।
येभ्यः प्रमेयं सर्वेभ्यः आगमेभ्यः प्रमीयते ॥—च० शा० १।४५

२. करणान्यता दृष्टा कर्तुः कर्ता स एव तु।
कर्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम्।
निमेष कालाद भावानां कालः शीघ्रतरोऽत्यये।
भग्नानां न पुनर्भावः कृतं नान्यमुपैति च ॥
मतं तत्त्वविदामेतद्यस्मात् तस्मात् स कारणम्।
क्रियोपभोगे भूतानां नित्यः पुरुष संज्ञकः।
अहंकार फलं कर्म देहान्तरगतिः स्मृतिः।
विद्यते सति भूतानां कारणे देहमन्तरा ॥—च० शा० १।४९-५२

उपर्युक्त प्रमाण द्वारा देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया गया है जो लोग शरीर तथा आत्मा को अभिन्न मानते हैं। उनकी धारणा का खण्डन उपरोक्त वचनों से किया गया है। आचार्य का कथन है कि शरीर में मग्न हुए अवयवों का सन्धान अथवा संरोहण क्रिया शरीर की सचेतनावस्था में ही सम्भव है। चेतना से शून्य मृत शरीर में भग्न अवयवों का सन्धान नहीं किया जा सकता। अतः इसका अनुमान होता है कि देहातिरिक्त कोई तत्व है जो उपरोक्त क्रिया में कारण है। वही द्रव्य आत्मा ही है। जब शरीर से आत्मा निकल जाती है तब यह शून्यागार और अचेतन हो जाता है तथा आत्मा के चले जाने पर पाँच महाभूत शरीर में रह जाते हैं। अतः यह पञ्चतत्व प्राप्त कहलाता है। अतः शरीर से अतिरिक्त आत्मा है।[१]

विपक्षी यह कह सकता है कि इन्द्रियाँ ही आत्मा है परन्तु यह धारणा सत्य से परे हैं। इन्द्रियाँ स्वयं ज्ञानरूप नहीं हैं। आत्मा हो ज्ञान रूप है। इन्द्रियाँ आत्मा के ज्ञान में साधन अवश्य है। यह तथ्य अनुभव से सिद्ध है कि अतीत में इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा को ज्ञान होने पर तथा भविष्य में दुर्घटनावश उस ज्ञान-साधन इन्द्रियों के उपहत होने पर भी इन्द्रियज्ञान नष्ट नहीं होता। उस इन्द्रिय के द्वारा पूर्वकाल में उपार्जित ज्ञान की स्मृति उस इन्द्रिय के विनष्ट हो जाने पर भी आत्मा को सतत बनी रहती है। हम सृष्टि-प्रकिया के अध्याय में पहले सिद्ध कर चुके हैं कि इन्द्रियां भौतिक है। अतः इन्द्रियों का आत्मत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः यह इन्द्रियों से भिन्न है।[२] क्योंकि इन्द्रियाँ दर्शन के साधन हैं, किन्तु द्रष्टा नहीं है। इन्द्रियाँ बुद्धि में परिवर्तन लाती हैं। पुरुष बुद्धि से भिन्न हैं क्योंकि बुद्धि अचेतन है। हमारे अनुभवों की एक इकाई सुसंघटित होना आत्मा की उपस्थिति के कारण है, जो भिन्न-भिन्न चेतन अवस्थाओं को एकत्र रखती है। विशुद्ध आत्मा ही आत्मा है जो शरीर तथा प्रकृति से भिन्न है।[३] यह परिवर्तन के अधीन होता तो ज्ञान असम्भव होता।

संस्कृत के चिकित्सा-ग्रंथों में निरात्मवादी बौद्ध का भी खण्डन किया गया है। बौद्ध दार्शनिक आत्मा के अस्तित्व को न मानकर विज्ञानवाद की स्थापना करते हैं। विज्ञानवाद में प्रत्येक पदार्थ केवल एक क्षण रहता है। अगले क्षण में वह उस क्षण के वैशिष्ट्य के युक्त होकर वह पदार्थ नहीं रह जाता बल्कि अन्य हो जाता है।

---

१. शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्।
पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते॥—च० शा० १।७४

२. सां० प्रवचन सूत्र २-२९

३. सां० प्रवचन सूत्र ६-१-२

जलधारा में प्रवाहित होता हुआ एक स्थान में पहले क्षण का जल दूसरे क्षण नहीं रहता बल्कि अन्य ही हो जाता है परन्तु नैरन्तर्य सादृश्य तथा सातत्य के कारण वह एक ही प्रतीत होता है वैसे प्रत्येक पदार्थ भी प्रत्येक क्षण में भिन्न होते हुए भी एक जैसे लगते हैं। इस बौद्ध मत की स्थापना करते हुए भगवान आत्रेय कहते हैं—"ये जो सब भाव पदार्थ हैं वे ही नहीं बने रहते हैं अपितु क्षण-क्षण में परम्परा से उत्पन्न होकर उनके समान ही दूसरे नये-नये पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं, उनका भी स्वरूप पहले वाले के सदृश होने से वे वही हैं ऐसा माना जाता है। इन क्षणिक भावों का सन्तान परम्परा रूप समुदाय ही वह विना उनके किसी स्वामी के 'सत्व' सा प्राणी संज्ञा से कहा जाता है। वह पुरुष कर्ता भोक्ता नहीं है ऐसा कुछ लोगों का मत है।[1] बौद्धों के क्षणिक विज्ञानवाद (निरात्मवाद) सिद्धान्त का दूषण करते हुए आचार्य कहते हैं—जो लोग आत्मा को नहीं मानते हैं, उनके मत में दूसरे व्यक्ति के किए हुए कर्म का फल परम्परा ज्ञान से सदृश (अपने समान धर्म वाले) दूसरा व्यक्ति भोग करने लगेगा।[2] तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त क्षणभङ्गवादी सिद्धान्त के अनुसार अन्य पुरुष के द्वारा पकाया हुआ भात अन्य खाने लगेगा। यह असंगत है। क्योंकि 'इस कार्य के फल का भोग करूँगा'—इस भावी फल की आशा से ही व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है दूसरे के भोग के लिए कोई नहीं प्रवर्तित होता। यदि यह कहा जाय कि उपकार आदि दूसरे के लिए प्रवर्तित होते हैं। अतः आत्मा को क्षणिक मानने पर कृतविप्रणाश तथा अकृताभ्युपगम दोष उत्पन्न होते हैं। आचार्य शंकर भी बौद्धमत के विचार के साथ इस अंश में सहमत है कि सब वस्तुएँ बराबर परिवर्तित होती रहती हैं, वहाँ वे एक इन्द्रियातीत यथार्थसत्ता की मांग करते हैं जो परिवर्तनशील जगत के अन्तर्गत नहीं है। यहां तक कि यदि हम समस्त जगत् को काल्पनिक ही मान लें तो भी उस कल्पना का कुछ न कुछ आधार होना आवश्यक है।[3] किसी 'भावात्मक' के कारण से ही हम अभावात्मक बहिष्कार करते हैं। 'कोई वस्तु नहीं है' इसका तात्पर्य यह है कि किसी भावात्मक वस्तु का अस्तित्व भी अवश्य है। जहाँ कहीं हम

१. न ते तत्सदृशास्त्वन्ये पारम्पर्य समुत्थिताः।
सारुप्याद्येत एवेति निदिश्यन्ते नवाःनवाः।
भावास्तेषां समुदयो निरीशः सत्वसंज्ञक।
कर्ता भोक्ता न सपुमानिति केचिद्व्यवस्थिताः ॥—च० सं० शा० १।४५-४६

२. तेषामन्यैः कृतस्यान्ये भावा भावैर्नवा फलम्।
भुञ्जते सदृशाः प्राप्तं यैरात्मा नोपदिश्यते ॥—वही १।४७

३. सर्वकल्पनामूलत्वात्।—शा० भाष्य ३।२।२२

किसी वस्तु का उसे अयथार्थ समझकर निराकरण करते हैं तो हम ऐसा किसी अन्य यथार्थसत्ता के सम्बन्ध से ही करते हैं।[1]

बौद्ध मत का खण्डन कर अपने मत को स्थापित करते हुए कहते हैं—'कर्ता जिन कारणों की सहायता से कार्य करते हैं वे बदलते रहते हैं परन्तु कर्ता वही रहता है। वह एक ही कर्ता (आत्मा) करणों से युक्त होता है तथा सभी कर्मों का कारण होता रहता है।[2] इस प्रकार आत्मा चक्षुरादि अनेक करणों से कार्य करता है। ये चक्षुरादि इन्द्रियाँ बदलती रहती हैं परन्तु वह आत्मा नहीं बदलता अतः एक स्थायी आत्मा के स्थायी अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ेगा।

कर्मपुरुष के स्वरूप को ठीक-ठीक समझने के लिए शरीर, इन्द्रिय, (इन्द्रियों का वर्णन पिछले अध्याय में किया गया है), मन तथा आत्मा के स्वरूप को समझना आवश्यक है। हमने इसी अध्याय की पूर्वपंक्तियों में यह कहा था ये कर्मपुरुष के घटक हैं। घटकों के स्वरूप को समझे बिना कर्मपुरुष के स्वरूप को समझना संभव ही नहीं है अतः कर्मपुरुष के घटकों का विस्तृत विवेचन किया गया है। अब प्रस्तुत स्थल में हम पुनः घटकों के समष्टि रूप कर्म पुरुष का वर्णन करेंगे।

इस कर्म पुरुष को राशिपुरुष के नाम से जाना जाता है। इसको 'संयोग पुरुष'[3] भी कहते हैं क्योंकि यह सत्व, आत्मा तथा शरीर के संयोग से उत्पन्न होता है। इस संयोग को पुरुष इसलिए कहते हैं क्योंकि यह आयुर्वेद के प्रतिपाद्य शरीर-रोग इसी संयोग में होते हैं तथा सम्पूर्ण चिकित्सा इसी संयोगजन्य पुरुष को लक्ष्य में रखकर इसी को विषय मान कर होती है। जिस प्रकार तिपाई पर घड़ा आदि रहते हैं, उसी प्रकार इस पुरुष में ही कर्म, कर्मों का फल, सुख-दुःख, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि का ज्ञान, इनका अज्ञान, जन्म-मरण तथा ममत्व रहते हैं, अकेला परम आत्मा या आतिवाहिक पुरुष न किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, न कोई भी कर्म कर सकता है, न ही कर्मों का भोग ही कर सकता है।

धातुभेद से यह राशिपुरुष दो प्रकार का होता है—

(१) षड्धात्वात्मक पुरुष।

(२) चतुर्विंशतिधात्वात्मक पुरुष।

---

१. वही

२. करणान्यान्यता दृष्ट्वा कर्तुः कर्त्ता स एव तु।
कर्त्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम् ॥—च० शा० १।४६

३. च० शा० १।८५

(१) **षड्धात्वात्मक पुरुष**—आकाशादि पाँच महाभूत तथा छठवीं चेतना यह षड्धातुक पुरुष कहा गया है।[1] छः धातुएँ (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश तथा अव्यक्त ब्रह्म) ये मिलकर 'पुरुष' शब्द को प्राप्त होते हैं।[2] छः धातुओं का समुदाय ही सम्पूर्ण लोक है।[3] 'लोक' शब्द से यहाँ पर पुरुष से ही अभिप्राय है।[4]

गर्भ किससे निर्मित होता है? इसका उत्तर देते हुए भगवान् आत्रेय कहते हैं—गर्भ आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी इन पञ्चमहाभूतों का विकार है तथा चेतना का आश्रयभूत है। इसी युक्ति से पञ्चमहाभूतों के विकारों का समुदायात्मक तथा चेतनाधातु का आश्रयभूत गर्भ होता। गर्भ में पञ्चमहाभूत से पाँच धातु कहे जाते हैं, गर्भ की छठवीं धातु चेतना कही जाती है, अतः यह कर्मपुरुष षड्धात्वात्मक होता है।[5] छः धातुओं के संयोग से गर्भ की उत्पत्ति होती है। महर्षि सुश्रुत ने कहा है—पञ्चमहाभूत तथा आत्मा के संयोग को ही 'पुरुष' कहते हैं।[6] इस विषय में यह विशेष रूप से जानना चाहिए कि यह संयोग जङ्गम प्राणिमात्र में पाया जाता है तथा इस लक्षण के अनुसार प्राणिमात्र 'पुरुष' शब्द से वाच्य है तथापि चिकित्सा विज्ञान मनुष्य को लक्ष्य में रखकर बनाया गया है। सृष्टि के मनुष्येतर अन्य सब स्थावर जङ्गम पदार्थ मनुष्यों के उपकरणभूत हैं तथा मनुष्य उनका उपकार्य है, अतः 'पुरुष' शब्द से आयुर्वेद में मनुष्य (नर तथा नारी दोनों) का ही ग्रहण मुख्यतया होता है।[7]

---

१. खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।—च० शा० १।१६-१७

२. पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमिति। एते च एव षड्धातवः समुदिताः 'पुरुष' इति शब्दं लभन्ते।—च० शा० ५।४

३. षड्धातुसमुदायो हि सामान्यतः सर्वलोकः।—च० शा० ५।७

४. लोकशब्देनेह लोक इति कृत्वा पुरुष एवोच्यते, न जगद्रूपो लोकः।
—वही, चक्रपाणि

५. गर्भस्तु खल्वन्तरिक्षवाय्वग्नितोयभूमिविकारश्चेतनाधिष्ठानभूतः। एवमनया युक्त्या पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मको गर्भश्चेतनाधिष्ठानभूतः स ह्यस्य षष्ठो धातुरुक्तः।—च० शा० ४।६

६. अस्मिञ्छास्त्रे षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।—च० शा० १।२१

७. अत्र 'पुरुष' इति कर्तव्ये यत् पुरुषसंज्ञकः इति करोति तेन न चेतनाधातुरूपः पुरुषश्चिकित्सामभिप्रेतः, किन्तु शास्त्रान्तरव्यवहारानुरोधादिहाप्ययं पुरुषशब्देन संज्ञित इति दर्शयति। चिकित्साविषयस्तु षड्धातुक एव पुरुषः, अतएव तत्र संज्ञितग्रहणम् न कृतम्। अयं च पुरुषशब्दो गवादावपि षड्धातुसमुदाये वर्तते,

इस चिकित्स्य-पुरुष की उत्पत्ति कैसे हुयी ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए चरकसंहिता में कहा गया है—"आद्य सांख्याचार्यों के द्वारा चिकित्सा के लिए उपयोगी इस राशिपुरुष की पूर्ण परीक्षा करने के बाद यह 'षड्धातुज' है ऐसा माना है।[1] 'सांख्यराद्यै' पद से सांख्य शब्द का क्या अर्थ ग्रहण किया जाय ? यह एक समस्या है। 'सांख्य' पद का तात्पर्य 'सांख्यदर्शन के अनुयायी' तथा 'तत्ववेत्ता' दोनों ही होते हैं। यदि हम 'सांख्य' का तात्पर्य 'सांख्य समुदाय के अनुयायी'—ऐसा ग्रहण करते हैं, तो यह मत सांख्य दर्शन का हो जायेगा। अतः हमको 'सांख्य' शब्द से 'तत्ववेत्ता' यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए जिससे कि कोई समस्या नहीं रहे जायेगी।

षड्धात्वात्मक पुरुष का निर्माण कैसे हुआ ? इस सम्बन्ध में चरक-संहिताकार का कथन है—"जो पुरुष की मूर्ति (काठिन्य) है, वह पृथ्वी है, जो क्लेद है वह जल है, जो अभिसन्ताप है वह तेज है, जो वह प्राण है वह वायु है, जो सुषिर (छिद्र अवकाश) है वह आकाश है तथा ब्रह्म (चेतना धातु) इस पुरुष का अन्तरात्मा है।[2]

(२) **चतुर्विंशतिधात्वात्मक पुरुष**—पुनः धातु-भेद से वह पुरुष चौबीस तत्वों वाला कहा गया है। मन, दश इन्द्रियाँ, अर्थ (पाँचमहाभूत) तथा अव्यक्त, महान्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ कुल मिलाकर चौबीस तत्व होते हैं।[3]

तथापि सर्वप्रधाननर एव विशेषेण वर्तते, तेन नातिप्रसिद्धो गवादीपुरुषशब्दः।

—च० शा० १।१६ पर चक्रपाणि

तुलनीय—यद्यप्यत्र पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति सामान्येन पुरुषशब्देन पश्वादिरपि वाच्यः, तथापि मनुष्यजातिरेवात्र पुरुषशब्देनोच्यते, तस्योपकार्यत्वात्, इतरस्य चाप्रधान्यम्, उपकरणत्वात्। अत एवाह तस्योपकरणमन्यदिति। तस्य मनुष्यजातेः पुरुषस्य, अन्यत् स्थावरसंस्वेदजाति उपकरणम्।

—सु० शां० १।२१ पर डल्हण

१. षड्धातुजस्तु पुरुषो रोगाः षड्धातुजस्तथा।
राशिषड्धातुजो ह्येष सांख्यैराद्यैप्रकीर्तितः ॥—च० सू० २६।१५

२. तस्य पुरुषस्य पृथिवी मूर्तिः, आपः क्लेदः, तेजोऽभिसन्तापः, वायुप्राणः, बियत् सुषिराणि, ब्रह्ममन्तरात्मा।—च० शा० ५।५

३. पुनश्चधातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः।
मनो दशेन्द्रियाण्यार्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी ॥—च० शा० १।१७

बुद्धि, इन्द्रिय (पाँच कर्मेन्द्रिय तथा पाँच ज्ञानेन्द्रिय), मन, अर्थ इनके योग (संयोग अर्थात मिलाप) को धारण करने वाले को 'पर' जानना चाहिए। इस चतुर्विंशतितत्वराशि को 'पुरुष' कहते हैं।[1] राशिपुरुष का उपर्युक्त स्वरूप सांख्य दर्शन से भिन्न नहीं है किन्तु सांख्य दर्शन का जो स्वरूप हमें सांख्यकारिका में उपलब्ध होता है उसमें पच्चीस पदार्थ बताये गये हैं।[2] इससे सिद्ध होता है कि चतुर्विंशतिधात्वात्मक पुरुष की धारणा का स्त्रोत ईश्वरकृष्ण की कारिका नहीं है, प्रत्युत महाभारतादि अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों में निरूपित सांख्य इस धारणा का मूल स्त्रोत हो सकता है। सांख्य कारिका में अव्यक्त नाम वाली मूल प्रकृति से पुरुष को सर्वथा पृथक् बताया गया है, इसलिए पदार्थों की संख्या पच्चीस हो गई है। किन्तु महाभारत में अव्यक्त को पुरुष से उत्पन्न होने वाला तथा पुरुष में ही विलीन होने वाला कहा है[3] तथा पुरुष के लिए 'अव्यक्त' शब्द का प्रयोग भी किया गया है।[4] पुरुष तथा अव्यक्त के इस तादात्म्य को आयुर्वेद में भी प्रस्तुत स्थल पर 'अव्यक्त' से पुरुष तथा उसकी आत्मभूता मूल प्रकृति को एकत्वेन ग्रहण करके केवल चौबीस धातुएं ही गिनाई हैं। अन्यत्र भी कई स्थलों पर "अव्यक्त शब्द का प्रयोग पुरुष या आत्मा के लिए किया गया है।[5] चरक के अनुसार जो इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य है, वह व्यक्त है, तथा उससे भिन्न जो अतीन्द्रिय है, तथा जिसका ज्ञान लिङ्गों से होता है, वह अव्यक्त है।[6] इस परिभाषा के अनुसार मूल प्रकृति तथा पुरुष दोनों ही अव्यक्त सिद्ध होते हैं। पुरुष को अव्यक्त के अतिरिक्त तीन स्थानों पर 'प्रधान' कहा गया है, क्योंकि वह चेतन होने के कारण शरीरादि का प्रयोक्ता अर्थात् प्रेरक है।[7] इससे यह सिद्ध होता है कि प्रधान तथा अव्यक्त इत्यादि शब्दों से ग्राह्य जिस मूल प्रकृति को परवर्ती सांख्य में पुरुष से सर्वथा भिन्न माना गया है वह मूल प्रकृति चिकित्सा ग्रन्थों में पुरुषों की अव्याकृत

१. बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्यायोगधरं परम्।
चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः ।।—च० शा० १।३५
२. सां० का० ३
३. तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम।—महा० १२।३४२।३२ तथा
अव्यक्तं पुरुषं ब्रह्मनिर्गुण सम्प्रलीयते।—महा० १२।३४७।३१
४. अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।—गीता २।२५
५. च० शा० १।६०, ६१, ६२ तथा ४।८
६. व्यक्तमैन्द्रियकं चैव गृह्यते तद्यदिन्द्रियैः।
अतोऽन्यत् पुनरव्यक्तं लिंगग्राह्यमतीन्द्रियम्।।—च० शा० १।६२
७. च० शा० ४।८, ७।१८

(अव्यक्त) सर्जन शक्ति होने के कारण उससे अभिन्न रूप में सृष्टि का मूल मानी गयी है।[1]

यह चतुर्विशतिराशिपुरुष पूर्वोक्त चिकित्स्य पुरुष, कर्मपुरुष, संयोग पुरुष से भिन्न नहीं हैं अपितु उपर्युक्त समस्तपुरुष एक ही हैं। संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों में इसी पुरुष को स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न संज्ञा द्वारा व्यवहार किये जाने के कारण भिन्नता सी प्रतीत होती है, जबकि है नहीं। किसी भी संज्ञा का व्यवहार होने के बावजूद भी चिकित्सा का अधिकरणभूत चिकित्स्य पुरुष एक ही है। यह संज्ञा भेद विभिन्न दृष्टि से की गई व्याख्याओं के कारण है। छः धातुओं का संयोग या समुदाय बताये जाने पर यह 'षड्धात्वात्मक पुरुष' कहा जाता है तथा चौबीस तत्वों की राशि बताये जाने पर यह 'चतुर्विशतिकपुरुष' कहलाता है। इस प्रकार से यह एक ही सचेतन स्थूल-भौतिक शरीर युक्त पुरुष विभिन्न दृष्टि से की गई व्याख्याओं के कारण भिन्न-भिन्न संज्ञाओं को धारण करता है। वैशेषिक दर्शन में पुरुष शब्द की व्याख्या निम्न प्रकार से की गयी है—"आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी—ये पाँच महाभूत अर्थात् आत्मा (चेतना धातु) इन छः धातुओं के समुदाय संयोग को पुरुष कहते हैं।[2]"

कर्मपुरुष की उत्पत्ति

यह कर्मपुरुष हेतुज है।[3] चरकसंहिता में हमें एक गोष्ठी का वर्णन मिलता है जिसमें कर्मपुरुष तथा उसके रोगों की उत्पत्ति के वास्तविक कारण के निर्णयार्थ चर्चा हुयी थी। उस गोष्ठी में मौद्गल्य पारीक्षि ने आत्मा को कर्मपुरुष तथा रोगों का कारण बताया। उनके मतानुसार आत्मा ही कर्म को करता है तथा उसके कर्म के फलों को भोगता है बिना आत्मा के सुख दुःख की प्रवृत्ति नहीं होती। शरलोमा

---

१. सर्वज्ञेश्वरस्यात्मभूत इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसार-प्रपंचबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते।
—ब्र० सू० शां० २।१।१४

तुलनीय—मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु माहेश्वरम्।—श्वेता ४।१०

२. वैशेषिक सूत्र

३. पारीक्षिस्तत् परीक्ष्याग्रे मौद्गल्यो वाक्यमब्रवीत्।
आत्मजः पुरुषो रोगाश्चात्मजा कारणं हि सः॥
स चिनोत्युपभुङ्क्ते च कर्म कर्मफलानि च।
ह्यृते चेतनाधातोः प्रवृत्तिः सुखदुःखयोः॥—च० सू० २५।८-९

ने कहा—यह कहना उचित नहीं है, दुःख से द्वेष करने वाला आत्मा स्वयं अपने आप को दुःख देने वाले रोगों से युक्त करेगा ? यह कदापि संभव नहीं है इसलिए सत्वसंज्ञक मन जब रज तथा तम से युक्त होता है तो वह शरीर तथा रोगों की उत्पत्ति में कारण होता है।[1] वायोर्विद ने अपना पक्ष उपस्थित करते हुए कहा कि यह कहना उचित नहीं है केवल एक मन न शरीर की उत्पत्ति में कारण है, न रोगों की उत्पत्ति में है तथा शरीर के बिना न शारीरिक रोगों की स्थिति रहेगी न मन की स्थिति। इसलिए प्राणिमात्र रस से उत्पन्न होते हैं तथा अनेक प्रकार के रोग भी रस के कारण ही उत्पन्न होते हैं। जल रस युक्त होता है तथा वही प्राणियों को तथा रोगों की उत्पत्ति में कारण है।[2] वायोर्विद के वचन सुनकर हिरण्याक्ष ने कहा—कि यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि 'आत्मा रस से उत्पन्न होता है' ऐसा नहीं माना जाता तथा मन अतीन्द्रिय है उसकी उत्पत्ति भी रस से नहीं हो सकती, यदि रस से रोगों की उत्पत्ति मानी जाय तो यह कहना भी उचित नहीं क्योंकि असात्म्य शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध से भी रोगों की उत्पत्ति होती है। षड्धातु से पुरुष की उत्पत्ति तथा षड्धातु से ही रोगों की भी उत्पत्ति होती है। प्राचीन विद्वानों ने चिकित्सा के लिए उपयोगी इस राशिपुरुष की पूर्ण परीक्षा के अनन्तर 'षड्धातुज' ऐसा माना है।[3] ऐसा कहते हुए कुशिक (हिरण्याक्ष) से कौशिक ने कहा कि यह कहना उचित नहीं क्योंकि माता-पिता के बिना षड्धातु से उत्पत्ति कैसे होगी ? पुरुष से पुरुष, बैल से बैल, घोड़ा से घोड़ा तथा प्रमेह आदि रोग पिता से होते हैं, अतः पुरुष तथा रोग की उत्पत्ति में माता

---

१. शरलोमा तु नेत्याह न ह्यात्माऽऽत्मानमात्मना।
योजयेद्व्याधिभिर्दुःखैर्दुःखद्वेषी कदाचन॥
रजस्तमोभ्यां तु मनः परीतं सत्वसंज्ञकम्।
शरीरस्य समुत्पत्तौ विकाराणां च कारणम्॥—वही १०-११

२. वायोर्विदस्तु नेत्याह य ह्येकं कारणं मनः।
नर्ते शरीराच्छारीररोगा न मनसः स्थितिः॥
रजसानि तु भूतानि व्याधयश्च पृथग्विधाः।
आपो हि रसवत्यस्ताः स्मृता निर्वृत्तिहेतवः॥—वही १२-१३

३. हिरण्याक्षस्तु नेत्याह न ह्यात्मा रसजः स्मृतः।
नातीन्द्रियं मनः सन्तिः रोगाः शब्दादिस्तथा॥
षड्धातुजस्तु पुरुषो रोगाः षड्धातुजास्तथा।
राशिः षड्धातुजो ह्येष सांख्यैराद्यैः प्रकीर्तितः॥—च० सू० २५।१४-१५

पिता कारण है।[1] भद्रकाप्य ने कहा कि ऐसा नहीं है क्योंकि अन्धे से अन्धा उत्पन्न नहीं होता है तथा तुम्हारे मत में माता पिता की सृष्टि से पहले उत्पत्ति नहीं हो सकती। अत: जीवमात्र कर्म से उत्पन्न माना जाता है तथा उसके रोग भी कर्मज माने जाते हैं क्योंकि कर्म के बिना रोगों अथवा पुरुषों की उत्पत्ति नहीं हो सकती।[2] भद्रकाप्य के वचन को सुनकर भरद्वाज ने कहा कि कर्म से पुरुष तथा रोग की उत्पत्ति मानना उचित नहीं है क्योंकि कर्म करने के पहले कर्त्ता का होना आवश्यक है। बिना कर्त्ता के पूर्व में रहे कर्म की उत्पत्ति नहीं होती है। जिस कर्म के फलरूप में पुरुष की उत्पत्ति होती है। अत: व्याधि तथा पुरुष दोनों की उत्पत्ति का कारण स्वभाव है जिस प्रकार पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि इन भाव पदार्थों में खरत्व, द्रवत्व, चलत्व तथा उष्णत्व स्वभावत: उत्पन्न होते हैं।[3] स्वभाववादी भरद्वाज के वचन को सुनकर कांकायन ने कहा कि स्वभाव से ही रोग तथा सभी पदार्थों की उत्पत्ति अथवा अनुत्पत्ति हो तो प्रयोजन विशेष से किये गये अन्य व्यापारों का कोई महत्व ही नहीं रह जायेगा। अत: इस सृष्टिमात्र तथा पुरुष एवं रोगों की उत्पत्ति के (कारण हैं) ब्रह्मा के पुत्र प्रजापति जिनका संकल्प अपरिमित है और जो इसे चेतन अचेतन जगत के और सुख दु:ख के कर्त्ता हैं।[4] कांकायन के इस वचन को सुनकर आत्रेय भिक्षु ने कहा कि ब्रह्मा के

---

१. तथा ब्रुवाणं कुशिकमाह तन्नेति कौशिक:।
कस्मान्मातापितृभ्यां हि बिना षड्धातुजो भवेत्।
पुरुष: पुरुषाद्गौगौरश्वादश्व: प्रजायते।
पित्र्या मेहादयश्चोक्त रोगास्तावत्र कारणम्॥—वही १६-१७

२. भद्रकाप्यस्तु नेत्याह नह्यन्धोऽन्धात् प्रजायते।
मातापित्रोरपि च ते प्रागुत्पत्तिर्न युज्यते।
कर्मजस्तु मतो जन्तु: कर्मजास्तस्य चामया:।
न ह्यृते कर्मणो जन्म रोगाणां पुरुषस्य वा॥—वही १८-१९

३. भरद्वाजस्तु नेत्याह कर्त्ता पूर्वं हि कर्मण:।
दृष्टं न चाकृतं कर्म यस्य स्यात् पुरुष: फलम्।
भावहेतु: स्वभावस्तु व्याधीनां पुरुषस्य च।
खरद्रवचलोष्णत्वं तेजोऽन्ताना यथैव हि॥—च० सू० २५।२०-२१

४. काङ्कायनस्तु नेत्याह नह्यारम्भफलं भवेत्।
भवेत् स्वभावाद्भावानामसिद्धि: सिद्धिरेव वा।
स्रष्टा त्वमितसंकल्पो ब्रह्मापत्यं प्रजापति:।
चेतनाचेतनस्यास्य जगत: सुखदु:खयो:॥—च० सं० सू० २५।२२-२३

पुत्र प्रजापति दुःख के कर्त्ता नहीं माने जा सकते क्योंकि प्रजापति को पुरुष की उत्पत्ति में कारण माना जाय तो प्रजापति की प्रजा सभी प्राणी होंगे। पिता पुत्र की सदा हितकामना करता है तो सन्तानों के हित चाहने वाले प्रजापति अपनी सन्तानों में दुष्ट मनुष्यों के समान दुःख का संयोग नहीं कर सकते हैं। अतः रोग तथा पुरुष की उत्पत्ति में काल कारण है यह सम्पूर्ण जगत काल के ही वशीभूत है तथा सभी प्रकार के कार्यों के होने में काल ही कारण है।[1]

इन ९ महर्षियों के विवादयुक्त वचनों को सुनकर आचार्य पुनर्वसु ने कहा कि आप लोग इस तरह मत कहिए क्योंकि अपने-अपने पक्षों का आश्रय लेकर विवाद करने पर तत्व की प्राप्ति अर्थात सिद्धान्त का निर्णय नहीं हो पाता। वाद तथा प्रतिवाद को निश्चित सिद्धान्त की तरह कहते हुए किसी एक पक्ष का अन्त नहीं हो सकता जैसे कि तेल पेरने वाला मनुष्य घूमता हुआ किस स्थान से प्रथम बार भ्रमण करना प्रारम्भ करता है उस स्थान पर पुनः आ जाता है। उसी प्रकार जो किसी भी एक पक्ष की आग्रहपूर्वक स्थापना करता है वह वाद विवाद करते हुए अन्य पक्ष का खण्डन-मण्डन करते हुए पुनः वह अपने पक्ष पर ही चला आता है चाहे उसका पक्ष उचित हो या अनुचित। इसलिए वाद विवाद की प्रक्रिया का परित्याग कर अध्यात्म (निश्चित सिद्धान्त) की चिन्ता करनी चाहिए क्योंकि जब तक अज्ञानरूपी तम का नाश नहीं होता तब तक ज्ञान करने योग्य सिद्धान्त विषयों का ज्ञान नहीं होता। कर्मपुरुष तथा रोगों की उत्पत्ति के विषय में आत्रेय पुनर्वसु का सिद्धान्त यह है—जिन भावों की सम्पत्ति पुरुष की उत्पत्ति में कारण है उन्हीं भावों की विपत्ति अनेक प्रकार के रोगो को उत्पन्न करती है।[2]

---

१. तन्नेति भिक्षुरात्रेयो नह्यपत्यं प्रजापतिः।
प्रजाहितैषी सततं दुःखैर्युञ्ज्यादसाधुवत्।
कालजस्त्वेव पुरुषः कालजातस्य चामयाः।
जगत् कालवशं सर्वं कालः सर्वत्र कारणम्॥—वही २४-२५

२. तथर्षीणां विवदतामुवाचेदं पुनर्वसुः।
मैवं वोचत तत्वं हि दुष्प्रापं पक्षसंश्रयात्॥
वादान् सप्रतिवादान् हि वदन्तो निश्चितानिव।
पक्षान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीडकवद्गतौ॥
मुक्त्वैवं वादसंघट्टमध्यात्मनुचिन्त्यताम्।
नाविधूते तमःस्कन्धे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते॥
येषामेव हि भावानां संपत् संजनयेन्नरम्।
तेषामेव विपद्व्याधीन् विविधानि समुदीरयेत्॥—च० सू० २५।२६-२९

भगवान् पुनर्वसु के उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि राशिपुरुष की उत्पत्ति किसी एक कारण से नहीं अपितु अनेक कारणों से होती है। आत्मा, मन, रस, षड्धातु, माता, पिता, कर्म, स्वभाव तथा काल इत्यादि सभी सम्मिलित कारणों से कर्मपुरुष की उत्पत्ति होती है। अन्य स्थल में भी स्वयं आचार्य ने कहा है—माता, पिता, आत्मा, सात्म्य रस तथा सत्व इन भावों के समुदाय से कर्मपुरुष की निष्पत्ति होती है।

कर्मपुरुष का स्वरूप

कर्मपुरुष के गुण सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्राणवायु को धारण करना, अपनी वायु का छोड़ना, उन्मेष, निमेष, बुद्धि, मनः संकल्प, विचारणा, स्मरण करना, विज्ञान, अध्यवसाय तथा विषयोपलब्धि हैं। उपर्युक्त गुणों में मन के अनुकूल होने वाला दुःख है। किसी वस्तु की अभिलाषा इच्छा है। अतीत होना द्वेष हैं। कार्य करने के लिए उद्योग करना उत्साह है। मुख में संचार करने वाली वायु 'प्राणवायु' है। पक्वाशय में रहकर, नीचे की ओर जाने वाली 'अपान' वायु है। उन्मेष 'आँख का खोलना' तथा 'निमेष' आँख का बन्द करना है, निश्चयात्मिका बुद्धि है, मन का कर्म संकल्प है। तर्क वितर्क करके वस्तु का निश्चय करना विचारणा है। 'स्मृति' अर्थात प्रथम अनुभव किये हुए अर्थ का स्मरण करना, 'विज्ञान' अर्थात् शिल्प शास्त्रादिकों का ज्ञान रखना, 'अध्यवसाय' निश्चयपूर्वक काम करने का उद्योग करना, 'विषय' जो शब्दादि उनकी उपलब्धि अर्थात् प्राप्ति (विषयों का ज्ञान) होना इस प्रकार कर्मपुरुष के १६ गुण हैं, इन्हें कला भी कहते हैं।[1]

यह कर्मपुरुष उत्पत्तिधर्मा होने से अनित्य है। जो पदार्थ सत् अर्थात् भावरूप तथा अकारणवान् अर्थात कारणरहित होता है, वह नित्य होता है। इसके विपरीत जो भावरूप पदार्थ हेतुज अर्थात कारणवान होता है वह अनित्य देखा जाता है।[2] किसी पदार्थ के नित्य होने के लिए यह आवश्यक है कि वह भावरूप हो, तथा कारण-रहित हो। इसलिए प्रागभाव में इस लक्षण की अतिव्याप्ति भी नहीं हो सकती क्योंकि प्रागभाव अकारणवान तो है परन्तु भावरूप नहीं है। यही अत्यन्ताभाव के विषय में भी कहा जा सकता है। प्रध्वंसाभाव तो न ही कारणरहित है तथा न ही भावरूप ही है अतः उसकी नित्यता संभव ही नहीं है। प्रस्तुत स्थल में विवेचित

---

१. तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेष बुद्धिर्मनः संकल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः।—सु० सं० १।२२

२. सदृकराणवन्नित्यं दृष्टं हेतुजमन्यथा।—च० शा० १।५९
तुलनीय—'सदकारणवन्नित्यम्'।—वै० सू० ४।१।१

कर्मपुरुष भावरूप होने के साथ-साथ कारणजन्य भी है। अतः घटपटादिवत अनित्य है। उत्पत्तिधर्मा होने के कारण यह कर्मपुरुष नित्य आत्मा के समान अव्यक्त तथा अगोचर नहीं हैं वरन् व्यक्त तथा इन्द्रियगोचर है। इस कर्मपुरुष में रहते हुए भी आत्मा अजन्मा, अविनाशी तथा अव्यक्त ही रहता है। इससे सिद्ध होता है कि जन्म, मरण, विकृति, अनित्यत्वादि अचेतन शरीरादि से ही संवद्ध है।

शरीर की उत्पत्ति होने पर कर्मपुरुष की उत्पत्ति होती है तथा शरीर का विनाश होने पर कर्मपुरुष का विनाश हो जाता है। आत्मा तथा मन का जन्म मरण न होने पर शरीरमात्र के जन्ममरण से जन्म तथा मरण माना जाता है। यह कर्मपुरुष ही रोगयुक्त होकर चिकित्सा का विषय बनता है। इसीलिए कहा गया है—आत्मा में सुखदुःखादि विशेष नहीं होते। संयोगपुरुष (कर्मपुरुष) में ही वेदनाकृत विशेषता होती है। जिस चौबीसतत्वात्मक शरीर में वेदना नियत अर्थात व्यवस्थित है, उस शरीर में ही वेदनाजन्य दीनता या हर्ष नियतरूप से होता है।[1]

यह कर्मपुरुष कर्त्ता तथा भोक्ता भी है। कर्तृत्व भोक्तृत्वादि सब कुछ संयोग से ही होता है, संयोग के बिना कुछ भी नहीं।[2] क्योंकि शरीरेन्द्रियादि के बिना अकेला भूतात्मा न तो कर्म ही कर सकता है न ही उसका फल ही भोग सकता है, उपर्युक्त संयोग से ही यह आत्मा कर्म करता है तथा उनका फल भोगता है।[3] कर्म तथा उसका फल इसी कर्म में प्रतिष्ठित है। विषयज्ञान भी इसी के आश्रित है। ममता, सुख-दुःख तथा जीवन-मरण सब इसी में आश्रित हैं। जो भिषक् इस कर्मपुरुष को इस प्रकार तत्व से जानता है, वही जीवन तथा मरण को, शरीर परम्परा को, चिकित्सा को तथा जो कुछ भी ज्ञातव्य है उस सबको यथार्थरूप से जानता है।[4]

---

१. संयोगपुरुषस्येष्टो विशेषो वेदनाकृतः।
वेदना यत्र नियता विशेषस्तत्र तत्कृतः॥—च० शा० १।८५

२. नैकः प्रवर्तते कर्त्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम्।
संयोगाद् वर्तते सर्वं तमृते नास्ति किञ्चन॥—च० शा० १।५७

३. स चिनोत्युपभुङ्क्ते च कर्मफलानि च।—च० सू० २५।६
तुलनीय—'आत्मेन्द्रियमनोर्युक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः'।—कठो० १।३।४

४. अत्र कर्मफलं चात्र ज्ञानं मात्र प्रतिष्ठितम्। अत्र मोहः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता। एवं यो वेद तत्वेन स वेद प्रलयोदयौ। पारम्पर्यं चिकित्सा च ज्ञातव्यं यच्च किञ्चन।—च० शा० १।३७-३८

इस कर्मपुरुष को जीवात्मा भी कहते हैं। जीवात्मा को इन्द्रियों के संयोग तथा शरीर द्वारा सीमित होने से 'आत्मा' से पृथक रूप में पहचाना जाता है।[१] विज्ञानभिक्षु का कहना है कि अहंकारसहित 'पुरुष' जीव है, पुरुष अपने आप में जीव नहीं है।[२] विशुद्ध आत्मा बुद्धि से परे रहती है परन्तु जब यह नहीं जानते कि आत्मा बुद्धि से परे है तथा लक्षण तथा ज्ञान में इससे भिन्न है तब बुद्धि को ही आत्मा समझ लेते हैं।[३] प्रत्येक बुद्धि, इन्द्रियों के साथ लिए हुए, अपने पूर्वकर्मों के अनुकूल निर्मित यह एक पृथक संस्थान है।[४] इस प्रकार लौकिक जीवात्मा स्वतन्त्र-आत्मा तथा यंत्र-न्यास, पुरुष तथा प्रकृति का सम्मिश्रण है। जीव (कर्मपुरुष) संकीर्ण है तथा परिमित जीवन वाला है। परन्तु जीव का संकीर्ण तथा परिमित जीवन आत्मा तथा पुरुष के तात्विक स्वरूप के कारण नहीं है। यह इसके अपने आदिम क्षेत्र से च्युत होने का परिणाम है।

आतिवाहिक पुरुष

आत्मतत्व के जिज्ञासु महर्षियों के अन्तःकरण में जिज्ञासा के रूप में यह प्रश्न समुद्भूत हुआ कि आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में कैसे प्रवेश करता है?[५] तब उन्होंने समाधिस्थ होकर अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा इस तथ्य का अवलोकन किया कि भौतिक शरीर के पञ्चत्व प्राप्ति के अनन्तर आत्मा अपने लिङ्ग (सूक्ष्म शरीर) के साथ शरीर के बाहर निकलता है तथा जन्म के समय इसी लिङ्ग शरीर के साथ संयुक्त होकर नवीन शरीर (गर्भ) में प्रवेश करता है। यह लिङ्ग शरीर अत्यन्त सूक्ष्म होता है। अतः यह नेत्रेन्द्रिय गोचर नहीं होता केवल दिव्य-दृष्टि के द्वारा ही उसका स्वरूप-दर्शन सम्भव है।[६] सूक्ष्म शरीर या लिङ्ग शरीर युक्त आत्मा को 'आतिवाहिक पुरुष' भी कहा जाता है।

यद्यपि आत्मा निष्क्रिय है पर मन द्वारा किए गए शुभाशुभ का भोक्ता आत्मा ही होता है। अतः शुभाशुभ कर्म के वशीभूत आत्मा स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र,

---

१. सा० प्र० सू०, वृत्ति ६।३३

२. सां० प्र० भाष्य ६।३३

३. मो० सू० २।६

४. सां० प्र० भा० २।४६

५. देहात् कथं देहमुपेति चान्यम्। आत्मा सदा कैरनुबध्यते च।—च० शा० २।२८

६. भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवोदेहमुपैतिदेहात्।
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं बिना दर्शनमस्ति रूपम्॥—च० शा० २।३१

रसतन्मात्र तथा गन्धतन्मात्र इन अतीन्द्रिय सूक्ष्म चार महाभूतों तथा मन के साथ नाना योनियों में गमन करती है। सूक्ष्म शरीर में रहता हुआ आत्मा धर्म, अधर्म, कर्ता, सुख, सुख एक फलों का भोक्ता एवं राग, द्वेष, काम, क्रोध, जन्म-मरण आदि से आविष्ट होता है।

मैथुन द्वारा शुक्र तथा शोणित का समूर्च्छन होने पर तत्क्षण यह सूक्ष्म शरीर अपने पूर्व मृत शरीर को छोड़कर उत्पन्न होने वाले नए गर्भ के शरीर में प्रवेश करता है। पिछली पंक्तियों में इस सूक्ष्म शरीर को चार महाभूतों से निर्मित बताया गया है। क्योंकि स्वयं शुक्र चार तत्व वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी से निर्मित है, आकाश इसका अंग नहीं है, परन्तु इसके स्खलित होते ही आकाश इससे युक्त हो जाता है क्योंकि आकाश का अन्तरिक्ष सर्वव्यापी है जो शुक्र स्खलित होता है और गर्भाशय में प्रवेश करता है वह वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के सम भागों द्वारा निर्मित है। आकाश शुक्र से गर्भाशय में मिश्रित हो जाता है, क्योंकि स्वयं आकाश सर्वत्र विद्यमान है और इसकी अपनी कोई गति नहीं है।[1] शुक्र छः प्रकार के रसों का परिणाम है परन्तु गर्भ की उत्पत्ति सामान्यतः पिता के शुक्र एवं माता के शोणित के संयोग से ही नहीं हो सकती। ऐसा संयोग गर्भ की उत्पत्ति केवल तभी कर सकता है जबकि वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी तथा मनस् से निर्मित अपने सूक्ष्म शरीर से युक्त आत्मा कर्मों द्वारा उससे सम्बद्ध होता है। यद्यपि आत्मा के सूक्ष्म शरीर के निर्माता चार तत्वों को सर्गो का सामान्य हेतु बताया गया है फिर भी वे बच्चे के मुख्य-मुख्य शारीरिक आकार-प्रकारों के निर्माण में योगदान नहीं कर सकते।[2] जो तत्व सामान्य आकार प्रकार में योगदान करते हैं उनका परिगणन इस प्रकार किया जा सकता है—(१) शोणित, (२) शुक्र, (३) प्रत्येक व्यक्ति के कर्म। मानसिक-लक्षण व्यक्ति के पूर्वजन्म की मानसिक स्थिति के द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। यदि जीवन की पूर्व अवस्था देवता की थी तो बच्चे का मन शुद्ध तथा उत्साहपूर्ण होगा जबकि यदि पशु की हो तो मन अशुद्ध तथा जड़ होगा।[3]

---

१. आकाशं तु यद्यपि शुक्रे पाञ्चभौतिकेऽस्ति तथापि न पुरुष शरीरान्निर्गत्य गर्भाशयं गच्छति। किन्तु भूतचतुष्टमेव क्रियावद्याति आकाशकं तु व्यापकतमेव तत्रागतेन शुक्रेण सम्बद्धं भवति।—चरक संहिता

२. यानि त्वात्मनि सूक्ष्माणि भूतानि आतिवाहिकरुपाणि तानि सर्वसाधारणत्वेन अभिशेषसादृश्यकारणानीति, नेह बोद्धव्यानि।—वही

३. तेषां विशेषद् बलवन्ति यानि।
भवन्ति मातापितृकर्मजानि॥

शुक्र तथा शोणित शरीरोत्पत्ति के कारण रूप में केवल तभी कार्य कर सकते हैं, जब वे म्रियमाण प्राणी की पूर्वदेह से स्थानान्तरित सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं।[1] सुश्रुत का कहना है कि उस समय अत्यन्त सूक्ष्म, शाश्वत, चेतनावान् सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति होती है।[2] परन्तु बाद में सुश्रुत ने अपने कथन का संशोधन इस प्रकार किया है कि आत्मा सूक्ष्म भूतात्मा के साथ-साथ ही संयुक्त शुक्र-शोणित के सम्पर्क में आता है।[3] एक अन्य स्थल में कुछ भिन्न वर्णन प्राप्त होता है जिसमें यह कहा गया है कि वर्धमान गर्भ के उपकरण अग्नि, सोम, सत्व, रजस, तमस, पञ्चेन्द्रियां तथा भूतात्मा हैं—ये सब गर्भ के जीवन में योगदान करते हैं और इनको प्राण भी कहा जाता है। इसकी व्याख्या करते हुए डल्हण का कथन है कि यहाँ पर वर्णित 'अग्नि' ऊष्मा शक्ति है, जिसके पञ्च प्रकार पाचक कार्यों में नामतः भ्राजक (चर्म को कान्तियुक्त करना) आलोचक (देखने की सामर्थ्य) रक्त को रञ्जित करने, बौद्धिक-व्यापार और विभिन्न धारक तत्वों यथा रुधिर इत्यादि की रचना और कार्य से सम्बद्ध ऊष्मा व्यापार में अपने को प्रकट करता है। सोम सारे जलीय तत्वों यथा श्लेष्मा, रस, शुक्र इत्यादि की और रसनेन्द्रिय की मूलशक्ति है, वायु, प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान पञ्चविध जीवन कार्यों को क्रियान्वित करने वाले तत्व का प्रतिनिधित्व करता है। डल्हण आगे कहते हैं कि सत्व, रजस और तमस ये सम्बन्धित हैं। पञ्चेन्द्रियाँ अपने बोधकारक क्रियाओं के कारण जीवन का हेतु हैं। प्रथम स्थल में जैसाकि प्रदर्शित किया गया था कि जीवन शुक्र तथा शोणित के संयोग का परिणाम है। दूसरे स्थल में शुक्र शोणित को जीवन रूप में विकसित करने के लिए आवश्यक आत्मा के भूतात्मा के साथ सम्बन्ध पर विचार किया गया है। तीसरे स्थल में इनके अलावा पञ्चेन्द्रियों और त्रिगुणों का समावेश किया गया है साथ ही शुक्र-शोणित के स्थान पर अग्नि की तीन मूल शक्तियों और वायु को बताया गया है। वस्तुतः ये

तानि व्यवस्येत सदृशत्वलिंगम्।
सत्वं यथानूकमपि व्यवस्येत्॥—च० शा० २।२७

अनूकं प्राक्तनाव्यवहिता देहजातिस्तेन यथानूकम् इति यो देववशरीराद्व्यवधानेनागत्य भवति स देवसत्वो भवति, इत्यादि।

—च० शा० २।२३-२७ पर चक्रपाणि

१. यद्यपि शुक्ररजसी कारणे, तथापि यदैवातिवाहिकं सूक्ष्मभूतरूपशरीरं प्राप्नुतः, तदैव ते शरीर जनयतः, नान्यथा।—च० शा० २।३६ पर चक्रपाणि

२. सु० शा० १।१६

३. सु० शा० ३।४

तीनों शक्तियाँ न्यूनाधिक, काल्पनिक ही हैं जिन्होंने कई क्रियाओं और शरीर के उपादान कारणों में आत्मसात कर लिया। तीन उत्तरोत्तर स्थलों में इन तीन दृष्टि-कोणों का कारण सिवाय इस कल्पना के कि सुश्रुत के ग्रन्थों की तीन विभिन्न कालों में तीन विभिन्न आवृत्तियाँ हुई हैं, और कोई सन्तोषप्रद हल नहीं है।[1] वाग्भट का कथन है कि ज्यों ही शुक्र तथा शोणित का संयोग होता है राग आदि क्लेशों से विकृत मन से प्रेरित होकर जीव इनके सम्पर्क में आता है।[2]

यह आतिवाहिक पुरुष एक देह से निष्क्रमण तथा अन्य देह में प्रवेश मन की सहायता से ही करता है। मन ही आत्मा का विभिन्न सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों से सम्बन्ध कराता है। सूक्ष्म शरीर के द्वारा वह आत्मा को भोग के साधनभूत स्थूल शरीर से संयुक्त करता है। यही मन अथवा उससे युक्त सूक्ष्म शरीर (मृत्यु काल उपस्थित होने पर) जब स्थूल शरीर को छोड़ने के लिए उद्यत होता है तब पुरुष का स्वभाव तथा रुचियां बदल जाती हैं, सब इन्द्रियाँ विकल हो जाती हैं, बल क्षीण हो जाता है। इस मन के शरीर को छोड़कर चले जाने पर प्राण भी शरीर को छोड़ देते हैं। यही मन अथवा उससे युक्त सूक्ष्म शरीर जो गर्भ शरीर में प्रविष्ट होता है तो गर्भ में चैतन्य के लक्षण उपस्थित होते हैं। इस प्रकार पूर्व शरीर से निर्गमन तथा नवीन शरीर में प्रवेश वस्तुतः मन तथा सूक्ष्म शरीर का ही होता है पर क्योंकि मन की क्रिया का कारण आत्मा है, अतः उसके निर्गम तथा प्रवेश को आत्मा के ही निर्गमन तथा प्रवेश कहने का प्रचार है।[3]

---

१. एस० एन० दास गुप्ता : भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग २, पृ० २९९

२. गतेपुराणे रजसि नवेऽवस्थिते शुद्धे गर्भस्याशये मार्गे च वीजात्मना शुक्लमविकृतम-विकृतेन वायुना प्रेरितमन्यैश्च महाभूतैरनुगतमार्तवेनाभि मूर्च्छितमन्वक्षमेव रागादि क्लेशवसानुवर्तिना स्वकर्मचोदितेन मनोजवेन जीवेनाभिसंसृष्टं गर्भाशयमुपयाति। (अष्टाङ्ग संग्रह) इसकी व्याख्या करते हुए इन्दु का कथन है—वीजात्मना गर्भकारण महाभूतस्वभावेन—सूक्ष्म स्वरूपैः मनस्सहचारिभिस्तन्मात्राख्यैरमहाभूतै रनुगतम् स्त्री क्षेत्रप्राप्त्या कर्मवशादार्तवेन मिश्रीभूतमन्वक्षं मिश्रीभावहीनकालमेव-मनोजवेन जीवेनाभिसंसृष्टं प्राप्तसंयोगं गर्भाशयं शुक्लमुपयाति।

३. मित्यं आत्मानं स्पृशतीति स्पृकशरीरमातिवाहिक शरीरं। तेन स्पृक् शरीरेण कारणभूतेन जीवमात्मरूपमभिसम्बध्नाति भोगायतनशरीरेणेत्यर्थः आतिवाहिक-शरीर सद्भावश्च "भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसुक्ष्मैरमनोजवो देहमुपैति देहात्" (च० शा० २।३१।।) इत्यनेन प्रतिपादितः। किवा जीवमात्मनं स्पृक् शरीरेणेति

आत्मा तथा सूक्ष्म शरीर की यह क्रिया पूर्वकृत कर्मों के कारण होती है।[1] शरीर तथा मन के माध्यम से आत्मा विविध प्रकार के शुभाशुभ कर्मों को करता है। इसके पश्चात उन कर्मों का फल भोगने के लिए उसे पुनः अन्य शरोर को धारण करना पड़ता है। इस प्रकार जिस शरीर को ये धारण करता है वह पूर्व उपार्जित कर्मों का फल हैं फिर प्राप्त हुए नए जन्म में नवीन कर्मों को अर्जित करता है। इस प्रकार यह क्रम सतत चलता रहता है तथा कर्म-बन्धन के वशीभूत आत्मा जन्म मरण के द्वारा नवीन शरीर को धारण तथा पूर्व देह का त्याग करता रहता है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सर्वगत तथा विभु, शुद्ध आत्मा कहीं नहीं जाता। वास्तव में चैतन्य की उपलब्धि से आत्मा 'गया' ऐसा व्यपदेश किया जाता हैं।[2] चरकसंहिता में एक स्थल पर कहा गया है, जो चार महाभूत आत्मा में लीन होकर अर्थात् आत्मा के साथ गर्भ में प्रविष्ट होते हैं। वह बीजधर्मा सूक्ष्म कारणभूत आत्मा चेता धातुस्वरूप आत्मा में जाती हुई शुभाशुभ विभिन्न शरीर में चली जाती हैं।[3] यहाँ 'बीजधर्मा' शब्द से सूक्ष्म लिङ्ग शरीर का ग्रहण किया गया है। वह बीज-धर्मा कर्म के वशीभूत होकर ही चेतना धातु में जब प्रविष्ट होता है तो तत्काल दूसरे शरीर में चला जाता है। जब तक आत्मा मुक्त नहीं होती तब तक लिङ्ग शरीर से युक्त रहती है। स्थूल शरीर को छोड़ने के बाद इसी लिङ्ग शरीर से दूसरे नवीन शरीर में प्रवेश करती है। जैसे सूक्ष्म बीज बड़े से बड़े वृक्ष को पैदा करता है वैसे ही सूक्ष्म-शरीर स्थूल-शरीर को उत्पन्न करता है।

स्पर्शवता शरीरेण, यन्मनोऽभिसम्बध्नाति तदुपपादकमस्तीति योजना। एवं मन्यते मनो आत्मनः शरीर सम्बन्धने स्वीक्रियते तदा व्यापारकत्वादात्मनः सर्वत्रैवोपलब्ध्या भवितव्यं, न च भवति तस्मादत्रैव स्पर्शवति शरीरे मनः प्रतिबद्धं भवति।
—च० शा० ३।१९ पर चक्रपाणि

१. कर्मणा चोदितो येन तदाप्नोतिपुनर्भवे।
अभ्यस्ता पूर्व देहे ये तानेव भजते गुणान्॥—सु० स० २६१

२. यद्यप्यात्मा विभुत्वात् सर्वगतत्वेन न क्वचिदपि याति, तथापि यत्रास्य कर्मवशगमनो याति, तत्रैव चैतन्योपलब्धेरात्मापि इति व्यपदिश्यते इति भावः।
—च० शा० ३।२ पर चक्रपाणि

३. भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि यान्यात्मलीनानि विशन्ति गर्भम्।
स बीजधर्मा ह्यपरापराणि, देहान्तराण्यात्मनि याति याति॥
—च० शा० २।३५

पिछली पंक्तियों में किए गए विवेचन के अनुसार सूक्ष्म रूप से महाभूत सभी आत्मा में रहते हैं तो यह शङ्का हो सकती है कि सम्पूर्ण सृष्टि को एक ही रूप में होना चाहिए। इसका उत्तर देते हुए भगवान् आत्रेय ने कहा है कि स्वरूप और बुद्धि में रज और तम एवं पूर्वजन्मकृत कर्म कारण होते हैं। इसी कर्म के वशीभूत होकर आत्मा जैसी योनि में प्रवेश करती है वैसी ही आकृति तथा बुद्धि प्राप्त करती है।[1] यहाँ पर यह विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि चारों महाभूतों के सूक्ष्मरूप सर्वदा (सृष्टि से प्रलयपर्यन्त) प्रत्येक आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं। सूक्ष्म (इन्द्रियातीत) भूतों के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा सत्व, रज, तम ये तीन गुण भी सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। सूक्ष्म शरीर का विवेचन केवल चिकित्सा ग्रन्थों में ही नहीं उपलब्ध होता अपितु भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं सांख्य, वैशेषिक न्याय एवं वेदान्त में भी है। चरकसंहिता में शारीर स्थान के दूसरे अध्याय में ३६ वें श्लोक की व्याख्या करते हुए टीकाकार चक्रपाणि ने कहा है कि यह सूक्ष्म-शरीर (आतिवाहिक शरीर) का सिद्धान्त "आगम' में वर्णित है, और आगम का अर्थ यहाँ पर सांख्य आगम समझना चाहिये।[2] ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका ३९वें में सूक्ष्म शरीर तथा माता-पिता से प्राप्त शरीर का वर्णन है। सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व तब तक रहता है, जब तक कि मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जाती। सूक्ष्म शरीर प्रत्येक जन्म के समय नवीन स्थूल-शरीर धारण करता है एवं मृत्यु काल में उसका परित्याग कर देता है। यह सूक्ष्म शरीर महत्, अहंकार, एकादश इन्द्रिय और पञ्चमहाभूतों के सूक्ष्म कण द्वारा निर्मित होता है। गुण, दोष और अन्य बौद्धिक विकारों एवं उपलब्धियों को धारण करने वाली बुद्धि के साथ अपने संसर्ग के कारण यह स्वयं उनसे उसी प्रकार सम्बद्ध हो जाता है जैसे कि एक कपड़ा मधुर गन्ध वाले चम्पक पुष्प के सम्पर्क के द्वारा गन्ध ग्रहण कर लेता है। यही कारण है जब तक विवेक ज्ञान के उपरान्त सूक्ष्म शरीर का पार्थक्य बुद्धि से नहीं हो जाता तब तक सूक्ष्म शरीर को पुनर्जन्मों की शृंखला में जकड़ा रहना पड़ता है। वास्तव में सूक्ष्म शरीर को स्वीकार करने की आवश्यकता इसलिये पड़ी क्योंकि अहंकार एवं इन्द्रियों से युक्त बुद्धि का शरीर रूपी अधिष्ठान के अभाव में अस्तित्व नहीं रह सकता। अतः एक मृत्यु से दूसरे जन्म के मध्य के अन्तराल में बुद्धि इत्यादि को एक धारक शरीर की आवश्यकता होती

१. भवन्ति ये त्वाकृतिबुद्धिभेदा रजसतमस तत्र च कर्म हेतुः।—च० शा० २।३६

२. तेन आगमादेव सांख्यदर्शनरूपादातिवाहिक शरीरात्।

—च० शा० २।३६ पर चक्रपाणि

है, यह आधार सूक्ष्म शरीर ही है ।[1] सांख्य प्रवचन भाष्य में कहा गया है कि यह सूक्ष्म शरीर शंकु के सदृश आकार वाला एक वस्तु है जो अंगूठे से अधिक बड़ा नहीं फिर भी यह सारे शरीर में ठीक वैसे ही व्याप्त है जैसे कि एक छोटी ज्वाला अपनी किरणों के द्वारा सारे कमरे में व्याप्त होती है ।[2]

योग तथा न्याय एवं वैशेषिक शास्त्र सूक्ष्म-शरीर-सिद्धान्त को उसी रूप में स्वीकार नहीं करते हैं । उपरोक्त सांख्य मत का खंडन करते हुए व्यास भाष्य का कथन है कि इसके अनुसार किसी घट अथवा प्रासाद स्थित दीपक की किरणों के समान ही, चित्त अपने धारक शरीर की विशालता अथवा लघुता के अनुसार संकुचित अथवा विस्तृत होता है ।[3] व्यास द्वारा प्रतिपादित योगदृष्टि की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र का कथन है कि सांख्यदर्शनाभिमत चित्त संकोच एवं विस्तार मात्र से ही किसी शरीर का मृत्यु-समय पर त्याग नहीं कर सकता और सूक्ष्म (आतिवाहिक) शरीर के माध्यमिक सम्पर्क के बिना अन्य शरीर को धारण नहीं कर सकता । परन्तु, यदि चित्त स्वयं एक देह का त्याग और अन्य का धारण नहीं कर सकता, तो यह अपने आपको मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर से कैसे सम्बद्ध कर सकता है ? यदि यह कार्य किसी अन्य देह के माध्यम से किया जाना है और वह कार्य किसी अन्य के द्वारा तो अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायगा । यदि यह कहा जाय कि चित्त ऐसे सूक्ष्म शरीर से अनादि काल से सम्बद्ध है, तो इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि ऐसे सूक्ष्म शरीर का किसी ने भी प्रत्यक्ष नहीं किया है और न अनुमान के माध्यम से इसे अपरिहार्य रूप से आवश्यक माना जा सकता है, क्योंकि योग का दृष्टिकोण इस अवस्था की व्याख्या ऐसी किसी भी प्रकार के शरीर की कल्पना के बिना ही कर सकता है । चित्त सर्व-व्यापि है और प्रत्येक आत्मा एक पृथक् चित्त से सम्बद्ध है । प्रत्येक चित्त अपने आपको एक विशिष्ट शरीर से इस तथ्य के कारण सम्बद्ध करता है कि इसकी वृत्तियाँ उस शरीर में देखी जाती हैं । इस प्रकार आत्मा के सर्वव्यापी-चित्त की वृत्तियाँ म्रियमाण

---

१. साँख्यतत्वकौमुदी ३९, ४०, ४१

२. यथा दीपस्य सर्वगृहव्याप्तित्वेऽपि कलिकाकारत्वम्—तथैव लिङ्गदेहस्य देहव्याप्तित्वेऽप्यंगुष्ठप्रमाणत्वम् ।—साँ० प्र० भा० ५।१०३

३. घटप्रासादप्रदीपकल्पं संकोचविकाशि चित्तम् ।
शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः ॥
—पातंजलयोगसूत्र ४।१० पर साँ० प्रवचन भाष्य

शरीर में लुप्त होने लगती हैं और नवजात शरीर में क्रियाशील हो जाती हैं। अतः सूक्ष्म शरीर को स्वीकार करने की कोई भी आवश्यकता नहीं है।[1]

वैशेषिक ने भी सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को मानने से इनकार किया है और गर्भवृद्धि में इसका कोई स्थान निर्धारित नहीं किया है। न्यायकन्दली[2] में श्रीधर ने गर्भविकास का वर्णन इस प्रकार किया है—"पिता के शुक्र और माता के शोणित के योग के पश्चात शुक्र शोणित के विधायक अणुओं के कारण गर्भाशय की गर्मी से एक ऐसा परिबर्तन होता है कि उनके पुराने वर्ण, आकार आदि नष्ट हो जाते हैं और नये सदृश गुण उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार द्वयणुओं और त्रसरेणुओं के क्रमिक निर्माण के द्वारा भ्रूण का विकास होता है। इस प्रकार के शरीर का निर्माण हो जाने पर अन्तःकरण का प्रवेश होता है जो कि शुक्र-शोणित अवस्था में प्रवेश नहीं कर सकता था क्योंकि मन को शरीर रूपी आश्रय की आवश्यकता होती है। माता के अन्य रस की अल्प मात्रा उसका पोषण करती है। तत्पश्चात् अदृष्ट के द्वारा गर्भ का अणुरूपों में विघटन होता है। और अन्य रस के अणुओं के साथ-साथ नवीन गुणों से युक्त अणु नवशरीर के निर्माण के लिये आपस में पिण्ड रूप धारण कर लेते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार भी सूक्ष्म शरीर एवं चित्त का गर्भ के निर्माण एवं विकास में कोई प्रयोजन नहीं है।

न्यायदर्शन भी सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को नहीं मानता। न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा सर्वव्यापी है। पुनर्जन्म में केवल सर्वव्यापी आत्मा ही शरीर विशेष से सम्वद्ध होता है।

परन्तु वेदान्त दर्शन सूक्ष्म शरीर की सत्ता को स्वीकार करता हैं। इसके अनुसार सूक्ष्म शरीर पाँच सूक्ष्म-भूतों से बना है जो पान, अपनादि पञ्चवायुयों से भी युक्त होता है।[3] जो पुण्य कर्म करते हैं वे चन्द्रलोक में जाते हैं और जो पाप करते हैं वे यम लोक में कष्ट भोगते हैं तथा इस जगत में पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं।[4] जो अपने पुण्य कर्मों के फलस्वरूप चन्द्रलोक में जाते हैं और तदनन्तर अपने पुण्यों को प्रायः क्षीण कर देते हैं और परिणामतः वे वहाँ अधिक देर तक स्थित नहीं रह सकते, वे इस मृत्यु लोक की ओर अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देते हैं। वे आकाश, वायु, धूम और मेघ में से होकर गुजरते हैं और तत्पश्चात् वर्षा के साथ पृथ्वी पर बरसाये जाते

१. पातञ्जलयोगसूत्र ४।१० पर वाचस्पति कृत तत्त्ववैशारदी
२. न्यायकन्दली विजयनगरम् संस्कृत सीरीज १८९५, पृष्ठ ३३
३. ब्रह्मसूत्र ३, १, १-७ पर शाँकर भाष्य
४. वही ३, १, १३

हैं । तत्पश्चात वनस्पतियों द्वारा आत्मसात् कर लिये जाते हैं और फिर उनको खाने वाले मनुष्यों के शरीर में पहुँचते हैं। उन मनुष्यों की स्त्रियों के गर्भ में शुक्र रूप में छोड़े जाते और फिर पुनर्जन्म को प्राप्त करते हैं । चन्द्रलोक में उपलब्ध भोगों के हेतु वहां उनका शरीर जलमय होता है । जब इनके पुण्य उपभोगों के द्वारा क्षीण हो जाते हैं तो वे उस शरीर को अधिक काल तक धारण नहीं कर सकते । वे तो आकाश के समान शरीर को प्राप्त करते हैं और इस प्रकार वायु से प्रेरित होकर धूम और मेघ के सम्पर्क में आते हैं । इस स्थिति में जब वे वनस्पतियों के शरीर में बिलीन हो जाते हैं तब भी वे न तो सुख का और न दुख का ही उपभोग करते हैं । जो अपने पाप कर्मों के दण्ड स्वरूप वनस्पति शरीर को प्राप्त होते हैं एवं जो अपने पुनर्जन्म के पथ पर कुछ समय के लिये वनस्पति शरीर को प्राप्त करते हैं उनकी अवस्थाओं में अन्तर रखना आवश्यक है । प्रथम अवस्था में वनस्पति जीवन भोग-योनि का जीवन है, जबकि दूसरी अवस्था में न दुख है न सुख जब वनस्पति शरीरों को चबाया जाता है तब भी अल्पकाल तक उनके अन्दर रहने वाली आत्माओं को दुख नहीं प्राप्त होता, क्योंकि वे इन वनस्पतियों से संश्लिष्ट मात्र ही है ।[1]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि केवल सांख्य एवं वेदान्त ही सूक्ष्म शरीर की सत्ता को स्वीकार करते हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सम्बन्ध में उनका आयुर्वेदिक दर्शन से साम्य है । संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों में वर्णित सूक्ष्म शरीर का सिद्धान्त इस अर्थ में वेदान्त दर्शन से अधिक साम्य रखता है कि जहाँ सांख्य के अनुसार तन्मात्राओं से सूक्ष्म शरीर निर्मित है वहाँ आयुर्वेद एवं वेदान्त दोनों के मत में सूक्ष्म शरीर तत्व के स्थूल भूतों के सूक्ष्म कणों द्वारा निर्मित होता है । आत्मा गर्भ में प्रवेश के समय क्रमशः आकाश, वायु, तेज, ऊष्मा, जल और पृथ्वी से एक अणु बराबर क्षण में संश्लिष्ट हो जाता है ।[2]

सूक्ष्म शरीर से युक्त वह आतिवाहिक आत्मा सर्वत्र गमनशील होने से 'सर्वग' (सर्वत्र गच्छतीति सर्वगः) कहलाता है । समस्त भौतिक स्थूल शरीरों को अपने कर्मानुसार धारण करने से 'सर्वशरीरभृत' कहलाता है । स्थूल शरीरों में रहता हुआ वह आत्मा मन की सहायता से विभिन्न सांसारिक कर्म करता है अतः 'विश्वकर्मा' कहलाता है । यह विविध योनियों में भ्रमित होता हुआ अन्यान्य मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि विश्व के विविध-रूपों को धारण करता है अतः 'विश्वरूप' कहलाता है । यह स्थूल शरीर को चेतना प्रदान करता है अतः 'चेतना धातु' कहा जाता है ।

---

१. ब्रह्मसूत्र ३, १, २५ और ३; १, २२-२७ पर शाँकर भाष्य

२. च० शा० ४।८

भौतिक इन्द्रियों द्वारा इसका ग्रहण सम्भव नहीं है। अतः अतीन्द्रिय कहलाता है। यह सदैव मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों से संयुक्त रहता है अतः नित्यभुक् कहलाता है। राग द्वेष सुख-दुख आदि द्वन्द्वों से युक्त होने के कारण इसे 'सानुशय' कहते हैं।[1] मन की सहायता से मनन करने, विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से दर्शन स्पर्शन आदि ज्ञान प्राप्त करने, कर्मेन्द्रियों की सहायता से विविध कर्म करने एवं नये-नये शरीरों का उत्पादक होने के कारण इस आत्मा को हेतु, कारण, निमित्त, कर्ता, वेदिता, वेदयिता, बोद्धा, स्पृष्टा, दृष्टा, घ्राता, श्रोता, रसयिता, गन्ता, साक्षी, वक्ता, धाता, ब्रह्मा, बुद्धि का स्वामी, क्षेत्रज्ञ, प्रभव, सृष्टा कहा जाता है।[2] सुश्रुत संहिताकार का कथन है—'आयुर्वेद सम्मत (आतिवाहिक) आत्मा शुभ अशुभ कर्म करते हुए उनके फलस्वरूप सुख दुख के उपभोग के लिये एक शरीर से दूसरे शरीर में सदागति संसरण किया करते हैं। परम सूक्ष्म, नित्य तथा चेतनावान पुरुष इन्द्रियातीत होने के कारण अनुमान से ही जाने जाते हैं।। शुक्र तथा शोणित का सम्मूर्द्दन होने पर गर्भ में सुखोपभोग आदि चैतन्य के लक्षणों के दिखने से इन आत्माओं के अस्तित्व का अनुमान होता है।[3]

संस्कृत के चिकित्सा-ग्रन्थों में कर्म-पुरुष एवं आतिवाहिक पुरुष के विवेचन के अतिरिक्त परम आत्मा का भी निरूपण किया है। प्रस्तुत स्थल में परम आत्मा का निरूपण किया जा रहा है।

---

१. स सर्वगः सर्वशरीरभृच्च स विश्वकर्मा स च विश्वरूपः।
स चेतनाधातुरतीन्द्रियश्च स नित्ययुक् सानुशयः स एव ॥—च० शा० २।३२
लिंग शरीर से युक्त होकर सर्वत्र व्यापक, सभी शरीरों को धारण करने वाली, विश्वकर्मा, जग-स्वरूप, चेतनाधातु, अतीन्द्रिय वह आत्मा मन, बुद्धि, इन्द्रियों से युक्त होकर द्वेष से युक्त होती है—"सर्भशरीरभृदिति सर्वशरीराणि भर्त्तुः योग्यः। विश्वकर्मकरणक्षमो इति विश्वरूपः। नित्यं बुद्धयादिभियुज्यते इति नित्यभुक्। सहानुशयेन रागादिना, वर्तते इति सानुशयः।"

—च० शा० २।३२ पर चक्रपाणि

२. ....क्षेत्रज्ञो वेदयिता स्पष्टा, घ्राता, द्रष्टा, श्रोता, रसयिता पुरुषः स्रष्टा, गन्ता साक्षी, धाता, वक्ता........।—सु० शा० ३।४

३. आयुर्वेदष्वसर्वगता क्षेत्रज्ञाः नित्याश्च तिर्यग्योनिमानुषुदेवेषु स चरन्ति धर्माधर्म-निमित्तम्। एतेऽनुमानग्राह्याः परमसूक्ष्माश्चेतनावन्तः शाश्वताः लोहितरेतसो संनिपातेष्वभिव्यज्यन्ते।—सु० शा० १।२

परम आत्मा

परम आत्मा का निरूपण करते हुये चरकसंहिता में कहा है—'परम आत्मा निर्विकार होता है, वही आत्मा जब सत्व (मन), भूत (पंच महाभूत), गुण (महाभूतों के गुण या प्रकृति के गुण) तथा इन्द्रियों से युक्त होता है। तब वह चैतन्य (शरीर को चेतना प्रदान करने तथा ज्ञान प्राप्त करने में) कारण होता है। वह आत्मा नित्य है, समस्त जगत का दर्शक है, तथा क्रियाओं का दर्शक है।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में आत्मा के स्वरूप का विवेचन किया गया है। हम ऊपर कहे हुये प्रत्येक के स्वरूप गुणों का विवेचन क्रमशः करेंगे।

आत्मा का निर्विकारत्व

परम आत्मा स्वभावतः निर्विकार होता है। चक्रपाणि के अनुसार निर्विकार का तात्पर्य है निर्विकृति रोगराहित्य अर्थात नीरोगता है।[2] अर्थात् आत्मा रोग का का अधिष्ठान नहीं है। यहाँ पर विकृति का अभिप्राय षड्विकारों से भी लिया जा सकता है। ये षड्विकार है—मरण, अस्तित्व, विपरीत, परिणाम, वृद्धि तथा क्षय। आत्मा इन षड्विधात्मक विकारों से रहित होता है, अतः निर्विकार माना गया है। निर्विकृति का एक अन्य अर्थ निर्दोष भी हो सकता है। राग-द्वेष आदि द्वन्द्व भाव-दोष कहलाते हैं। इन राग-द्वेष आदि प्रत्येक प्रकार के द्वन्दों से रहित होने के कारण उसे निर्दोष भी कह सकते हैं। पूर्वोक्त षड्विकार शरीर में होते हैं। तथा पश्चाद् उक्त द्वन्द मन में होते हैं। वस्तुतः यह आत्मा न ही षड्विकारों का आश्रय है न ही मानसिक विकारों का। शरीर एवं मन ही व्याधियों के आश्रय हैं। जैसा कि एक स्थान पर कहा गया है—'शरीर तथा मन ये दोनों रोगों के आश्रय हैं[3], जैसे कुष्ठादि शरीर के रोग हैं तथा कामादि मानसिक रोग हैं।[4] उस अकेली निर्विकार परम आत्मा में सुखदुःखादि विशेष नहीं होते। संयोग पुरुष में ही वेदनाकृत विशेषता होती है।[5] हम जानते हैं कि इस संयोग पुरुष में बुद्धि एक तत्व है। यह

---

१. निर्विकारः परस्वात्मा सत्वभूतगुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणम् नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः।—च० सू० १।५६

२. निर्विकारो निर्विकृतिः, तेन नीरोगत्वमात्मनः।—च०सू० १।५६ पर चक्रपाणि

३. शरीरम् सत्वं संज्ञम् च व्याधीनाम आश्रयो मतः।—च० सू० १।५५

४. कुष्ठादयः शारीराः एव, काामदयस्तु मानसाः।—वही, चक्रपाणि

५. ....तस्य मैकस्य विद्यते।
संयोगपुरुषष्येटो विशेषो वेदनाकृतः......... ॥—च० शा० १।८४-८५
तु०—च० शा० ४।३३

जो संयोग पुरुष को वेदना[1] का अनुभव होता है, वह बुद्धि का ही धर्म है। वास्तव में बुद्ध्यादि में रहने वाले गुणत्रय के परिणामस्वरूप सुख दुःखादि से आत्मा सुखी या दुखी नहीं होता, अपितु बुद्ध्यादि के सम्बन्ध से उस आत्मा के सुखी या दुखी होने की प्रतीति मात्र होती है।[2] परन्तु स्वरूपतः परम आत्मा सुख दुःखादि से असंस्पृष्ट है, संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी सुख दुःखादि भावों की उत्पत्ति का कारण आत्मा को बताया गया है, वे वस्तुतः आत्मविकार नहीं हैं, अपितु इनकी उत्पत्ति प्रकृति के गुणत्रयाधिक्य से प्रभावित सत्व (मन) से होती है, इस प्रकार जो सुख दुःख-दिभाव आत्मज कहे गये हैं, वह वस्तुतः आत्मज नहीं, अपितु सत्वज ही हैं।[3] अतः 'आत्मा निर्विकार है' यह सिद्ध हुआ।

परन्तु आत्मा के निर्विकार मानने पर उसमें निष्क्रियता का प्रसंग उठ जायेगा जिससे कि एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठेगा कि वह क्रियावान् कैसे है? इसका उत्तर देते हुये आचार्य कहते हैं—'मन अचेतन (ज्ञानशून्य) है तथा क्रिया करने वाला है, आत्मा (पर) चेतना देने वाला है। आत्मा के संयोग से ही कार्य होता है, अतः 'आत्मा का ही कार्य' उपचार से कहा जाता है, आत्मा चेतन है इसलिये (ही) कर्त्ता कहा जाता है, क्रिया करने वाला होने पर भी मन अचेतन होने से कर्ता नहीं कहा जाता।'[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि चिकित्सा दर्शन की दृष्टि में आत्मा चेतयिता तो है परन्तु साक्षात् क्रियावान नहीं है। वह अवश्य है कि आत्मा से अधिष्ठित होकर

---

१. वेदनासुखदुःखरूपा।—च० शा० ८४ पर चक्रपाणि

२. बुद्ध्यादिसमूहे नियता व्यवस्थिता वेदना, तत्रैव तत्कृतो दैन्यदर्पादिविशेषोऽपि नियतः, तत्रैव बुद्ध्यादिरासौ वर्तते नात्मनीति भावः। बुद्ध्यादिगतेन गुणत्रय-परिणामरूपेण सुख दुःखादिना..................एवात्मा तत्सम्बन्धात् सुखदुःखादिमान भवति।—च० शा० १।८४-८५ पर चक्रपाणि

३. तान्यपि परमात्मविकारा न भवन्ति, किन्तु सत्वरजस्तमःप्रबलतारूपविकारज-मनोविकारजन्य धर्माधर्मजन्यान्येव। तेन, सूक्ष्मचिन्तायामात्मजानि यान्युक्तानि, तान्यपि सत्वजान्येव। तश्चेहात्मजावयवविकारोऽपि सत्वजावयवविकार एव बोद्धव्यः इति भावः।—च० शा० ४।३३ पर चक्रपाणि

४. अचेतनम् क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः।
युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः।
चेतनावान् यतश्च आत्मा ततः कर्त्ता निरुच्यते।
अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि चोच्यते॥—च० शा० १।७६-७७

ही मन क्रियाशील होता है। तो यह निश्चित हुआ कि बिना आत्मा से अधिष्ठित हुये मन क्रिया में प्रवर्तित नहीं हो सकता। परन्तु साथ ही साथ हम इस निर्णयात्मक बिन्दु पर भी पहुँचते हैं कि मन के द्वारा की गई क्रिया से 'आत्मा क्रियावान है' ऐसा व्यपदेश उपचार से किया जाता है।[१]

आत्मा का नित्यत्व

आत्मा नित्य है, इस परम आत्मा का कोई प्रभव (कारण) नहीं है, इसलिये यह अनादि है।[२] हम जानते हैं कि जो अनादि है वह नित्य होगा। अतः अनादि होने से आत्मा भी नित्य है इसके 'विपरीत' जो सादि हैं, जो किसी हेतु से उत्पन्न हुये हैं, वे उत्पत्ति धर्मा होने से निश्चित रूप से विनाशी हैं। अतः वे अनित्य होंगे,[३] क्योंकि हेतु से उत्पन्न पुरुष सत्तावाला होते हुये (भी) सकारण है, अतः अनित्य है।[४] यहाँ पर 'विपरीत' से तात्पर्य राशिपुरुष से है जैसा कि चक्रपाणि ने लिखा है— 'विपरीत इति आदिमान राशिरूपः पुरुष इत्यर्थः।' परन्तु जो सत् है अर्थात सत्तावाला हो, पर कारणवाला न हो उसे नित्य कहते हैं।[५] वह जो सत् तथा अकारण है, नित्य होने के कारण भाव से (जो उत्पत्ति धर्मा हैं उनसे) अग्राह्य हैं। उसका नित्यत्व किसी भी उत्पत्तिधर्मा भाव से नहीं होता।[६] समस्त उत्पत्तिधर्मा भाव पदार्थों से निरपेक्ष होने से आत्मा समस्त भावों से पहले था। अतः यह अनादि पुरुष नित्य है।[७] महर्षि सुश्रुत भी कहते हैं कि यह परम आत्मा नित्य है।[८] जैसा कि हम ऊपर भी स्पष्ट कह

---

१. आत्माधिष्ठितस्यैव मनसः क्रिया उपचारादात्मनः क्रियेत्युच्यते इत्यर्थः। चेतनेन ह्यात्मनाधिष्ठितम् मनः क्रियासु प्रवर्तते, चेतनाधिष्ठितम् मनः क्रियासु प्रवर्तते, चेतनानधिष्ठितम् तु मन क्रियासु न प्रवर्तते, तेन यत्कृता सा क्रिया स एव क्रियावानिति व्यपदेष्टुमुयुज्यते।—वही, चक्रपाणि
तु०—राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग २, पृष्ठ ३१७

२. प्रभवो न ह्यनादित्वात्विद्यते परमात्मनः।—च० शा० १।५३

३. ····विपरीतस्तुहेतुजः····।—च० शा० १।५६

४. ····हेतुजमन्यथा····।—वही

५. ····सदकारणवन्नित्यम्····।—वही

६. तदेव भावग्दग्राह्यम् नित्यत्वम् न कुतश्चन्। भावाज्ज्ञेयं····।—च० शा० १।६

७. अनादिपुरुषो नित्यः।—च० शा० १।५९

८. ····नित्याश्च····।—सु० शा० १।२१

चुके हैं कि यह नित्य इसलिये हैं क्योंकि यह अनादि है ।[1] अनादि के कारण यह जन्म तथा मरण से रहित है, इसीलिये इस परम आत्मा को 'अमृत', 'अव्यय', 'अक्षर', 'अमर', 'अनिधन' कहा गया है । इतने विवेचन ये यह सिद्ध हुआ कि आत्मा नित्य है ।

आत्माश्रित ज्ञान का अनित्यत्व

चरकसंहिताकार के टीकाकार चक्रपाणि ने 'नित्यस्याप्यात्मनो ज्ञानमनित्यम्' कहकर आत्मा की नित्यता तथा तदाश्रित ज्ञान की अनित्यता प्रतिपादित की है । नास्तिक जन यहाँ पर यह शंका कर सकते हैं कि जब आत्मा का गुण ज्ञान अनित्य है तो ज्ञान गुण का अधिकरण भूत गुणी आत्मा भी अनित्य होगा । ऐसी शंका उनको नहीं करनी चाहिए क्योंकि शब्द गुण के अनित्य होते हुए भी उसका आश्रय गुणी (धर्मी) आकाश नित्य होता है । इसी प्रकार ज्ञान गुण का गुणी आत्मा भी नित्य होता है । उसमें स्वाभाविक रूप से उत्पत्ति तथा विनाश का अभाव होने से उसका नित्यत्व स्वतः सिद्ध है ।

'आत्माश्रित ज्ञान अनित्य है' चक्रपाणि के इस कथन से उत्पन्न होने वाले सैद्धान्तिक विप्रतिपत्ति का परिहार अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है । चक्रपाणि के द्वारा प्रतिपादित आत्माश्रित ज्ञान, वस्तुतः आत्मा के स्वरूप-ज्ञान से सर्वथा भिन्न है । वस्तुतः यह वह ज्ञान है जो कि आत्माश्रित हुयी चक्षु इत्यादि इन्द्रियाँ अपने विषय रूप आदि के साथ सन्निकर्ष द्वारा गृहीत होते हुए विषयों का ज्ञान इन्द्रिय, मन, तथा आत्मा के संयोग से उत्पन्न होता है । भौतिक साधनों तथा विषयों से सम्बन्धित होने के कारण यह अनित्य होता हैं जैसा कि भगवान् आत्रेय कहते हैं—आत्मा 'ज्ञ' है परन्तु इसका ज्ञान इन्द्रियों के सम्बन्ध से प्रवृत्त होता है ।[2] अतः प्रस्तुत सन्दर्भ में 'ज्ञान' शब्द का 'विषयात्मक-ज्ञान' यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए । 'स्वरूपात्मक ज्ञान' यह अर्थ ग्रहण करने पर आत्मा स्वरूपात्मक ज्ञान से उस समय वंचित हो जायेगा जब इन्द्रियों का अभाव हो जायेगा, जब इन्द्रियों का अभाव होगा, क्योंकि इन्द्रियों के सम्बन्ध से ही ज्ञान की प्रवृत्ति होती हैं । चक्रपाणि जैसे महान टीकाकार की दृष्टि ऐसे महत्वपूर्ण शास्त्रीय विन्दु पर नहीं गयी, यह आश्चर्य का विषय है ।

१. ""आदिनास्त्यात्मनः ।—च० शा० १।८२
तुलनीय—(अ) 'अनादेश्च' ।—च० सू० ११।१३
(ब) 'अनादित्वात्' ।—च० शा० १।५३

२. आत्मा ज्ञः करणैयोगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते ।—च० शा० १

अतः चक्रपाणि ने जिस ज्ञान को अनित्य कहा है उसको विषयात्मक ज्ञान मान लेने से हम एक गम्भीरतम शास्त्रीय संकट से बच जायेंगे।

चरकसंहिता में इस विषय में एक विवाद मिलता है। उसमें भी निष्कर्षतः आत्मा के ज्ञान को नित्य माना गया है। भरद्वाज ने अपनी धारणा बताते हुए कहा—'इन्द्रियाँ तथा मन आत्मज है, मातृज या पितृज नहीं। अतः माता-पिता के अन्ध, कुब्ज, मूक आदि होने पर बालक तत्सदृश नहीं होता, पर आत्मा के ज्ञ तथा निर्विकार होने की प्रतिज्ञाहानि दोष होता है। ऐसा कहने पर इन्द्रियों से संयुक्त होने पर (ज्ञ) ज्ञानी होता है तथा इन्द्रियों के न होने पर अज्ञ होता है। जिस आत्मा में ज्ञत्व तथा अज्ञत्व यह दोनों सम्भव है, वह आत्मा विकार वाला होता है तो यदि यह कहा जाय कि आत्मा इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण करता है। इन्द्रिय रहित आत्मा चक्षु आदि इन्द्रियों के अभाव होने से अज्ञ होगा तथा अज्ञ होने से आत्मा कारण नहीं हो सकेगा अर्थात ज्ञानपूर्वक शरीर की प्रेरणा में कारण न होगा। जब आत्मा कारण नहीं है तब यह आत्मा है? इसमें क्या प्रमाण है। अतः आत्मा नहीं है।[1]

भगवान् आत्रेय भरद्वाज की इस धारणा का खंडन करते हुए कहा—'आत्मा इन्द्रियों के साथ होने पर ज्ञ (ज्ञानी) तथा इन्द्रियों से रहित होने पर अज्ञ (अज्ञानी) होती है, यह (ऐसा) नहीं है (अर्थात आत्मा सदा ज्ञानी ही रहती है)। आत्मा कभी भी बिना मन के नहीं रहती है। मन विशेष से ज्ञान विशेष की प्राप्ति होती है।[2] चक्रपाणि इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—आत्मा सदैव समनस्क रहता है, इसलिए बाह्येन्द्रियों का अभाव होने पर भी अन्तःकरण रूप मन के योग से आत्मा नित्य ज्ञानवान रहता है।[3]

---

१. स्वेनैवायमात्मा चक्षुषा रूपाणि वेत्ति, श्रोत्रेण शब्दान्, घ्राणेन गन्धान्, रसनेन रसान्, स्पर्शनेन स्पर्शान्, बुद्धया बोद्धव्यमित्यनेन हेतुना न जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशो भवन्ति। अत्रापि प्रतिज्ञाहानिदोषः स्यात्, एवमुक्ते ह्यात्मा सत्स्विन्द्रियेषु ज्ञः स्यादसत्स्वज्ञः, यत्र चैतदुभयं संभवति ज्ञत्वमज्ञत्व च, सविकारश्चात्मा। यदि च दर्शनादिभिरात्मा विषयान् वेत्ति, निरिन्द्रियो दर्शनादिविरहादज्ञः स्यात्, अज्ञत्वादकारणम्, अकारणत्वाच्च नात्मेति····।—च० शा० ३।१५

२. न आत्मा सत्स्विन्द्रियेषु ज्ञः, असत्सु वा भवत्यज्ञः, न ह्यसत्वः कदाचिदात्मा सत्व विशेषाच्चोपलभ्यते ज्ञान विशेष इति।—च० शा० ३।१८

३. सर्वदा समनस्क एवात्मा, सैव बाह्येन्द्रियाभावेऽप्यन्तःकरणमनोयोगान्नित्यमात्मा ········ज्ञानवानेवायमित्यर्थः।—चक्रपाणि

आत्मा सर्वदा ज्ञानी रहता है, पर इन्द्रियों का अभाव होने से कर्त्ता आत्मा को कार्यो का ज्ञान नहीं रहता है। जिन साधनों से जो क्रिया (कार्य) उत्पन्न होती है वह कार्य उन साधनों के न रहने से उत्पन्न नहीं होता। जैसे घट-निर्माण का ज्ञान रखते हुए कुम्भकार मिट्टी का अभाव होने पर घट निर्माण में प्रवृत्त नहीं होता।[1]

'इन्द्रिय रहित आत्मा ज्ञ है' इस कथन के समर्थन में एक अन्य युक्ति प्रस्तुत की जा रही है, 'आत्मा ज्ञानी है, इसमें दूसरी युक्ति अध्यात्म को सुनो। आत्मज्ञान का बल बहुत होता है। इन्द्रियों को संकुचित कर अर्थात् बाहरी विषयों से हटाकर चंचल मन को रोककर, अध्यात्म ज्ञान में प्रविष्ट होकर आत्म ज्ञानी पुरुष जब केवल आत्म ज्ञान के बल पर सभी चेतन तथा अचेतन वर्गों का ज्ञान कर लेता है।[2]

'इन्द्रिय रहित आत्मा ज्ञ है' इस सिद्धान्त को स्थिर करते हुए आत्रेय मुनि एक अन्य युक्ति प्रस्तुत कर रहे हैं—इन्द्रिय वाणी तथा शारीरिक तथा मानसिक चेष्टाओं से निवृत्त होकर प्राणी जब शयन करता है तो स्वप्नावस्था में स्वप्नगत विषयों को सुख दुःख को जानता है।[3] अतः यह सिद्ध है कि इन्द्रियों के अभाव में भी पुरुष को ज्ञान होता रहता है। आत्म-ज्ञान के बिना कोई भी विषय ज्ञान नहीं हो सकता[4] जबकि नित्य होने के कारण आत्म-ज्ञान को किसी भी सहायता की आश्यकता नहीं है।[5]

आत्मा द्रष्टा है—आत्मा को 'द्रष्टा' भी कहा गया है। दृष्टा का सामान्य अर्थ होता है देखने वाला। जिस प्रकार योगी या जिसने राग-द्वेष आदि भावों से युक्त होकर वैराग्य धारण कर लिया है तथा तृष्णा रहित होकर निर्लिप्त भाव से संसार में स्थित है, वह तटस्थ भाव से संसार की समस्त वस्तुओं का अपने ज्ञान-चक्षुओं

---

१. कर्त्तुरिन्द्रियाभावात् कार्य ज्ञानं प्रवर्तते।
या क्रिया वर्तते भावैः सा विना तैर्नवर्तते।
जानन्नपि मृदो भावात् कुम्भकृन्न प्रवर्तते।—च० शा० ३।१९

२. श्रूयतां चेदमध्यात्मज्ञानबलं महत्।
इन्द्रियाणि च संक्षिप्य मनः संक्षिप्य चञ्चलम्॥
प्रविश्याध्यात्मात्मज्ञः स्वे ज्ञाने पर्यवस्थितः।
सर्वत्रावहितज्ञान सर्वंभावान् परीक्षते॥—च० शा० १।२०-२१

३. निवृत्तेन्द्रियवाक्चेष्टः सुप्तः स्वप्नगतो यदा।
विषयान् सुखदुःखे च वेत्ति नाज्ञोऽप्यतः स्मृतः॥—च० शा०

४. नात्मज्ञानादृते चैकं ज्ञानं किञ्चित् प्रवर्तते।—च० शा० ३।२४

५. तस्माज्ज्ञः प्रकृतिश्चात्मा द्रष्टा कारणमेव।—च० शा० ३।२५

द्वारा अवलोकन करता है। राग-द्वेष आदि भाव न होने के कारण वह न किसी के प्रति अनुरक्त होता है न किसी से घृणा करता है। किन्तु सामान्य-रूप से निर्लिप्त रहकर वह सभी को जानता व देखता रहता है। वस्तुओं के एतद्विध दर्शन में न ही सुख की अनुभूति होती है न ही दुःख की। यही परम आत्मा संसार की समस्त वस्तुओं को देखता है। इसीलिए आत्मा के लिए 'द्रष्टा' विशेषण का प्रयोग किया गया है।

समस्त क्रियाओं को देखने के कारण इसको साक्षी भी कहा गया है। जो 'ज्ञ' होता है वही साक्षी होता है, न कि अज्ञ। आत्मा ही ज्ञाता या जानने वाला है। अतः आत्मा को ही साक्षी माना जाता है। समस्त महाभूतों के समस्त भाव आत्मा के ही साक्षित्व में ही होते हैं।[1] सामान्य अर्थ में साक्षी गवाह को कहा जाता है। आत्मा को भी इसी रूप में साक्षी कहा गया है। यह समस्त पंचभूतात्मक जगत का साक्षी बनता है।

यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि जब आत्मा के पूर्व कोई वस्तु नहीं है तब यह गवाह किसका है? इसका उत्तर यह है कि कार्य के पूर्व जो सदा वर्तमान रहता है, वह होने वाले कार्यस्वरूप महाभूतों का साक्षी तो होगा ही क्योंकि वह सभी की उत्पत्ति देखता है। आयुर्वेद के मतानुसार 'खादयश्चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः' से पंचमहाभूत तथा आत्मा के संयोग को पुरुष कहते हैं। अतः महाभूतों के समस्त कार्य आत्मा के साक्षित्व में ही सम्पादित होते हैं। इसके अतिरिक्त राशिपुरुष के चतुर्विंशति तत्वों महदादि भाव आत्मा के साक्षित्व में ही होते हैं। इस प्रकार संसार के समस्त भावों की उत्पत्ति आत्मसाक्षिपूर्वक मानी गयी है अतः आत्मा को साक्षी कहा गया है।

आत्मा का चैतन्य

जब यह परमात्मा सत्व तथा शरीर के सम्पर्क में आने पर पुरुष में चैतन्य का कारण बनता है। तभी वह जीवात्मा संज्ञा से व्यवहृत होती है। आत्मा की उपर्युक्त दोनों अवस्थाओं (परमात्मा तथा जीवात्मा) में चैतन्य की स्थिति प्रत्यात्मनियत लक्षणों के रूप में होती है। अतः आत्मा चेतन स्वरूप है। इस 'परम आत्मा' को चेतना-धातु कहा गया है। इसे 'पुरुष' भी कहते हैं।[2] यहाँ पर पुरुष शब्द से आयुर्वेद का चिकित्स्य पुरुष नहीं समझना चाहिए। क्योंकि 'पुरि शरीरे शेते' इस व्युत्पत्ति

---

१. ज्ञः साक्षीत्युच्यते नाज्ञः साक्षी त्वात्मा यतः स्मृतः।
सर्वे भावाः हि सर्वेषां भूतानामात्मसाक्षिकाः ॥—च० शा० १।८३

२. चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः।—च० शा० १।१६

से ही यह आत्मा पुरुष शब्द से कहा जाता है इसलिए चेतनाधातु रूप पुरुष चिकित्सा में अभिप्रेत नहीं है। यहां पर केवल शास्त्रान्तर व्यवहारानुरोध से ही 'आत्मा' को पुरुष कहा गया है।[1] इस परमात्मा को चेतन,[2] चेतनावान्[3] चैतन्य[4] भी कहा जाता है। इसलिए यह आत्मा चेतनस्वरूप है।

आत्मा का विभुत्व

'आत्मा विभु है' इस सिद्धान्त में चिकित्सा-ग्रंथों में ऐकमत्य नहीं है। महर्षि चरक आत्मा को जहाँ एक ओर विभु[5] मानते हैं वहीं दूसरी ओर महर्षि सुश्रुत[6] अणु मानते हैं।

चरकसंहिता में उसे सर्वग,[7] सर्वगत[8] भी कहा गया है। आत्मा की सर्वव्यापकता में संदेह करते हुए अग्निवेश ने भगवान् आत्रेय से पूछा, 'यदि आत्मा सर्वगत है तो सभी स्थानो में होने वाली सभी प्रकार की वेदनाओं को क्यों नहीं जानता।[9] भगवान् आत्रेय ने अग्निवेश की शंका का समाधान इस प्रकार किया है—'आत्मा सर्वव्यापक होते हुए देही अर्थात देह में रखते हुए अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने वाली स्पर्शगम्य इन्द्रियों से सम्बन्ध स्थापित करता हैं। अतः सर्व शरीर में होने वाली सब वेदनाओं को नही जानती।'[10] यदि एक मनुष्य किसी विशेष पदार्थ को देखता है तो अन्य मनुष्य उसे उस समय में नहीं देखते क्योंकि प्रत्येक जीवात्मा का

१. 'पुरि शरीरे शेते' इति व्युत्पत्तया आत्मा पुरुष शब्देनोच्यते। अत्र पुरुष इति कर्तव्ये यत् + 'पुरुष संज्ञक' इति करोति तेन न चेतनाधातुरूपः पुरुषश्चिकित्सा-ममिप्रेतः, किन्तु शास्त्रान्तरव्यवहारानुरोधादिहाप्ययं पुरुषशब्देन संज्ञितः इति दर्शयति।—चक्रपाणि

२. च० सु० १।४७

३. च० शा० १।७१

४. च० सू० ३०।७

५. च० शा० १।५, १।६१, १।८०, ४।८

६. सु० शा० १।१७

७. च० शा० १।५

८. च० शा० १।७६, १।८०

९. सर्वाः सर्वगतत्वाच्च वेदना कि न वेत्ति सः।—च० शा० १।७

१०. देही सर्वगतोऽप्यात्मा स्वे-स्वे संस्पर्शनेन्द्रिये।
सर्वाः सर्वाश्रयस्थास्तु नात्माऽतो वेत्ति वेदना॥—च० शा० १।७९

अपना-अपना शारीरिक संघटन तथा अपनी-अपनी रुचि है।[१] इससे यह निश्चित हुआ कि वेदना तो इन्द्रियों के माध्यम से होती है जो परम आत्मा है वह व्यापक है तथा इन्द्रियों के संयोग से रहित है उसे वेदना या अनुभूति कैसे हो सकती है ! परम-आत्मा मनुष्यदेहस्थ जीवात्मा से भिन्न है। यह आत्मा सर्वगत महान है इसलिए यह व्यापक है।[२]

आत्मा को विभु इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह सर्वपरिणामयोगी है अर्थात विश्व के संपूर्ण परिणाम इस आत्मा के परिणाम से आच्छादित हैं। यद्यपि आकाश का परिणाम भी सर्वत्र हैं इसलिए वह भी सर्वगत है परन्तु महान् नहीं हैं। इसलिए आत्मा के लिए 'सर्वगत' के साथ 'महान्' इस विशेषण ये आकाश का व्यवच्छेद हो जाता है।[३]

'आत्मा विभु है' इस सिद्धान्त में सन्देह करते हुए अग्निवेश ने पूछा—'आत्मा को यदि विभु अर्थात् व्यापक माना जाता है तो पर्वत या दीवाल से छिपी वस्तु को वह क्यों नहीं देख पाता।[४]' तात्पर्य यह है कि जबकि आत्मा व्यापक है तो उसके लिए किसी भी प्रकार का व्यवधान बाधक नहीं हो सकता क्योंकि वह सभी जगह रहता है, अतः पर्वत या दीवाल के दूसरी तरफ रहने वाली वस्तु भी आत्मा कों दिखायी पड़नी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता, क्यों ? भगवान् आत्रेय ने इस संदेह का निवारण करते हुए कहा—यह आत्मा जब मन को समाधिस्थ कर लेती है तब पर्वत या दीवाल से छिपी हुई वस्तु का भी ज्ञान कर लेती है। यद्यपि आत्मा अनेक योनियों में रहता है परन्तु विशिष्ट देह तथा विशेष कर्म का अनुसरण करने वाले मन से आत्मा का नित्य अनुबन्ध है यह आत्मा एक योनिमें स्थित है ऐसा जानना चाहिए।[५]

---

१. सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह १२।६८-६९

२. विभुत्वमत एवास्य यस्मात् सर्वगतो महान्।—च० शा० १।८०

३. विभुत्वं सर्वगतपरिमाणयोगित्वम्……। सर्वगतत्वं सर्वतोऽप्युपलभ्यमानत्वेन सर्वगताकाशादिपरिमाणस्याप्यस्ति, तेन तद्व्यवच्छेदार्थ 'महान्' इति पदं।
—च० शा० १।८१ पर चक्रपाणि

४. न पश्यति विभुः कस्याच्छैलकुड्यतिरस्कृतम्।—च० शा० १।८

५. मनसश्च समाधानात् पश्यत्यात्मा तिरस्कृतम्।
नित्यानुबन्धं मनसा देहकर्मानुपातिना।
सर्वयोनिगतं विद्यादेक योन्यपि स्थितम्॥—च० शा० १।८०-८१

भगवान् आत्रेय के वचनों का तात्पर्य यह है कि यद्यपि आत्मा विकाररहित व्यापक तथा महान् है पर वही आत्मा अपने पूर्वजन्मकर्मों के अनुसार शरीर धारण करती है, तब व्यापक होती हुयी भी देहगतव्याप्य होने से पर्वत, दीवाल या अन्य किसी आवरक वस्तु के होने से विषयों का ज्ञान नहीं करती क्योंकि उसकी उपलब्धि का साधनभूत जो मन है वह एक शरीरमात्र में व्यवस्थित है, यह मन सर्वव्यापक नहीं है क्योंकि यह एक यन्त्र है जिसमें गति तथा क्रिया रहती है,[1] इस कारण किसी वस्तु को देखने में यह व्यवधान बनता है। आत्मा का मन से सम्बन्ध आत्मा के मुक्तिकाल तक रहता है तथा मन का देहनिर्वर्तक कर्म का अनुसरण करने के कारण देह से सम्बन्ध होता है।[2] यही कारण है कि देह तथा मन से संवद्ध होने पर आत्मा की सामर्थ्य उतनी ही रह जाती है जितनी कि देह तथा मन की। पर वही आत्मा योगमार्ग में प्रवृत्त होकर मन को समाधि की अवस्था में लाती है तो देहगतव्याप्य होने पर भी समीप या दूर स्थित या ढकी हुयी वस्तु को जान लेती है अतः योगी त्रिकालदर्शी तथा अबाधित ज्ञान सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार से आत्मा का विभुत्व सिद्धान्त स्थिर हुआ।

इस सन्दर्भ के प्रारम्भ में ही हमने यह कहा था कि चरक संहिता तथा सुश्रुत संहिता में आत्मा के विभुत्व संबंधी प्रश्न में मतभेद है। चरक संहिता में आत्मा को नित्य तथा अणु मानागया है। व्यावहारिक दृष्टि से भी विभुत्व तथा अनेकत्व में सामंजस्य स्थापित करना असम्भव ही है। सम्भवतः इसी विरोध का परिहार करने के लिए सुश्रुत ने आत्मा के विभुत्व को नहीं माना है। इस प्रश्न पर महर्षि सुश्रुत वैशेषिक, न्याय तथा वेदान्त के अधिक निकट हैं।

• •

---

१. साँ० प्र० सू० ५।६९-७०

२. सर्वयोनिगतमप्यात्मनं मनसाऽनुबन्धगतमेकयोनावस्थितं विद्यादिति योज्यम्। देहनिर्वर्तकेन कर्मणा अनुपात आत्मनि संबन्धो यस्य, तेन मनसा देहकर्मानुपातिना। एतेन, यद्यप्यात्मा कुड्यादिभितिरोहितस्तथापि यदस्योपलब्धिसाधनं मनस्तस्यैकस्मिन्नेव शरीरे व्यवस्थितस्यस्य व्यवधानान्न पश्यत्ययं तिरस्कृतमित्युक्तं भवति।

—च० शा० १।८०-८१ पर चक्रपाणि

मोक्ष

हमने इस प्रबन्ध के 'अनुबन्ध चतुष्टय' नामक अध्याय में ही यह संकेत किया था कि भारतीय चिकित्सा विज्ञान का दृष्टिकोण अन्य चिकित्सा-पद्धतियों से पूर्णतया भिन्न है। क्योंकि जहाँ एक ओर एलोपैथी इत्यादि चिकित्सा पद्धतियाँ केवल तात्कालिक रोग-मुक्ति प्रदान करने में सक्षम हैं, वहीं पर दूसरी ओर भारतीय चिकित्सा-विज्ञान मनुष्य को रोग-मुक्ति देने के साथ ही साथ आत्यन्तिक मुक्ति अर्थात मोक्ष को दिलाने का सफल उद्योग करता है। इस कथन का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि संस्कृत के चिकित्सा ग्रन्थों में जहाँ एक ओर शारीरिक एवं मानसिक रोगों से मुक्ति का उपाय बताया गया है वहीं दूसरी ओर सांसारिक बन्धन के मुक्ति के उपायों की व्याख्या करने का सफल प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार से विश्व के अन्य चिकित्सा शास्त्रों का उद्देश्य तात्कालिक दुःख शमन है। परन्तु संस्कृत के चिकित्सा शास्त्रों का उद्देश्य आत्यन्तिक दुःख शमन (मोक्ष) है।

भारतीय जीवन दृष्टि चार पुरुषार्थों को मान्यता देती है—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। पुरुषार्थ चतुष्टयों में से अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति मानव जीवन का परम लक्ष्य है। संस्कृत के चिकित्सा-ग्रन्थ भी इस व्यापक दृष्टि से अछूते नहीं हैं। जैसा कि काश्यपसंहिताकार का कहना है—'रोगी मनुष्य का आरोग्य (स्वास्थ्य) तथा स्वस्थ मनुष्य की शेष (अर्थात् सम्पूर्ण) क्रियायें धर्म, अर्थ, काम मोक्ष में निवृत्त हो जाती है। अर्थात् स्वस्थ एवं रोगी व्यक्ति, प्रत्येक के लिये धर्मार्थकाममोक्षरूप चतुर्विध पुरुषार्थ ही चरम ध्येय होता है।[1] एक अन्य स्थल में कहा गया है, 'जिस प्रकार वेदों में ब्रह्मज्ञ ऋषियो द्वारा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) युक्त पुरुष निःश्रेयस का विचार किया गया है, उसी प्रकार इस वेद (आयुर्वेद) में भी निदान, रोगोत्पत्ति, लक्षण, अरिष्ट, तथा चिकित्सा द्वारा हितकारी, सुखकारक तथा त्रिवर्ग के सारभूत पुरुष निःश्रेयस का ही विचार किया गया है।[2] इस निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष का वर्णन करते हुए

---

१. व्याधितस्यारोग्यमरोगस्य च शेषाः क्रिया धर्मार्थकाममोक्षेपु निर्वर्तन्ते।

—काश्यप संहिता वि० १।१०

२. वेदेषु सततं ब्रह्मज्ञैत्रिवर्गसंयुक्तम् पुरुषनिःश्रेयसम् चिन्त्यते, एवमेवास्मिन्नपि वेदे निदानोत्पत्तिलिङ्गारिष्टचिकित्सितैः सततमेव हितसुखकरं त्रिवर्गसारभूतं पुरुषनिःश्रेयसं चिन्त्यते।—काश्यप संहिता वि० १

भगवान् आत्रेय ने कहा है, 'निवृत्ति मार्ग को अपवर्ग कहते हैं, वह अपवर्ग सर्वश्रेष्ठ और अत्यन्त शान्त-अविनाशी एवं ब्रह्म स्वरूप है, उसे मोक्ष कहते हैं।[1] इसके पहले कि हम मोक्ष निरूपण के प्रयास में आगे बढ़ें हम सांसारिक बन्धन का विवेचन करेंगे जो कि मोक्ष के स्वरूपावधारण में सहायक होगा।

बन्धन

ऊपर बताए गये निवृत्ति मार्ग का उल्टा मार्ग ही बन्धनकारक है। यह मार्ग प्रवृत्ति मार्ग है। अग्निवेश के यह पूछने पर कि प्रवृत्ति किमूलक होती है ? भगवान आत्रेय ने उत्तर दिया, 'प्रवृत्ति का कारण मोह, इच्छा, द्वेष जन्य कर्म होते हैं। उस प्रवृत्ति से अहंकार, संग, संशय, अभिसम्प्लव, अभ्यवपात, विप्रत्यय, अविशेष, अनुपाय उत्पन्न होते हैं और ये पुरुष को उसी प्रकार व्याप्त करके बढ़ते हैं जिस प्रकार छोटे वृक्ष को दीर्घं शाखाओं वाले वृक्ष दबा कर ऊपर बढ़ते हैं तथा दबे हुए छोटे वृक्ष की सत्ता ही समाप्त हो जाती है। उसी प्रकार इन अहंकार आदि से पराभूत पुरुष प्रवृत्ति या प्रवृत्तिमूलक सत्ता का अतिक्रमण नहीं कर पाता। अहंकार—मेरी जाति उत्तम है, मैं सुन्दर रूप वाला हूँ, मैं धनी हूँ, मेरा आचरण बहुत श्रेष्ठ है, मैं बुद्धिमान हूँ, मेरा स्वभाव अच्छा है, मेरी विद्या उत्तम है, मेरा कुल उत्तम है, मैं जवान हूँ अतः बलवान हूँ, मैं शक्ति शाली हूँ, मेरा प्रभाव अच्छा है, मैं सर्वगुणसम्पन्न हूँ, इस प्रकार का ज्ञान करना अहंकार कहा जाता है। सङ्ग—मनुष्य का मन, वचन और शरीरजन्य जो कर्म मोक्ष का साधक नहीं है, उसको संग कहा जाता है। संशय-कर्म का फल, मोक्ष तथा मरने के बाद पुरुष का पुनर्जन्म होता है या नहीं ऐसे ज्ञान को संशय कहते हैं। अभिसम्प्लव—सभी अवस्थाओं में मैं एक स्वरूप हूँ। मैं सृष्टि करने वाला हूँ। मैं स्वभावसिद्ध हूँ, मैं शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि और स्मृति का एक विशेष समुदाय स्वरूप हूँ। इस प्रकार का (परस्पर विरुद्ध) ज्ञान करना अभिसंप्लव कहा जाता है। अभ्यवपात—मेरे माता पिता, भाई, स्त्री-बच्चे, बन्धु, मित्र, नौकर हैं और मैं इन माता आदि गण का हूँ, इस प्रकार का मिथ्या ज्ञान अभ्यवपात कहलाता है। विप्रत्यय—क्या कार्य है, क्या अकार्य है, कौन वस्तु हितकारी है, कौन अहितकारी है, कौन कार्य शुभ है और कौन कार्य अशुभ है, इन विषयों में विपरीत ज्ञान रखने को विप्रत्यय कहते हैं। अविशेष—ज्ञ (ज्ञानी) और अज्ञ (अज्ञानी) में, प्रकृति और विकृति में, प्रवृत्ति तथा निवृत्ति में समानता देखना अविशेष है। अनुपाय—प्रोक्षण (यज्ञ में मन्त्र द्वारा जल छिड़कने रूप क्रिया या मार्जन), अनशन (उपवास), अग्निहोत्र (प्रातः सायं हवन करना), त्रिषवण (त्रैकालिक स्नान करना), अभ्युक्षण (अभिमन्त्रित

१. च० शा० ५।११

जल से सेचन क्रिया), आवाहन (देवता आदि का मन्त्रों के द्वारा आवाहन अर्थात बुलाना), यजन (यज्ञ करना), याजन (यज्ञ कराना), याचन (प्रार्थना), जल और अग्नि में प्रवेश करना आदि जो समारम्भ (कर्म) हैं, उन्हें अनुपाय कहते हैं। इस प्रकार यह बुद्धि, धैर्य, स्मरणशक्ति से शून्य होकर अहंकार में लिप्त, संग संशय से युक्त, अभिसंप्लुत (मिथ्या-अमिथ्या ज्ञान से युक्त), ममता युक्त, विपरीत बुद्धि से युक्त, ज्ञानी और अज्ञानी में भिन्नता न समझने वाला तथा विमार्ग में (उल्टे मार्ग में) गमन करने वाला पुरुष सत्व (मन) और शरीर के दोषों (रज, तम, वात, पित्त, कफ) के कारणों का निवास-वृक्ष बनकर सभी दुःखों का मूल कारण बनता है इस प्रकार अहंकार आदि दोषों से युक्त होकर संसार में जन्म-मरण के चक्कर में पड़कर प्रवृत्ति मार्ग का अतिक्रमण नहीं कर पाता, अतः बार-बार जन्म तथा मृत्यु स्वरूप बन्धन से युक्त होकर संसार में विचरा करता है; इस प्रकार प्रवृत्ति सभी पापों का मूल होती है।[1]

एक अन्य स्थल में दुःख के हेतुओं का परिगणन करते हुए आचार्य ने कहा है, 'बुद्धि, धृति और स्मृति के विभ्रंश को, काल तथा कर्म की सम्प्राप्ति को तथा असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग को दुख के हेतु समझना चाहिए।[2]' तीनों (बुद्धि, धृति तथा

---

१. मोहेच्छाद्वेषकर्ममूला प्रवृत्तिः। तज्जा ह्यहङ्कारसङ्गसंशयाभिसंप्लवाभ्यवपात विप्रत्ययाविशेषानुपायास्तरुणमिव द्रुममतिविपुलशाखास्तरवोऽभिभूय पुरुषमवतत्यैवोत्तिष्ठन्ते, यैरभिभूतो न सत्तामतिवर्तते। तत्रैवं जातिरूपवित्तवृत्तबुद्धिशील विद्याभिजनवयोवीर्यप्रभावसंपन्नोऽहमित्यहङ्कारः, यन्मनोवाक्कायकर्म नापवर्गाय स सङ्गः, कर्मफलमोक्षपुरुषप्रेत्यभावादयः सन्ति वा नेति संशयः, सर्वावस्थास्वनन्योऽहमहं सृष्टा स्वभावसंसिद्धोऽहमहम् शरीरेन्द्रिय-बुद्धिस्मृति विशेषराशिरिति ग्रहणमभिसंप्लवः, मम मातृपितृभ्रातृदारापत्यबन्धुमित्रभृत्यगणो गणस्य चाहमित्यभ्यवपातः, कार्याकार्यहिताहितशुभाशुभेषु विपरीताभिनिवेशो विप्रत्ययः, ज्ञाज्ञयोः प्रकृतिविकारयोः प्रवृत्तिनिवृत्योश्च सामान्यदर्शनमविशेषः, प्रोक्षणानशनाग्निहोत्रत्रिषवणाभ्युक्षणावाहनयाजनयजनयाचनसलिलहुताशनप्रवेशादयः, समारम्भाः प्रोच्यन्ते ह्यनुपायाः। एवमयमधोधृतिस्मृतिरहङ्काराभिनिविष्टः, सक्तः ससंशयोऽभिसंप्लुतबुद्धिरभ्यवपतितोऽन्यथादृष्टिरविशेषग्राही विमार्गगतिर्निवासवृक्षः सत्वशरीरदोषमूलानां सर्वदुःखानां भवति। एवमहङ्कारादिभिर्दोषभ्राम्यमाणो नातिवर्तते प्रवृत्तिं, सा च मूलमघस्य।—च० शा० ५।१०

२. धीधृतिस्मृति विभ्रंशः सम्प्राप्तिः कालकर्मणाम्।
असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्याः दुःखहेतवः॥—च० शा० १।९८

स्मृति) प्रज्ञा के ही भेद हैं इनके विभ्रंश होने पर फलतः अनुचित कार्य किये जाते हैं उन अनुचित कार्यों को प्रज्ञापराध कहा जाता है। जैसा कि आचार्य ने कहा है, 'धी, धृति तथा स्मृति के नष्ट होने पर मनुष्य जब अशुभ कर्म करता है तब सभी सांसारिक एवं मानसिक दोषों के प्रकुपित करने वाले उस कारण को प्रज्ञापराध कहा जाता है।[१]' प्रज्ञापराध का विस्तृत वर्णन करते हुए कहा गया है—'गतिमान मलमूत्रों के वेगों को (जो निकलते न हों पर चलायमान हों तो) वलात् निकालने का प्रयत्न करना तथा आते हुए वेगों को रोक लेना, अधिक साहसों का सेवन करना, स्त्रियों का सेवन अधिक करना, कर्म के समय की उपेक्षा कर देना, पञ्चकर्म का अनुचित रूप में सेवन करना, विनय तथा सदाचार को छोड़ देना, पूज्य पुरुषों एवं देवताओं का अपमान करना, स्वयं जानते हुए भी अहित अर्थों का सेवन करना, उन्माद उत्पन्न करने वाले कारणों का अधिक सेवन करना, बिना समय (अर्थात् मध्यरात्रि में, दुर्दिन आदि समयों में) अदेश (चैत्य, चत्वर आदि स्थानो में) भ्रमण करना, नीच कर्म करने वालों से मित्रता करना, सद्वृत्तों को न करना, ईर्ष्या, अभिमान, भय, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा भ्रम का होना और ईर्ष्या आदि से युक्त होकर निन्दित शारीरिक कर्म करना और इसी प्रकार के अन्य कर्म जो रज एवं तमों गुण से आविष्ट मन एवं आत्मा के द्वारा किये जाते हैं उन सभी कर्मों को सज्जन पुरुष प्रज्ञापराध कहते हैं।[२] एक अन्य स्थल पर प्रज्ञापराध के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—'बुद्धि से उचित

१. धीधृतिस्मृति विभ्रष्टः कर्म यत् कुरुते शुभम्।
प्रज्ञापराध तम् विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्॥—च० शा० १।१०

२. उदीरणं गतिमतामुदीर्णानां च निग्रहः।
सेवनं साहसानां च नारीणां चातिसेवनम्॥
कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्च कर्मणाम्।
विनयाचारलोपश्च पूज्यानाम् चाभिधर्षणम्॥
ज्ञातानां स्वयमर्थानामहितानां निषेवणम्।
परममौन्मादिकानाम् च प्रत्ययानां निषेवणम्॥
अकालादेशसंचारी मैत्री संक्लिष्टकर्मभिः।
इन्द्रियोपक्रमोक्तस्य सद्वृतस्य वर्जनम्॥
ईर्ष्यामानभयक्रोधलोभमोहमदभ्रमाः।
तज्जं वा कर्म यत् क्लिष्टं क्लिष्टं यद् देहकर्मं च॥
यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसमुत्थितम्।
प्रज्ञापराधं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारणम्॥—च० शा० १।१०३-१०८

रूप में ज्ञान न होना (कभी यथार्थ ज्ञान तो कभी अयथार्थ ज्ञान का होना) और विषम अर्थात् अनुचित कार्यों में प्रवृत्त होना इसे प्रज्ञापराध जानना चाहिये। ये विषम ज्ञान तथा विषम प्रवृत्ति मन के विषय हैं।[1] मन में वैषम्य उत्पन्न होने पर तज्जन्य ज्ञान में विषमता उत्पन्न होती है और ज्ञान में विषमता उत्पन्न होने पर वाणी तथा शरीर की प्रवृत्ति भी विषम हो जाती है। इसलिए प्रज्ञामूलक होने के कारण इन कर्मों को प्रज्ञापराध की संज्ञा दी जाती है। प्रज्ञापराध के निरूपण के पश्चात हम पुनः पूर्व उत्थापित विषय बुद्धि-विभ्रंश का विवेचन करेंगे। नित्य और अनित्य एवं हितकारी तथा अहितकारी कर्म, काल और अर्थ का विषम (विपरीत) अभिनिवेश करने पर बुद्धि-विभ्रंश जानना चाहिये, क्योकि प्रकृतिस्थ बुद्धि सम अर्थात् जो जैसा है उसे वैसा ही देखती है।[2] बुद्धिजन्य रोगों को अतत्वाभिनिवेश कहते हैं। विषय वासना की ओर प्रवृत्त चित्त (मन) को धृति-भ्रंश के कारण अहितकर अर्थों से रोका नहीं जा सकता (इसको धृति-भ्रंश समझना चाहिये) क्योंकि धृति ही मन को नियंत्रित करने वाली है[3] रज एवं मोह से आवृत है चित्त जिसका ऐसे आत्मा वाले जिस पुरुष की तत्वज्ञान (यथार्थ ज्ञान) विषयक स्मृति (स्मरण ज्ञान) नष्ट हो जाती है उसे स्मृति भ्रंश कहा जाता है, क्योंकि यथार्थ स्मृति में स्मरण करने योग्य सभी वस्तुएँ आश्रित हैं।[4]

धी, धृति तथा स्मृति के विभ्रंश होने पर सत्, असत् का पार्थक्य मनुष्य नहीं कर सकता जिससे कि उसको सांसारिक भोगों के प्रति तृष्णा उत्पन्न होती है इसी तृष्णा से राग तथा द्वेष की उत्पत्ति होती है। सात्म्य विषयों के प्रति राग उत्पन्न होता है तथा असात्म्य विषयों के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है जिससे कि अज्ञानी पुरुष सुखी दुखी होता रहता है। जैसा कि आचार्य ने कहा भी है, 'सुखो दुखों से इच्छा-द्वेषरूपा तृष्णा की प्राप्ति होती है। फिर वही तृष्णा सुख तथा दुखों का कारण बनती है। वही तृष्णा वेदना के आश्रयभूत शरीर एवं मन को दृढ़तापूर्वक पकड़ती है। स्पर्श के कारणभूत तृष्णा के अभाव में शरीर तथा मन और इन्द्रियों का संयोग

---

१. बुद्धया विषमविज्ञानं विषमं च प्रवर्तनम्।
प्रज्ञापराधं जानीयान् मनसोगोचरं हि तत्॥—च० शा० १।१०९

२. विषमाभिनिवेशो यो नित्यानित्ये हिताहिते।
ज्ञेयः स बुद्धिविभ्रंशः समं बुद्धिर्हि पश्यति॥—च० शा० १।९९

३. विषयप्रवणं सत्वं धृतिभ्रंशान्न शक्यते।
नियन्तुमहितार्थाद्धृतिर्हिनियमात्मिका॥—च० शा० १।१००

४. तत्व ज्ञाने स्मृतिर्यस्य रजोमोहावृतात्मनः।
भ्रंश्यते स स्मृतिभ्रंशः स्मर्तव्यं हि स्मृतो स्थितम्॥—च० शा० १।१०१

न होगा तब इनके संयोग के अभाव में अर्थों का संयोग न होगा अतः वेदना का ज्ञान भी नहीं होगा।[१] अर्थात् धी, धृति एवं स्मृति के विभ्रंश से तृष्णा एवं तृष्णा से राग द्वेष (सुख दुख) तथा राग द्वेष से तृष्णा की उत्पत्ति होती है। इनकी यह चक्रवत् आवृत्ति होती रहती है तथा अज्ञानी व्यक्ति इन्हीं में बंधा रहता है।

इन्हीं राग-द्वेषों से प्रेरित कर्मों के कारण राशिसंज्ञक पुरुष उत्पन्न होता है जो कि सुखदुख का भोक्ता है।[२] जब तक चित्त रागद्वेषादि भावों से युक्त रहेगा तब तक सत्वगुण के अभाव के कारण यह उन गुणों के प्रभाव से समस्त दोषों का आश्रय रहेगा। जैसा कि कहा भी गया है कि सदोष मन तथा पूर्वकृतकर्म ही मनुष्यदेहान्तर-गति तथा धर्माधर्मरूप प्रवृति का कारण है।[३] क्योंकि राजस गुण के प्रभाव से चित्त रोशांस से युक्त होकर मन दूषित हो जाता है। तथा तामस गुण के प्रभाव से मोहांश से युक्त होने के कारण भी मन सदोष हो जाता है।[४] जब मन में सत्वगुण का उद्रेक होता है तो रजस तथा तमस अभिभूत हो जाते हैं एवं कालान्तर में अभ्यास से मन इनसे भी निवृत्त हो जाता है जैसा कि आचार्य ने कहा है—'रज तथा तम से संयुक्त पुरुष के लिये चौबीस तत्वों वाला यह संयोग पुरुष अनन्तवान है अर्थात् यह संयोग उसके लिये कभी समाप्त होने वाला नहीं है। परन्तु रज तथा तम के हट जाने पर तथा सत्वगुण के बढ़ जाने पर मोक्ष हो जाता है।[५] जिन अज्ञानी पुरुषों का चित्त रजस तथा तमस से रंग गया है वे इस संसार चक्र में डूबते उतराते रहते हैं परन्तु जो लोग रजोगुण तथा तमोगुण से रहित हो चुके हैं वे इस उद्भव प्रलय के बन्धन से

---

१. इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखात् प्रवर्तते।
तृष्णा च सुखदुःखानां कारणं पुनरुच्यते॥
उपादत्ते हि सा भावान् वेदनाश्रयसंज्ञकान्।
स्पृश्यते नानुपादाने नास्पृष्टो वेत्ति वेदनाः॥—च० शा० १।१३५

२. पुरुषो राशिसञ्ज्ञकस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः।—च० शा० १।५३

३. रजस्तमोभ्यां हि मनोऽनुबद्ध ज्ञानाद् बिना तत्र हि सर्वदोषाः।
गतिप्रवृत्योस्तु निमित्तमुक्तं मनः सदोषम् बलवच्च कर्म॥
—च० शा० २।३८

४. तत्र शुद्धयदोषमाख्यातं कल्पांशतत्वात्।
राजसम्सदोषमाख्यातम रोशांशकत्वात।
तामसामपि सदोषमाख्यातं मोहांशत्वात्॥—च० शा० ४।३७

५. रजस्तमोभ्यामयुक्तस्य संयोगोऽनन्तवान्।
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्ववृद्धया निवर्तते॥—च० शा० १।३६

मुक्त हो जाते हैं।[१] इसलिये वही व्यक्ति मुमुक्ष हैं जो कि मानसिक रज तम दोषों से दूर हो चुका है। जो मानस दोषों से ग्रस्त है उसके लिये मोक्ष का उपदेश व्यर्थ है।[२]

इन्हीं राग द्वेषादि भाव-दोषों को उपधा भी कहा जाता है।[३] यह उपधा ही सम्पूर्ण दुखों का कारण है। जैसा कि आचार्य ने कहा है—'उपधा ही दुख तथा दुख का आश्रयभूत शरीर की उत्पत्ति में मूल कारण है, सभी प्रकार की उपधाओं का त्याग करना सम्पूर्ण दुखों का नाशक है। जिस प्रकार कोषकार (रेशम पैदा करने वाला कीट) वधप्रद अंशुओं (रेशों) को स्वयं उत्पन्न करता है—उसी प्रकार मूर्ख पुरुष अर्थों के द्वारा स्वयं तृष्णा को प्राप्त करता है तथा सदा रोगी (दुःखभागी) बना रहता है। जो ज्ञानी पुरुष हैं वे उन विषयों को अग्निसदृश दुखदायी जानकर उससे निवृत्त हो जाते हैं तथा पुनः रज एवं तम के अभाव के कारण किसी कार्य का आरम्भ नहीं करते। कार्यों के आरम्भ के अभाव के कारण ही शरीर का संयोग न होने से आत्मा दुख को प्राप्त नहीं होती।[४] इस प्रकार रज तथा तम गुण का मन एवं आत्मा से सम्बन्ध रखना ही उपधा कहा जाता है। इन रज तथा तम के कारण ही दुख एवं पुनर्जन्म होता रहता है। फलतः पुनर्जन्म की परम्परा होने से राग-द्वेष बनता रहता है जिससे कि दुख की उत्पत्ति होती रहती है।

दुःख के हेतुओं में प्रथम हेतु बुद्धि धृति एवं स्मृति के विभ्रंश का सम्पूर्ण वर्णन सम्पन्न हो गया है। अब अन्य दो हेतुओं का वर्णन किया जायगा।

अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग से युक्त होकर ऋतुओं का आना दूसरा कारण है। पूर्वजन्मकृत अशुभ कर्मों की प्राप्ति अर्थात् उनका फलोन्मुख होना तीसरा कारण है। प्रत्येक कर्म का फल अवश्यमेव भोगना पड़ता है। आचार्य ने कहा है, 'वह कोई भी ऐसा बड़ा कर्म नहीं जिसका फल न भोगना पड़े। कर्मज रोग चिकित्सा

---

१. येषां द्वन्द्वे परासक्तिरहङ्कारपराश्च ये।
उदयप्रलयौ तेषां न तेषां त्वतोऽन्यथा॥—च० शा० १।६६

२. न चानिवृत्तसत्वदोषाणामदोषैरपुनर्भवो धर्मद्वारेषूपदिश्यते।—च० शा० ११।२८

३. भावदोष उपधाऽदोषोऽनुपधा।

४. उपधा हि परो हेतुर्दुःखदुःखाश्रयप्रदः।
त्यागः सर्वोपधानां च सर्वदुःखव्योपहकः।
कोशकारो यथा ह्यंशूनुपादत्ते वधप्रदान्।
उपादत्ते तथाऽर्थेभ्यातृष्णामज्ञः सदाऽऽतुरः।
यस्त्वग्निकल्पानर्थाञ्ज्ञो ज्ञात्वा तेभ्यो निवर्तते।
अनारम्भादसंयोगात्तं दुःखं नोपतिष्ठते॥—च० शा० १।९५-९६

के फल को नष्ट कर देते हैं। जब अन्यान्य कर्मों से उस जन्मान्तरीय कर्म का नाश होता है तब कर्मज रोग शान्त हो जाते हैं।[1] तात्पर्य यह है कि छोटे-छोटे कर्म प्रायश्चित्त के द्वारा भी नष्ट हो जाते हैं परन्तु बड़े कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। असात्म्य विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग-दुख का चतुर्थ हेतु है। दुःख के इन सभी हेतुओं में प्रज्ञापराध (धी, धृति, स्मृति का विभ्रंश) की प्रधानता है क्योंकि प्रज्ञापराध के बिना न तो पूर्वजन्मकृत अशुभ कर्मों का सम्पादन ही सम्भव है, न ही इन्द्रियों का असात्म्य विषयों के साथ संयोग ही सम्भव है। कालजन्य रोग भी अधर्माचरण से होते हैं। जैसाकि कहा गया है—'वायु इत्यादि में जो विगुणता उत्पन्न होती है उसका मूल पूर्वजन्मकृत अधर्म है अथवा (इसी जन्म में) पहले जो असत् कर्म किये गये हैं, वे उस विगुणता के मूल हैं और इन दोनों का मूल कारण प्रज्ञापराध ही है।[2] इस प्रकार दुख का कारण प्रज्ञापराध ही सिद्ध होता है।

प्रज्ञापराध न हो, इसके लिये चित्त से रज एवं तम का नाश होना आवश्यक है। तभी मोक्ष सम्भव है। जैसा कि भगवान् आत्रेय का कथन है—'मन से जब रज तथा तम का अभाव होता है और बलवान कर्मों का क्षय हो जाता है तब कर्म-संयोग अर्थात् कर्मजन्य बन्धनों से वियोग हो जाता है उसे ही अपुनर्भव अर्थात् मोक्ष कहते हैं। जिसके एकबार हो जाने पर पुनः जन्म नहीं होता।[3]

जब बलवान कर्मों का क्षय हो जायेगा तो कर्म के अभाव में संयोग का अभाव सुतरां सिद्ध है। संयोग के अभाव में मुक्त पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता परन्तु यह सब तभी सम्भव हैं जब चित्त में रज एवं तम का अभाव होगा। प्रश्न यह है कि रज तथा तम से चित्त को कैसे असम्पृक्त रखा जाय इसके लिये आयुर्वेद योग को उपाय रूप में प्रतिपादित करता है क्योंकि समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध योग से ही सम्भव है। योग के लक्षण को बताते हुए आचार्य कहते हैं—'आत्मा, इन्द्रिय, मन तथा अर्थों के सन्निकर्ष से सुख तथा दुख दोनों होते हैं जब आत्मा में मन स्थिर होता है तो किसी कार्य में मन न होने से सुख तथा दुख ये दोनों निवृत्त हो जाते हैं तब शरीर के साथ

---

१. न हि कर्म महत् किञ्चित् फलं यस्य भुज्यते।
क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षयात्।—च० शा० १।११७

२. वाय्वादीनां यद् वैगुण्यमुत्पद्यते, तस्य मूलमधर्मः तन्मूलं वा असत्कर्म पूर्वकृतम् तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव।

३. मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्म संक्षयाद्।
वियोगः सर्व संयोगैरपुनर्भव उच्यते॥—च० शा० १।१४२

आत्मा वशी हो जाती है । योग के जानने वाले ऋषि इसे योग कहते हैं।[1] तात्पर्य यह है कि सतत वैराग्य एवं अभ्यास के द्वारा पाँचो वृत्तियों का शमन हो जाता है तब शरीर के रहने पर भी आत्मा वशी हो जाता है अर्थात इन्द्रिय निग्रहोपरान्त अपने को अपने अधीन कर लेता है । वैशेषिक दर्शन भी योग के इस आयुर्वेदीय लक्षण से सहमत है-- आत्मा, इन्द्रिय, मन तथा अर्थ के सन्निकर्ष से सुख तथा दुख होते हैं कर्मों के न प्रारम्भ किये जाने पर जब मन आत्मा में स्थिर हो जाता है उस समय दुखों का अभाव हो जाता है इसी को योग कहते हैं।[2]

भगवान आत्रेय कहते हैं—'मनुष्य को सतत् अभ्यास के बाद जब योग की सिद्धि हो जाती है उसका इन लक्षणों से परिचय मिलता है—दूसरे के शरीर में प्रवेश करना अर्थात् दूसरे के मन की बात जानना, (आवेश) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध अर्थों को अपनी इच्छा से प्रवृत्त करना, अतीन्द्रिय वस्तुओं को देखना, कर्णेन्द्रियों से अपनी इच्छित वस्तुओं को चाहे वे दूर की हो चाहे निकट की हो देखना, स्मरण शक्ति का प्रकृतिस्थ रहना । शरीर में देवताओं की तरह कान्ति हो जाय । जब इच्छा हो तो अपने शरीर को छिपा ले और जब चाहे जगत के सामने प्रत्यक्ष कर दे यह आठ प्रकार के बल योगियों को योग सिद्ध करने पर ईश्वर से प्राप्त होता है इस प्रकार का योग शुद्ध सत्व अर्थात् रज तथा तम से रहित मन का आत्मा के साथ सम्बन्ध होता है तभी यह सब होता है।[3]

योग सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचनों से यह स्पष्ट है कि योग (समाधि) के माध्यम से समस्त वृत्तियों का शमन होने पर चित्तं शुद्ध हो जाता है फलतः समस्त वस्तुओं में माध्यस्थ भाव हो जाता है अर्थात् न किसी से राग रहता है न किसी से द्वेष जिससे कि बलवान कर्मों का क्षय हो जाता है । यहाँ पर ज्ञातव्य है कि प्रारब्ध कर्मों की

---

१. आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते ।
सुखदुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे ॥
निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते ।
सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः ॥—च० शा० १।१३८

२. आत्मेन्द्रियमनोअर्थसन्निकर्षात् सुखदुखे ।
तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभाव स योगः ॥—वै० ५।२।१५-१६

३. आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया ।
दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ॥
इत्यष्टविधमाख्यातम् योगिनां बलमैश्वरम् ।
शुद्धसत्वसमाधाना तत् सर्वमुपजायते ॥—च० शा० १।१४१

समाप्ति भोग कर लेने के पश्चात् ही होती है। इस प्रकार से जीवात्मा वेदनारहित होकर मुक्त हो जाता है, अतः सिद्ध है कि योग मोक्ष का प्रवर्तक है जैसा कि भगवान् आत्रेय ने कहा है--'योग तथा मोक्ष में सभी वेदनाओं का नाश हो जाता है मोक्ष में वेदनाओं का आत्यन्तिक नाश होता है, योग मोक्ष को दिलाने वाला होता है।'[1] तात्पर्य यह है कि योग में समाधि के टूटने पर वेदनाएँ पुनः प्राप्त हो सकती हैं परन्तु मोक्ष में शरीर, इन्द्रिय, मन, कर्म एवं कर्मफल तथा अहंकार सम्पूर्ण वेदनाओं का आत्यन्तिक नाश हो जाता है। योग से वेदनाओं की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती क्योंकि वह साधन है। और इस साधन का साध्य है मोक्ष। मोक्ष में समस्त वेदनाओं का अत्यन्ताभाव हो जाता है। समस्त प्राणियों के लिए इस लोक में तथा मरने के अनन्तर परलोक में जो कल्याण है एवं मोक्ष में जो परम कल्याण है वह सब मनस्समाधि के ऊपर अवलम्बित है। अतः योग निःश्रेयस मोक्ष का साधक सिद्ध होता है।[2]

वस्तुतः वेदनाओं का कारण है प्रकृति तथा पुरुष के विवेक ज्ञान का न होना। प्रकृति एवं उसके विकार ही बन्धनकारक हैं। पुरुष विवेक-ज्ञान के अभाव में उन्हें अपना समझता है जिससे कि उनके प्राप्त होने पर सुखी तथा न प्राप्त होने पर दुखी होता रहता है। चरक-संहिता में ठीक ही कहा गया है—'सभी कारणों वाला कार्य दुख का हेतु आत्मा से सम्बन्धित वह कार्य नहीं है एवं अनित्य है। आत्मा उदासीन है अतः वह कार्य आत्मा द्वारा नहीं किया गया है पर उसमें (अज्ञानवश) स्वता (वह मुझसे किया गया हैं या मेरा है) उत्पन्न होती है यह भ्रमात्मक ज्ञान तब तक बना रहता है जब तक कि सत्या बुद्धि से यह मैं बुद्धि अहंकार से उत्पन्न नहीं हूँ और यह बुद्धि आदि मेरे नहीं है अपितु प्रकृति के प्रपंच मात्र हैं—यह ज्ञान नहीं हो जाता है। यह ज्ञान जब हो जाता है तब आत्मा को ज्ञानी कहा जाता है और तब आत्मा सभी तत्त्वों को स्मृति-बल से जानकर संसार का अतिक्रमण कर जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता हैं।[3]

---

१. योगे मोक्षे च सर्वासाम वेदनामनिवर्तनम्।
मोक्षे निवृत्ति निश्शेषाम् योगो मोक्ष प्रवर्तकः ॥—च० शा० १।१३७

२. प्रेत्य चेह न यच्छ्रेयः श्रेयो मोक्षे च यत्परम्।
मनस्समाधौ तत्सर्वमायत्तं सर्वदेहिनाम् ॥—च० चि० २४।४२

३. सर्वकारणवद् दुःखमस्वं चानित्यमेव च।
न चात्मकृतकं तद्धि तत्र चोत्पद्यते स्वता।
यावन्नोत्पद्यते सत्या बुद्धिर्नैतदहं यया।
नैतन्ममेति विज्ञाय ज्ञः सर्वमतिवर्तते ॥—च० शा० १।१५२-१५३

भगवान् आत्रेय के इस कथन से स्पष्ट है कि समस्त वेदनाओं के मूल में प्रकृति एवं पुरुष के विवेक-ज्ञान का न होना है। इसी अज्ञान के कारण प्रवृत्ति होती है एवं उस प्रवृत्ति से मानसिक दोषों की उत्पत्ति होती है उन मानसिक दोषों के कारण धी, धृति तथा स्मृति का विभ्रंश होता है एवं उस विभ्रंश के कारण मोहद्वेषात्मिका उपधाएँ पैदा हो जाती है उन उपधाओं से प्रवृत्ति एवं प्रवृत्ति से अहंकारादि दोष एवं इन दोषों से मनुष्य का मन एवं शरीर रोगी हो जाते हैं, परन्तु सत्याबुद्धि के उदित होने पर पुरुष अपने स्वरूप को पहचान लेता है तथा उसमें पुरुष प्रकृति के एक्य भाव का नाश हो जाता है। जिससे कि समस्त वेदनाओं का भी नाश हो जाता है। जैसा कि भगवान् आत्रेय ने कहा है—"जब आत्मा सभी वस्तुओं का अतिक्रमण कर लेती है और वह उस चरम संन्यास अवस्था में संज्ञा (नाम मात्र का निर्विकल्प ज्ञान) ज्ञान (सविकल्पक ज्ञान), विज्ञान (शास्त्र का ज्ञान) से शून्य हो जाती है तो वहाँ सभी प्रकार के भूत, भविष्य एवं वर्तमान वेदनाएँ अवशेष रूप से (सम्पूर्ण रूप से) नष्ट हो जाती है।[१] समस्त सकारण भावों को अनित्य जानकर उनका त्याग करना ही चरम संन्यास है। चरम संन्यास[२] में चित्त से रज तथा तम दूर हो जाते हैं तथा समूल वेदनाएं नष्ट हो जाती हैं। जिससे कि न तो जन्म होता है न ही मरण होता है यह चरम संन्यास ज्ञान से ही प्राप्त होता है तथा ज्ञान से अधर्म सहित समस्त वेदनाएँ नष्ट हो जाती हैं।[३] और अन्ततः जीव को मुक्ति मिल जाती है। इस जीवनमुक्त पुरुष का फिर से दुःख से संयोग नहीं होता। जैसा कि भगवान आत्रेय ने कहा है—"सर्वदा सभी जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में सब लोक एवं शरीरगत भावों को तुल्य रूप में देखते हुए जीवनमुक्त शुद्ध पुरुष का धर्म तथा अधर्म से संयोग नहीं होता।[४] यह जीवनमुक्त पुरुष देह त्याग करने के पश्चात् शरीर, मन तथा इन्द्रियों का अभाव हो जाने पर मुक्त कहा जाता है।[५] मुक्त हो जाने पर वह ब्रह्मभूत अर्थात् ब्रह्म स्वरूप हो जाता है तब भूतात्मा का ज्ञान किसी

---

१. तस्मिंश्चरमसंन्यासे समूलाः सर्ववेदना।
   ससंज्ञाज्ञानविज्ञाना निवृत्तिं यान्त्यशेषतः॥

२. सर्वसंन्यासः सुखानाम्।—च० सू० २५।४०

३. ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।—गीता

४. पश्यतः सर्वभावान् हि सर्वावस्थासु सर्वदा।
   ब्रह्मभूतस्य संयोगो शुद्धस्योपपद्यते॥—च० शा० ५।२१

५. नात्मनः करणावल्लिंगमप्युलभ्यते।
   स सर्वकरणायोगान्मुक्त इत्यभिधीयते॥—च० शा० ५।२२

लिङ्ग से नहीं होता है। क्योंकि जब जीवात्मा ब्रह्मस्वरूप हो जाता है तब वह सभी भावों (बुद्धि, अहंकार आदि अष्ट प्रकृति और सोलह विकार) से निसृत अर्थात् रहित हो जाता है। ऐसी दशा में उस जीवात्मा का कुछ चिह्न नहीं रहता है।[1] इस प्रकार से वह जीवनमुक्त पुरुष ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है यह ब्रह्म-प्राप्ति मोक्ष-प्राप्ति ही है क्योंकि मोक्ष ब्रह्म का पर्याय है जैसा कि मोक्ष के पर्याय-वाची शब्दों को बताते हुए भगवान् आत्रेय ने कहा है—'विपाप, विरज, शान्त, पर, अक्षर, अव्यय, अमृत, ब्रह्म, निर्वाण तथा शान्ति ये मोक्ष के पर्याय कहे जाते हैं।[2] चिकित्सा दर्शन की भाँति वेदान्त दर्शन में भी ब्रह्म तथा मोक्ष पर्याय माने गये हैं।

मोक्ष प्राप्ति के उपाय

इसी अध्याय की पिछली पंक्तियों में हम यह बता चुके हैं कि प्रवृत्ति ही समस्त पापों का कारण होती है। परन्तु निवृत्ति मार्ग में चलने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्रस्तुत स्थल में निवृत्ति-मार्ग में मुमुक्ष पुरुषों के लिए मोक्ष प्राप्ति के उपायों की व्याख्या की जा रही है—"यह संसार दुःखमय है, ऐसे लोक में रहने को दोषस्वरूप देखने वाला तथा मोक्ष की इच्छा रखने वाला पुरुष, सर्वप्रथम आचार्य (गुरु) के पास जाय तथा जिस प्रकार गुरु उपदेश करें, उसी रूप में पालन करे, अग्नि की सेवा करें अर्थात् सायंकाल, प्रातः अग्निहोत्र करें। धर्मशास्त्र में बताये हुए कर्म एवं मार्गों का अनुगमन करे। धर्मशास्त्र के अर्थों का ज्ञान करे, धर्मशास्त्र के अर्थों को गुरु के मुख से श्रवण कर उसके अनुसार अपने चित्त को स्थिर करे, धर्मशास्त्र के अर्थों को जानकर उनमें बतायी गयी क्रियाओं का पालन करे, सत्पुरुषों की सेवा करे, और उनके पास बैठे, असज्जन पुरुषों को छोड़ दे, दुर्जन पुरुषों का साथ न करे, प्राणिमात्र के लिए हितकर कोमल, यथासमय परीक्षा कर (विचार कर) सत्य बोले, प्राणिमात्र को अपने समान देखे, सभी स्त्रियों का स्मरण, संकल्प, प्रार्थना (इच्छा) और उनके साथ वार्तालाप का त्याग करे, सभी परिग्रह (बन्धन लाने वाली वस्तुओं) का त्याग, शरीर ढकने मात्र के लिए कौपीन धारण करना, गेरू से रंगे वस्त्रों का धारण करना, कन्था (कथरी) सीने के लिए

---

१. अतः परम् ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते ।
निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिन्हं यस्य न विद्यते ॥—च० शा० १।१५४

२. विपापं विरजः शान्तं परमक्षरमव्ययम् ।
अमृतम् ब्रह्म निर्वाणं पर्यायैः शान्तिरुच्यते ॥—च० शा० ५।२३

सुई तथा पिप्पलक (सुई धारण करने के लिए पात्र विशेष) रखना शौच, (शरीरशुद्धि) के लिए जलकुण्डिका (कमण्डलु) और आधान (चलते समय यदि लड़खड़ा कर गिरने लगे तो उससे बचाव के लिए) दण्ड धारण करना, भिक्षा माँगने के लिए पात्र धारण करना, प्राण की रक्षा हो सके अतः एक समय अग्राम्य (कन्द, मूल, फल आदि जो मिल सके) उसका भोजन करना, थकावट दूर करने के लिए गिरे हुए सूखे पत्ते और तृण के बिछौने एवं तकिया का सहारा लेना, ध्यान के लिए योगासन लगाना, जंगलों में बिना घर के निवास करना, तन्द्रा, निद्रा तथा आलस्य उत्पादक कर्मों का त्याग करना, सभी इन्द्रियों के प्रिय विषयों में अनुराग (सुख) तथा अप्रिय विषयों में उपताप (दुःख) इन दोनों का निग्रह करना अर्थात् सुख एवं दुःख उत्पादक विषयों में समान रूप से उदासीन रहना, सोने, बैठने, चलने, देखने, भोजन करने तथा प्रत्यङ्ग चेष्टा के प्रारम्भ में हित-अहित के स्मरण की प्रवृत्ति का होना, सत्कार, प्रशंसा, निन्दा, अपमान को सहना, शोक, दीनता, मान, उद्वेग, मद, लोभ, राग (प्रेम) ईर्ष्या, भय, क्रोध आदि से विचलित न होना, अहंकार, संग, संशय आदि को उपद्रव समझना (इनमें प्रवृत्त न होना), संसार तथा पुरुष के सृष्टि आदि कार्यों में समान बुद्धि रखना, कार्य के उचित समय बीतने में भयभीत होना, योगाभ्यास के आरम्भ करते समय सदा शारीरिक एवं मानसिक चिन्ताओं से रहित होना, मन में उत्साह रखना, मोक्ष-प्राप्ति के लिए बुद्धि, धैर्य तथा स्मरण-शक्ति के बल को अपने शरीर में संचित करना, चित्त (मन) में इन्द्रियों का तथा आत्मा में मन का नियमन करना, धातुभेद से (जैसे षड्धातुज, एकधातुज) आत्मा के शरीरावयवों का ज्ञान रखना, सभी कारण से उत्पन्न होने वाले उत्पत्तिधर्मा पदार्थ दुःखदायी, तत्वहीन एवं अनित्य हैं यह बार-बार स्वीकार करना, सभी प्रकार के प्रवृत्ति मार्ग का नाम दुःख है तथा सर्वसंन्यास (सभी पदार्थों का त्याग) में ही यथार्थ सुख है, ऐसे उपर्युक्त विभिन्न तथ्यों का ज्ञान रखना, यही मोक्ष का मार्ग है। इन बताये हुए नियमों के विपरीत चलने पर मनुष्य बन्धन को प्राप्त होता है। इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के उपायों की व्याख्या की गई है।[1]

---

१. तत्र मुमुक्षणामुदयनानि व्याख्यास्यामः। तत्र लोक दोषदर्शिनो मुमुक्षारादित एवाचार्याभिगमनं, तस्योपदेशानुष्ठानम्, अग्नेरेवापचर्या, धर्मशास्त्रगमनं, तदर्थावबोधः, तेनावष्टम्भः, तत्र यथोक्ताः क्रिया, सतामुपासनम्, असतां परिवर्जनम्, असङ्गतिर्दुर्जनेन, सत्यं सर्वभूतहितमपरुषमनतिकाले परीक्ष्य वचनं, सर्वप्राणिषु चात्मनीवावेक्षा, सर्वासामस्मरणसङ्कल्पनमप्रार्थनामभिभाषणं च स्त्रीणां, सर्वपरिग्रहत्यागः, कौपीनं प्रच्छादनार्थं, धातुरागनिवसनं,

उपर्युक्त नियमों का पालन करने से मनुष्य के चित्त से सांसारिक आसक्ति समाप्त हो जाती है एवं इन ऊपर बताए हुए उपायों के द्वारा रज तथा तम से रहित होकर मन वैसे ही शुद्ध हो जाता है जैसे तेल, कपड़े एवं बाल के बने हुए ब्रश से मलने पर दर्पण पूर्ण साफ हो जाता है। सूर्यादिग्रह, मेघ, धूलि, धूम, कुहरा आदि से न ढका हुआ सूर्यमण्डल जिस प्रकार चमकता रहता है। वह शुद्ध मन आत्मा से रुद्ध होने के कारण अर्थात् आत्मस्थित निर्मल मन मार्ग के रुके रहने पर उस प्रकार प्रकाशमान होता है जिस प्रकार दीपक की ज्वाला दीपाशय (लालटेन) में प्रकाशित होती है।[1]

एक अन्य स्थल में मोक्षोपाय बताते हुए आचार्य ने कहा है—'सज्जनों की अच्छी प्रकार से सेवा करनी चाहिये, दुष्टजनों का साथ न करना, चान्द्रायण व्रतों को करना, आत्मशुद्धि के लिये उपवास करना, अलग-अलग बताए हुए नियमों का

कन्थासीवनहेतोः सूचीपिप्पलकं, शौचाधानहेतोर्जलकुण्डिका, दण्डधारणम्, भैक्षचर्यार्थपात्रं, प्राणधारणार्थमेककालमग्राम्यो यथोपपन्नोऽभ्यवहारः, श्रमापनयनार्थं शीर्णशुष्कपर्णतृणास्तरणोपधानं, ध्यानहेतोः कायनिबन्धनं, वनेष्वनिकेतवासः, तन्द्रानिद्रालस्यादिकर्मवर्जनं, इन्द्रियार्थेष्वनुरागोपतापनिग्रहः, सुप्तस्थितगतप्रेक्षिताहारविहारप्रत्यङ्गचेष्टादिकेष्वारम्भेषु स्मृतिपूर्विका प्रवृत्तिः, सत्कारस्तुतिगर्हावमानक्षमत्वं, क्षुत्पिपासायासश्रमशीतोष्णवातवर्षासुखदुःखसंस्पर्शसहत्वं, शोकदैन्यमानोद्वेगमदलोभरागेर्ष्याभयक्रोधादिभिरसंचलम्, अहङ्कारादिषूपसर्गसंज्ञा, लोकपुरुषयोः सर्गादिसामान्यावेक्षणं, कार्यकालात्ययभयं, योगारम्भे सततमनिर्वेदः, सत्वोत्साहः, अपवर्गाय धीधृतिस्मृतिबलाधानं, नियमनमिन्द्रियाणां चेतसि, चेतस आत्मनि, आत्मनश्चः, धातुभेदेन शरीरावयवसंख्यानमभीक्ष्णं, सर्वं कारणवद्दुःखमस्वमनित्यमित्यभ्युपगमः, सर्वप्रवृत्तिष्वघसंज्ञा, सर्वसंन्यासे सुखमित्यभिनिवेशः, एष मार्गोऽपवर्गाय, अतोऽन्यथा बध्यते, इत्युदयनानि व्याख्यातानि।—च० शा० ५।१५

१. एतैरविमलं सत्वं शुद्धुपायैर्विशुध्यति।
मृज्यमान इवादर्शस्तैलचेलकचादिभिः॥
ग्रहाम्बुदरजो धूमनीहारैरसमावृत्तम्।
यथाऽर्कमण्डलं भाति भांति सत्वं तथाऽमलम्॥
ज्वलत्यात्मनि संरुद्धं तत् सत्वं संवृतायने।
शुद्धः स्थिरः प्रसन्नार्चिर्दीपोदीपाशये यथा॥—च० शा० ५।१३-१५

पालन करना, धर्म-शास्त्रों का अभ्यास करना, विज्ञान अर्थात् प्रमाणों के द्वारा प्रमा का ज्ञान करना, निर्जन एकान्त स्थान में रहना, कामक्रोधादि विषयों में प्रेम न करना, मोक्ष साधक कर्मों में प्रवृत्ति रखना, उत्तम धैर्य को रखना, नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों का अथवा भविष्य में अधर्म के साधनभूत कर्मों का प्रारम्भ न करना, पूर्वजन्म में या इस जन्म में किये हुए कर्मों का क्षय होना, घर से या आश्रय से दूर होकर कर्म-फल भोगने के लिए कर्म न करना, अहंकार न करना, आत्मा तथा शरीर के संयोग होने पर अपने को भयभीत बनाना अर्थात् उसे चारों तरफ से भय ही भय दिखाई देना, मन तथा बुद्धि को समाधिस्थ करना, अर्थ के तत्वों की परीक्षा करने के बाद उसका ग्रहण करना, यह सभी ठीक-ठीक स्मृति के प्राप्ति से ही प्रवृत्त होते हैं। मोक्ष के उपायों में बताए हुए—'सज्जन पुरुषों के सेवन से लेकर धृति पर्यन्त' नियमों का पालन करने से स्मृति उत्पन्न होती है तथा उस स्मृति के द्वारा भाव (संसार के उत्पन्न पदार्थों) के (अस्थाई) स्वभाव का स्मरण होता है। तब वह दुःख से मुक्त हो जाता है।[1] स्मृति ठीक रहने से सभी सकारण भाव दुःखदायी हैं ऐसी मनोवृत्ति बनने से किसी भी कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती जिससे कि कालान्तर में मोक्ष प्राप्त हो जाता है। स्मृति की उत्पत्ति में आठ कारण होते हैं— निमित्त (कारण) के ग्रहण से (कार्य का स्मरण जैसे जुलाहे को देखकर वस्त्र का स्मरण करना), रूपग्रहण (जैसे वन में गवय को देखकर गौ का स्मरण करना), सादृश्य (गुरु के सदृश गुरु को देख कर अपने गुरु का स्मरण करना), विपर्यय से (जैसे अत्यन्त स्थूल व्यक्ति को देखकर अत्यन्त कृश व्यक्ति का स्मरण करना, एकाग्र चित्त होने से, अभ्यास से (अभ्यस्त वस्तु को ज्ञान के आधार पर स्मरण करना), ज्ञान योग से (समाधि के पश्चात होने वाले ज्ञान से एवं (भूली वस्तु) को पुनः

---

१. सतामुपासनं सम्यग्सतां परिवर्जनम्।
व्रतचर्योपवासौ च नियमाश्च पृथग्विधाः ॥
धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञानं विजने रतिः।
विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः परा धृतिः ॥
कर्मणामसमारम्भः कृतानां च परिक्षयः।
नैष्क्रम्यमनहङ्कार संयोगे भयदर्शनम् ॥
मनोबुद्धिसमाधानमर्थतत्वपरीक्षणम् ।
तत्वस्मृतेरुपस्थानात् सर्वमेतत् प्रवर्तते ॥
स्मृतिः सत्सेवनाद्यैश्च धृत्यन्तैरुपजायते।
स्मृत्वा स्वभावं भावानां स्मरन् दुःखात् प्रमुच्यते ॥—च० शा० १।१४३-१४६

सुनने से पूर्व काल में देखे गये एवं अनुभूत ज्ञानों का स्मरण करना स्मृति कही जाती है।[1]

जिस प्रकार योग का बल महान् होता है उसी प्रकार तत्व-स्मृति का बल भी महान् होता है। जिस प्रकार योग मोक्ष का साधन है उसी प्रकार तत्व-स्मृति मार्ग भी मोक्ष का साधन है। भगवान् आत्रेय का कथन है—'जीवन्मुक्त पुरुषों ने मोक्ष का यह मार्ग दिखाया है जिस व्यक्ति ने योग ज्ञान से तत्व-स्मृति का बल प्राप्त कर लिया, तब इस मार्ग से जो गया अर्थात् मृत हुआ वह फिर जन्म लेकर इस संसार में नहीं आता। योगी जन इस तत्व-स्मृति बल को योग का मार्ग बताते हैं और पुनः धर्म को उन्होंने जान लिया है तथा जो परम ज्ञानी हैं ऐसे जीवन्मुक्त पुरुषों ने इसे मोक्ष का मार्ग बताया है।[2]

मोक्ष प्राप्त करने के उपायों में शरीर के प्रति एकत्व बुद्धि का परित्याग एक अन्यतम उपाय है। चरक-संहिता के 'शरीरसंख्याशारीराध्याय' में शरीर के अवयवों की संख्या की गणना के पश्चात् भगवान् आत्रेय का कथन है—'अनेक अवयवों से युक्त यह शरीर बताया गया है। अर्थात् अवयव-समूह को शरीर माना जाता है। इन अवयव समूहों को एकत्वेन देखना संग (आसक्ति) है। इन अवयवों को अलग-अलग देखना अपवर्ग (मोक्ष) है। (एकत्व भावना के दूर होने पर) यह प्रधान भूत आत्मा जब संग रहित होता है तब सर्व सन्तान की निवृत्ति होने पर अर्थात् संयोग-विभाग की परम्परा का विनाश होने पर आत्मा की निवृत्ति अर्थात् मोक्ष हो जाता है।[3] तात्पर्य यह है कि यह शरीर वास्तव में अवयवों का समूह है परन्तु अज्ञान के कारण पुरुष इसके प्रति आसक्त होता है जिससे कि इसके रक्षार्थ उसकी प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति होने से राग-द्वेष होते हैं। तथा राग-द्वेष होने से

---

१. वक्ष्यन्ते कारणान्यष्टौ स्मृतिर्यरूपजायते।
निमित्तारूपग्रहणात् सादृश्यात् सविपर्ययात्॥
सत्वानुबन्धादभ्यासाज्ज्ञानयोगात् पुनः श्रुतात्।
दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणात् स्मृतिरुच्यते॥—च० शा० २।१४८-१४९

२. एतत्तदेकमयनं मुक्तैर्मोक्षस्य दर्शितम्।
तत्वस्मृतिबलं, येन गता च पुनरागताः॥
अयनं पुनराख्यातमेतद्योगस्य योगिभिः।
संख्यातधर्मैः सांख्यैश्च मुक्तैर्मोक्षस्य चायनम्॥

३. तदेतच्छरीरं संख्यातमनेकावयवयम् दृष्टमेकत्वेन सङ्ग, पृथकत्वेनापवर्गः। तत्र प्रधानमसक्तं सर्वसत्तानिवृत्तौ निवर्तते इति।—च० शा० ७।१८

शुभ-अशुभ संस्कार होते हैं जिनसे कि जन्म तथा मरण होता रहता है इसलिए इसमें एकत्व-बुद्धि के परित्याग से मनुष्य जन्म, जरा, मरण से रहित होकर मोक्ष प्राप्त करता है एक अन्य स्थल में कहा गया है, 'जो वैद्य सभी अवयवों के साथ शरीर संख्या (अवयव समूह) को जानता है वह अज्ञान के कारण (शरीर को तत्वतः न जानने के कारण उत्पन्न मोह से युक्त नहीं होता सभी प्रकार से शरीर तत्वों को जानने वाला अमूढ (विद्वान) अज्ञान के कारण होने वाले दोषों से अभिभूत नहीं होता और सभी शरीर-तत्वों को भली प्रकार जान लेने पर 'सर्वं कारणवद् दुःखम्' को समझकर राग-द्वेष से रहित हो जाने पर निर्दोष स्पृहा-रहित शान्त और पुनर्जन्म शून्य होकर शान्त हो जाता है ।[1] अब तक के बताए हुए मोक्षोपायों का पालन करने पर मनुष्य का चित्त उपधाओं से रहित होकर अपने शुद्ध रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है फलतः उसमें सम्यक्-ज्ञान का उदय हो जाता है । भगवान् आत्रेय ने कहा है शुद्ध मन वाले पुरुष में जो सत्याबुद्धि उत्पन्न होती है, जिस सत्याबुद्धि से अतिबलिष्ठ भयंकर मोहस्वरूप तम को भेदन करने में मनुष्य समर्थ हो जाता है, जिसके द्वारा सभी उत्पत्तिधर्माभावों के स्वभाव को जानकर निस्पृह हो जाता है, जिस सत्याबुद्धि से योग की सिद्धि होती है, जिससे सांख्य (तत्वज्ञाता) हो जाता है । जिस बुद्धि के प्राप्त हो जाने पर अहंकार नहीं होता है, जिस सत्या-बुद्धि के कारण (जिससे पुनर्जन्म मरण हो ऐसे कार्यों) की उपासना नहीं करता है जिसके द्वारा किसी (राग-द्वेष, कामादि) का आलम्बन (आश्रय) नहीं लेता, जिससे सभी वस्तुओं को त्याग दिया जाता है जिस बुद्धि के द्वारा नित्य, अजर, शान्त और अक्षर ब्रह्म को प्राप्त किया जाता है उस सत्याबुद्धि को ही विद्या, सिद्धि, मति, मेधा, प्रज्ञा और ज्ञान कहा जाता है ।[2] इस प्रकार से हम देखते हैं कि मोक्ष

---

१. शरीर संख्यां यो वेद सववियवशो भिषक् ।
तदज्ञाननिमित्तेन स मोहेन न युज्यते ॥
अमूढो मोहमूलैश्च न दोषैरभिभूयते ।
निर्दोषो निःस्पृहः शान्तः प्रशाम्यत्यपुर्नभवः ॥—च० शा० ७।१६-२०

२. शुद्धसत्वस्य या शुद्धा सत्याः बुद्धि प्रवर्तते ।
यया भिनत्यतिबलम् महामोहमयं तमः ॥
सर्वभावस्वभावज्ञो यया भवति निस्पृहः ।
योगं यया साधयते सांख्यः संपद्यते यया ॥
यया नोपैत्यहङ्कारं नोपास्ते कारणं यया ।
यया नालम्बते किञ्चित् सर्वसंन्यस्यते यया ॥

प्राप्त करने के लिए जितने भी उपाय बताये गये हैं उन सभी का पर्यवसान मन से रज तथा तम के दूरीकरण में ही होता है। वस्तुतः इसका कारण यह है कि रज से तथा तम से असम्पृक्त मन (चित्त) ही मोक्ष-प्राप्ति में प्रधान साधन है। इसको आनन्दमय दर्शन के लिए तैयार करना ही इसका कार्य है।[1]

• •

याति ब्रह्म यया नित्यमजरं शान्तमव्ययम्।
विद्या सिद्धिर्मतिर्मेधा प्रज्ञा ज्ञानं च सा मतः ॥—च० शा० ५।११

१. अपने को इस प्रकार तैयार करो जैसे कि एक वधू अपने वर का स्वागत करने के लिए करती है।—मारकोस दि नौस्टिक—इरेनियम १।१२।३

उपसंहार

समस्त संस्कृत के चिकित्सा-ग्रन्थों का प्रणयन चिकित्सा-विज्ञान को दृष्टि में रखकर किया गया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध से सम्बन्धित चिकित्सा-ग्रन्थों में जिन दार्शनिक तत्वों का समावेश मिलता है, वह भारतीय सतत आध्यात्मिक चिन्तन का परिणाम है। हमारी आध्यात्मिक दृष्टि के अनुसार आत्मा अणु से भी अणुतम तथा महान से भी महानतम है एवं वह आत्म-तत्व सम्पूर्ण चराचर दृश्य-अदृश्य जगत् में विद्यमान है। इस आध्यात्मिक-दृष्टि से चिकित्सा-ग्रन्थ कैसे अप्रभावित रहते? फलतः संस्कृत के चिकित्सा-ग्रन्थों में भी आध्यात्मिक तत्व का विशद विवेचन मिलता है। इस आध्यात्मिक तत्व-निरूपण को सर्वाङ्गीण बनाने के प्रयास में प्रमाण, प्रकृति तथा मोक्षादि का प्रासङ्गिक निरूपण भी मिलता है। इस प्रकार जगत तथा ब्रह्माण्ड एवं मोक्ष की व्याख्या करने वाले किसी भी दार्शनिक प्रस्थान के प्रतिपादक ग्रन्थों की अपेक्षा इन चिकित्सा-ग्रन्थों का दार्शनिक महत्व कथमपि कम-नहीं है अपितु अधिक ही है। क्योंकि अन्य दार्शनिक-ग्रन्थों का उद्देश्य मनुष्य को केवल मोक्ष की प्राप्ति कराना है जबकि संस्कृत के चिकित्सा-ग्रन्थ लौकिक सुख की प्राप्ति के उपायों को बताने के साथ ही साथ, चरम सुख मोक्ष को प्राप्त करने के उपायों की सफल व्याख्या करते हैं।

हमने ऊपर यह संकेत दिया है कि दार्शनिक तत्वों के निरूपण के प्रसंग में ये चिकित्सा-ग्रन्थ तत्कालीन दार्शनिक-चिन्तन से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं। वस्तुतः इसका कारण यह है कि उस समय दर्शन तथा चिकित्सा शास्त्र का विकास साथ ही साथ एक ही काल में हो रहा था। तत्कालीन उन दार्शनिक चिन्तन-धाराओं में से सांख्य दर्शन तथा वैशेषिक दर्शन की तात्विक व्याख्या से प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध से सम्बन्धित संस्कृत के चिकित्सा-ग्रन्थ सर्वाधिक प्रभावित हुए हैं। इस स्थल में यह स्पष्टीकरण भी आवश्यक है कि संस्कृत के चिकित्सा-ग्रन्थों में वर्णित आयुर्वेदीय दर्शन पूर्वोक्त दार्शनिक प्रणालियों का अन्धानुकरण नहीं करता वरन् जिन-जिन स्थलों में सांख्य तथा वैशेषिक दर्शनगत तात्विकीय व्याख्या चिकित्सा दृष्टि के प्रतिकूल है उनका ग्रहण चिकित्सा-ग्रन्थों में नहीं किया गया तथा साथ ही उस स्थल में चिकित्साशास्त्रीय दृष्टि के अनुकूल स्वतन्त्र तथा मौलिक व्याख्या की गई है। जैसे सांख्य दर्शन में इन्द्रियों को आहंकारिक माना गया है जो कि आयुर्वेदिक दृष्टि

के प्रतिकूल है, परन्तु संस्कृत के चिकित्सा-ग्रन्थों में इन्द्रियों को भौतिक माना गया है, जो कि चिकित्साशास्त्रीय दृष्टि के अनुकूल है। इन ग्रन्थों में अन्य स्थलों में भी यह मौलिक एवं स्वतन्त्र व्याख्या की गयी है, जिनका कि वर्णन इस ग्रन्थ में सम्बन्धित स्थानों पर किया गया है। इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप में यह भी कह सकते हैं कि संस्कृत के चिकित्सा-ग्रन्थों में वर्णित दर्शन एक मौलिक व स्वतन्त्र दर्शन है।

हम जानते हैं कि संस्कृत के चिकित्सा-ग्रन्थों का तात्कालिक उद्देश्य चिकित्सा ही है अतः अन्त में चिकित्सा के उन चतुष्पादों का वर्णन करना अत्यावश्यक हो जाता है, जिनके अभाव में चिकित्सा कर्म सम्भव ही नहीं है। प्रस्तुत स्थल में चिकित्सा के चतुष्पाद तथा उनके गुणों का वर्णन किया जायेगा।

चिकित्सा के मूल पाद—चिकित्सा के मूल चार पाद हैं। ये पाद हैं चिकित्सक, द्रव्य (औषधि), उपस्थाता (परिचारक) तथा रोगी।[1] चिकित्सा के इन चारों पादों का अपना-अपना महत्व है परन्तु इन सभी में अपने महत्व के कारण वैद्य सर्वप्रमुख है।

चिकित्सक का प्राधान्य

जिस प्रकार भण्डारी की पाकक्रिया में पात्र, ईंधन तथा अग्नि (सभी) कारण होते हैं, परन्तु भण्डारी की कारणता सर्वप्रमुख है तथा जिस प्रकार विजय प्राप्ति की इच्छा से प्रवृत्त नृपति की विजय में भूमि, सेना और अस्त्र-शस्त्र कारण होते हैं परन्तु इन कारणों में स्वयं नृपति की कारणता प्रधान होती है उसी प्रकार जब वैद्य रोग दूर करने में प्रवृत्त होता है तो धातुओं की समता में रोगी, औषध और परिचारक कारण होते हैं परन्तु इन कारणों में वैद्य सर्वप्रधान होता है। जिस प्रकार मिट्टी, दण्ड, चक्र और सूत्र इन चारों के रहते हुए भी बिना कुम्हार के घड़े की उत्पत्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार पादत्रय (औषधि, परिचारक, रोगी) के होने पर भी वैद्य के अभाव में आरोग्य की प्राप्ति नहीं होती है।[2] चारों पादों में

१. भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्। गुणवत् कारणं ज्ञेयं विकाराण्युपशान्तये।—च० सू० ९।३
तु०—भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पाद चतुष्टयम्।—अ० सं० सू० २, पृष्ठ २०

२. पक्तौ हि कारणं पक्तुर्यथा पात्रेन्धनलाः। विजेतुर्विजये भूमिश्चमूः प्रहरणानि च। आतुराद्यास्तथा सिद्धौ पादाः कारणसंज्ञिताः। वैद्यस्यातश्चिकित्सायां प्रधानं कारणं मृद्दण्डचक्रसूत्राद्याः कुम्भकाराद्ऋतेऽयथा। नावहन्ति गुणं वैद्याद् ऋते पादत्रयं तथा भिषक्।—च० सू० ९।११-१३

औषधियों को जानने वाला, परिचारक पर शासन करने वाला तथा रोगी में रोगानुसार ओषधि योगों का योग करने वाला वैद्य ही प्रधान माना गया है।[1] इसी तरह की धारणा अन्य चिकित्सा-ग्रन्थों में भी मिलती है। सुश्रुत संहिता में कहा गया है—'वैद्य, रोगी, औषधि तथा परिचारक—ये चिकित्सा के चार पाद हैं तथा धातुसाम्यरूपी कर्म की सिद्धि में कारण हैं। अपने-अपने गुणों से युक्त रोगी, औषध तथा परिचारक इन तीन पादों से युक्त चौथा गुणवान् वैद्य बड़ी व्याधि को भी थोड़े समय में ठीक कर देता है।[2]

एक अन्य स्थल में इसी तथ्य को रूपात्मक भाषा कहा गया है—'वैद्य से रहित तीनों पाद गुणयुक्त होने पर भी निरर्थक हो जाते हैं जैसे यज्ञ में अध्वर्यु (उपाध्याय) के बिना उद्गाता (सामवेदगायक), होता (ऋग्वेदज्ञ) और ब्रह्मा निरर्थक होते हैं। गुणवान् एक ही वैद्य रोगियों को रोग रूपी समुद्र से सदा पार कर देता है जैसे कि जल में फँसी हुयी तथा अन्य प्रतितरो से रहित नौका को कुशल कर्णधार तार देता है।[3]

काश्यपसंहिता में कहा गया है—वस्तुतः चिकित्सा का मूल वैद्य है। शेष तीन पाद वैद्य के ही आधीन होते हैं तथा सिद्धि भी वैद्य पर निर्भर है। वह वैद्य ही ज्ञानचक्षुओं के द्वारा (औषधि इत्यादि की) योजना करता है तथा परिचारक को शासनात्मक निर्देश करता है। इसीलिए ज्ञान-विज्ञान से युक्त वैद्य श्रेष्ठ माना जाता है।[4]

काश्यपसंहिताकार का कथन है—'हे (जीवक) जब चिकित्सा के चारों पाद

---

१. ····। विज्ञाता शासिता योक्ता प्रधानं भिषगत्र तु।—च० सू० ९।१०

२. वैद्यो व्याध्युपसृष्टश्च भेषजं परिचारकः एते पादाश्चिकित्सायाः कर्मसाधन-हेतवः। गुणवद्भिस्त्रिभिः पादैश्चतुर्थो गुणवान् भिषक्। व्याधिमल्पेन कालेन महान्तमपि साधयेत्।—सु० सू० ३४।१५-१६

३. वैद्यहीनास्त्रयः पादाः गुणवन्तोऽप्यपार्थकाः।
उद्गातृहोतृब्रह्माणो यथाऽध्वर्युबिनाऽध्वरे॥
वैद्यस्तु गुणवानेकस्तारयेदातुरान् सदा।
प्लवं प्रतितरैर्हीनं कर्णधारं इवाम्भसि॥—सु० सू० ३४।१७-१८

४. भिषग्वशे त्रिवर्गो हि सिद्धिश्च भिषजि स्थिता।
स युनक्ति प्रयुङ्क्ते च शास्ति च ज्ञानचक्षुषा।
तस्माज्ज्ञाने सविज्ञाने युक्तः श्रेष्ठतमो भिषक्॥—का० सू० २७।९-१०

गुणयुक्त होते हैं तभी वैद्य धर्म, अर्थ तथा यश का भागी होता है।' अतः प्रस्तुत स्थल में चिकित्सा के चारों पादों के आवश्यक गुण बताये जा रहे हैं।

चिकित्सक के गुण

प्रायः सभी चिकित्सा ग्रन्थ इस बात पर सहमत हैं कि चिकित्सक को शास्त्रों का अभ्यास होना चाहिए तथा उसे चिकित्सा कर्म में भी अभ्यस्त होना चाहिए, वह बुद्धिमान्, पवित्र व दयालु हो। चरकसंहिता में कहा गया है—'शास्त्र का अच्छी प्रकार ज्ञान रखना, अनेक बार रोगी, औषधि-निर्माण, तथा औषधि-प्रयोग का द्रष्टा होना, दक्ष होना अर्थात् समय के अनुसार युक्ति की कल्पना करने में परम चतुर होना, पवित्रता रखना—यह चारों वैद्य के उत्तम गुण हैं।'[1] एक अन्य स्थान में भी कहा गया है—'चिकित्सक वह है जो चिकित्सा द्वारा रोग को दूर करता है, जो आयुर्वेद के सूत्रों का अर्थ जानने और प्रयोग करने में कुशल है, जिसे ठीक-ठीक आयु का ज्ञान हो। वह सभी धातुओं की समता रखने की इच्छा से अपनी आत्मा की ही पहले परीक्षा करे। गुणवान् वस्तुओं में गुण से कार्य की उत्पत्ति को देखते हुए कहीं हम इस कार्य को उत्पन्न करने में अर्थात् इस रोग की चिकित्सा करने में समर्थ होंगे या नहीं। उसमें ये जैद्य के गुण होते हैं जिनसे युक्त वैद्य धातुओं की समता उत्पन्न करने में समर्थ होता है—जैसे पर्यवदातश्रुतता (शास्त्रों का ज्ञान होना), प्रत्येक कार्यों को देखने वाला होना, कुशल होना, पवित्र होना, जितहस्तता (हाथों का यशस्वी होना), सभी सामग्रियों से युक्त होना, सभी इन्द्रियों से युक्त होना, प्रकृति को समझना, युक्ति को समझना ये नौ गुण हैं।[2]

सुश्रुतसंहिता में कहा गया है—'गुरु के मुख से कहे शास्त्र को पढ़कर तथा अनेक बार उसका ग्रन्थात्मक तथा क्रियात्मक अभ्यास (अनुभव) करके जो चिकित्सा

---

१. श्रुते पर्यवदातत्वं बहुशो दृष्टकर्मता।
दाक्ष्यं शौचमिति ज्ञेयं वैद्ये गुणचतुष्टयम् ॥—च० सू० ९।६

२. भिषग्नाम यो भिषज्यति, यः सूत्रार्थप्रयोगकुशलः, यस्य चायुः सर्वथा विदितं यथावत्। स च सर्वधातुसाम्यं चिकीर्षन्नात्मानमेवादितः परीक्षेत् गुणिषु गुणतः कार्याभिनिर्वृत्तिं पश्यन्, कच्चिदहमस्य कार्यस्याभिनिर्वर्तने समर्थो न वेति, तन्नेमे भिषग्गुणा यैरुपपन्नो भिषग्धातुसाम्याभिनवर्तने समर्थो भवति, तद्यथा-पर्यवदातश्रुतता, परिद्रष्टकर्मता, दाक्ष्यं, शौचं, जितहस्तता, उपकरणवत्ता, सर्वेन्द्रियोपपन्नता, प्रकृतिज्ञता, प्रतिपत्तिज्ञता, चेति।—च० वि० ८।८६

रूपी कार्य करता है, वही वैद्य है, इसके विपरीत सब चोर है।'[1] एक अन्य स्थल पर कहा है—'समस्त शास्त्रों का ज्ञाता होने के साथ ही साथ उन शास्त्रों के के तात्पर्य का वास्तविक ज्ञान होना चाहिए अन्यथा शास्त्रों के अध्ययन करने पर उसके तात्विक अर्थ को न समझने वाला व्यक्ति वैसे ही है जैसे कि चन्दन की लकड़ी को वहन करने वाला गधा केवल उसके भार का ही ज्ञान रखता है किन्तु चन्दन की सुगन्ध तथा शीतादि गुणों को नहीं जानता है।[2] चिकित्सक को सभी कर्मों का ज्ञाता होना चाहिए क्योंकि एक ही शास्त्र को पढ़ने वाला व्यक्ति शास्त्र के निश्चय को भलीभाँति नहीं जान सकता इसलिए जिसने बहुत से शास्त्र पढ़े हों उसे चिकित्सक समझना चाहिए।[3]

शास्त्रों के वास्तविक तात्पर्य को जानने के साथ ही साथ उसे चिकित्सा-कर्म में भी निपुण होना चाहिए। जैसा कि सुश्रुतसंहिताकार के वचन हैं—जो वैद्य केवल शास्त्र को जानता है किन्तु प्रत्यक्ष कर्म में निपुण नहीं है वह रोगी के चिकित्सार्थ आने पर कर्त्तव्याकर्त्तव्य चिकित्सारूप कार्य में व्यामोह को प्राप्त होता है जैसे डरपोक आदमी युद्ध में जाकर घबरा जाता है। इसी तरह जो वैद्य निरन्तर कर्मोपासनाजन्य प्रगल्भता से प्रत्यक्ष कर्म में तो निपुण हो किन्तु शास्त्रीयज्ञान में शून्य हो उसकी सज्जनों में पूजा नहीं होती है और वह राजा से वध का दण्ड पाने के योग्य है। ये दोनों प्रकार के चिकित्सक अर्थात् एक शास्त्र में निपुण परन्तु क्रिया में अनिपुण तथा दूसरा क्रिया में निपुण परन्तु शास्त्र में अनिपुण एक-एक पंख को धारण करने वाले दो पक्षी की तरह आधे ज्ञान (वेद) को जानने वाले, समय पड़ने पर अपने-अपने कार्य में असमर्थ तथा अयोग्य प्रमाणित होते हैं।[4]

---

१. शास्त्रं गुरुमुखोदगीर्णमादायोपस्य चासकृतः।
य: कर्म कुरुते वैद्यः स वैद्योऽन्ये तु तस्कराः॥—सु० सू० ४।८

२. यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढा खरवद्वहन्ति॥—सु० सू० ४।४

३. एकशास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्।
तस्मादबहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः॥—सु० सू० ४।७

४. यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः।
स हि मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम्॥
यस्तु कर्मसु निष्णातो धाष्टर्याच्छास्त्रबहिष्कृतः।
स सत्सु पूजां नाप्नोति वधं चार्हति राजतः॥

एक अन्य स्थल में सुश्रुतसंहिताकार ने कहा है—'जो वैद्य शास्त्रज्ञ भी है तथा चिकित्साकर्मनिपुण भी है, वही वास्तविक वैद्य है जैसे रथ के दोनों पहियों पर रथ का संचालन निर्भर है, वैसे ही शास्त्रज्ञ होने पर तथा चिकित्साकर्मनिपुण होने पर ही वैद्य चिकित्सा का उचित संचालन कर सकता है।[1]

वैद्य में अपेक्षित गुणों का एक स्थल में समाहार करते हुए सुश्रुतसंहिताकार ने कहा है—'जिसने यथार्थरूप से शास्त्र के अर्थ को पढ़ा या समझा हो स्वयं जिसने प्रथम औषधि-निर्माण तथा चिकित्साकर्म को देखा हो एवं फिर अपने आप रस भस्मादि निर्माण व चिकित्सादि कार्य किया हो, जिसका हृदय लघु हो एवं शुचि, शूरवीर, सर्वप्रकार की साधन सामग्री तैयार रखता हो, जिसकी बुद्धि प्रत्युत्पन्न हो, बुद्धिमान्, व्यवसाय करने वाला, सर्व क्रियाओं में विशारद (दक्ष) तथा सत्य और धर्म में तत्पर हो ऐसा मनुष्य भिषक्पाद कहलाता है।[2]

अष्टांग संग्रह में वैद्य के गुण इस प्रकार बताये गये हैं—गुरु से अर्थ सहित शास्त्र का अध्ययन किया हुआ, कई रोगों की चिकित्सा का अनुभव प्राप्त, शरीर तथा मन से शुद्ध और चतुर—ये वैद्य के चार गुण हैं।[3] जो धूर्त प्रतिवादी शत्रुओं को भेद न दे, उनके बहकाने में न आवे, जो किसी भी कार्य को बहुत विचार के अनन्तर करे, जो सबको प्रिय सच्चा, सुडौल, सुन्दर वेष वाला, बहुश्रुत हो, जो समय तथा रोगियों आदि की अवस्था-प्रकृति आदि का जानने वाला, स्वामी

उभावेतावनिपुणावसमर्थौ स्वकर्मणि ।
अर्धवेदधरावेतावेकपक्षाविव द्विजौ ॥—सु० सू० ३।४८-५०

तु०—यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः ।
स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम् ॥
यः पुनः कुरुते कर्म धाष्टर्याच्छास्त्रविवर्जितः ।
स सत्सु गर्हमाप्नोति वधं चार्हति राजतः ॥—अ० सं० सू० २, पृ० १९

१. यस्तूभयज्ञो मतिमान् स समर्थो र्थसाधने ।
आहवे कर्म निर्वोढुं द्विचक्रः स्यन्दनो यथा ॥—सु० सू० ३।५३

२. तत्वाधिगतशास्त्रार्थोऽदृष्टकर्मा स्वङ्कृती । लघुहस्तः शुचिः शूरिः सज्जोपस्कर-भेषजः । प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी विशारदः सत्यधर्मपरो यश्च स भिषक्पाद उच्यते ।—सु० सू० ३४।२०

३. दक्षस्तीर्थान्त शास्त्रार्थो दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक् । बहुकल्पं बहुगुणं सम्पन्नं योग्य-मौषधम् ।—अ० सं० सू०, पृ० २०

बान्धवादिहीन, निरुपाय रोगियों की चिकित्सा करने वाला, योग्यता देखकर गुरु ने जिसे चिकित्सार्थ आज्ञा दी हो, वही गुरु का सच्छिष्य, वैद्य-पद को प्राप्त करता है। रोगों के आदि कारण, रोगों के लक्षण, रोगों की चिकित्सा तथा रोग पुनः उत्पन्न न हो, इन चारों बातों का जिसे ज्ञान है, वही राजाओं के योग्य श्रेष्ठ वैद्य है।[1]

वैद्य के गुणों को बताते हुए काश्यपसंहिताकार का कहना है—सुतीर्थ (योग्य गुरु वाला) न्यायपूर्वक जिसने आर्षज्ञान प्राप्त किया है, जो विज्ञानवान हो, जिसने बहुत बार चिकित्साकर्म देखा हुआ है, जिसे सिद्ध योगों का ज्ञान है, जो चतुर, दक्षिण तथा पवित्र है, जिसका वेश उद्धत नहीं है अर्थात् सभ्य वेश वाला है, सब प्राणियों के प्रति जिसके मन में बन्धु (प्रेम) भाव है, जिसके हाथ में सिद्धि है, जो धर्मार्थ रोगियों को देखने वाला है, जो सत्य, दया, दान तथा सरलतायुक्त है, जो देव, ब्राह्मण, गुरु तथा सिद्ध महात्माओं की पूजा तथा सेवा करने वाला है, जो उत्तरोत्तर रोग-निवृत्ति में कुशल है, जो गुरु तथा वृद्ध पुरुषों की सेवा करता है, जो न्यायवान है तथा भय, लोभ, मोह, क्रोध, असत्य, पिशुनता से रहित है, जिसे मद्य की आदत नहीं है, जो सुमुख (सुन्दर आकृति वाला) है तथा सब प्रकार के व्यसनों से रहित है ऐसा वैद्य श्रेष्ठ होता है।[2]

चरक संहिता में उत्तम वैद्य के छः लक्षण बताये गये हैं—'विद्या, वितर्क, विज्ञान, स्मृति, तत्परता, क्रिया—ये छः गुण जिस वैद्य में रहते हैं उस वैद्य से कोई भी साध्य रोग अच्छा न हो, ऐसा नहीं होता।[3] विद्या, मति, कर्मदृष्टि (चिकित्सा

---

१. अभेदोऽनुद्धतः स्तब्धः सूनृतः प्रियदर्शनः।
बहुश्रुतः कालवेदी ज्ञातग्रन्थोऽर्थशास्त्रवित्।
अनाथान् रोगिणो यश्च पुत्रवत्समुपचारेत्।
गुरुणा समनुज्ञातः स भिषक्शब्दमश्नुते।
हेतौ लिङ्गे प्रशमने रोगाणामपुनर्भव।
ज्ञानं चतुर्विधं यस्य स राजार्हो भिषक्तमः॥—अं० सं० सू० २।१०

२. तत्र भिषक् सुतीर्थो न्यायेनार्षज्ञानप्राप्तो विज्ञानवाननेकशो दृष्टकर्मा विदितसिद्धयोगो दक्षो दक्षिणः शुचिरनुद्धतवेषः सर्वभूतेषु बंधुभूतः सिद्धिमान् धर्मार्थदर्शी सत्यदयादानार्जवनिरतो देवद्विजगुरुसिद्धानां पूजयिता चाभिगन्ता चोत्तरोत्तरप्रतिपत्तिकुशलो गुरुवृद्धसेवी न्यायाभिवेशी व्यपगतभयलोभमोहक्रोधानृतोऽपैशुन्योऽमद्यलौल्यः सुमुखश्चाव्यसनी चेति।—का० सू० पृष्ठ ३७

३. विद्या वितर्को विज्ञानं स्मृतितत्परता क्रिया।
यस्यैते षड्गुणास्तस्य न साध्यमतिवर्तते॥—च० सू० ९।२१

कर्मों को बार-बार देखना), कर्मों का अभ्यास, चिकित्सा कर्म में सफलता के लिए सिद्धि का होना, आश्रय (श्रेष्ठ गुरुजनों के अधीन रहना—इन छः गुणों में से एक गुण का रहना 'वैद्य' नाम ग्रहण कराने के लिए पर्याप्त है। विद्या आदि शुभ गुणों से युक्त वैद्य यथार्थ में वैद्य शब्द को चरितार्थ करते हुए प्राणिमात्र को सुख देने वाला होता है।[1]

चिकित्सक को सदैव गुणों को बढ़ाना चाहिए क्योंकि चिकित्सा-कार्य करने में आतुर आदि तीन पाद वैद्य के अधीन रहते हैं। अतः वैद्य को वैद्यत्व प्राप्त करने के लिए पूरा प्रयत्न करना चाहिए।[2]

औषधि के गुण

औषधि के गुणों का निरूपण करते हुए चरकसंहिता में कहा गया है—औषधि का अधिक रूप में प्राप्त होना, औषधियों का व्याधिनाश में समर्थ होना, एक ही औषधि में अनेक विध (स्वरस, कल्क, चूर्ण बटी, अवलेह आदि) कल्पना की योग्यता होना तथा औषधियों का अपने रस, गुण, वीर्य, विपाकादि गुणों से युक्त होना, ये चारों औषधि के उत्तम गुण माने जाते है।[3]

जिस औषधि की अनेक कल्पनाएँ निर्मित की जा सकें वह औषधि 'अनेकविधकल्पना' होती है तथा उत्तम मानी गयी है। यह देखा गया है कि प्रत्येक रोगी की प्रकृति तथा रुचि भिन्न-भिन्न होती है। अतः सभी रोगियों को किसी एक कल्पना में निर्मित औषधि नहीं दी जा सकती अतः रोगी की प्रकृति तथा रुचि के अनुरूप यदि जिस औषधि की स्वरस, कल्क, चूर्ण, वटी, अवलेह आवश्यकता के अनुसार अन्यान्य कल्पनाएँ की जा सकें, वह औषधि उत्तम होती है।[4]

---

१. विद्या मतिः कर्मदृष्टिरभ्यासः सिद्धिराश्रयः।
वैद्यशब्दाभिनिष्पत्तावलयेकैकमप्यतः ।
यस्य त्वेते गुणाः सर्वे सन्ति विद्यादयः शुभाः।
स वैद्यशब्दसद्भूतर्महन् प्राणिसुखप्रदः ॥—च० सू० ६।२२-२३

२. चिकित्सते त्रयः पादाः यस्यादवैद्यव्यपाश्रयाः।
तस्मात् प्रयत्नामातिष्ठेद्भिषक् स्वगुणसंपदि ॥—च० सू० ६।२५

३. बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना।
संपच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुणः उच्यते ॥—च० सू० ६।७

४. सात प्रकार की प्रकृतियाँ होती हैं—
वातिकाः, पैत्तिकाः केचित् कफिनश्चैव देहिनः।

सुश्रुतसंहिताकार का कहना है—'अच्छी भूमि में उत्पन्न हुयी, अच्छे दिन में उखाड़ी हुयी, योग्य मात्रा में दी हुयी, मन को प्रसन्न करने वाली, गन्ध, वर्ण तथा रस से युक्त, दोषनाशक, ग्लानि नहीं करने वाली, पथ्यादि विपर्यय होने पर भी अन्य विकार नहीं करने वाली, परीक्षा करके योग्य समय पर दी गयी औषध भेषज-पाद कहलाती है।[1] यहाँ पर भेषज का एक गुण यह बताया गया है कि अशुद्ध रूप से प्रयुक्त होने पर भी विकारोत्पादक न हो। इसी आयुर्वेदीय सतर्क दृष्टि के कारण ही अनुचित रूप से प्रयोग किये जाने पर आयुर्वेदिक औषधियाँ प्राणघातक नहीं होती हैं। एलोपैथिक दवाओं में जो रसोपशयिक दवाएँ हैं वे सम्बन्धित विकार का प्रशमन तो करती हैं परन्तु पश्चात परिणाम (After effect) में भयानक हानिकारक होती है।

वाग्भट का कथन है—'स्वरस, क्वाथ चूर्णादि करके अनेक प्रकार से जिसकी कल्पना की गई हो, सारक, मन्द आदि गुणों से जो अनेक रोगों की नाशकारी हो, पाक आदि रीति से जो अच्छी तरह तैयार किया गया है, जो प्रशस्त देश में उत्पन्न हुआ—अविपन्न और व्याधि, देश, काल, दोष, द्रव्य, वय, देह तथा बलाबल के अनुसार रोगी के लिए हितकारी हो ये चार गुण औषध के हैं।'[2]

इस सम्बन्ध में काश्यपसंहिताकार का कहना है—'जो प्रशस्त भूमि में उत्पन्न हुयी हैं, उचित समय पर उखाड़ ली गयी हो, उचित समय में उत्पन्न की गयीं हो, विकाररहित हो जो अग्नि, जल, जन्तु, मल-मूत्र तथा अवस्था आदि से नष्ट न की गयी है, जो अमुक-अमुक रोग के योग्य हो तथा क्रमशः विधिपूर्वक

द्वन्द प्रकृतयश्चान्ये समस्थूणास्तथापरे।
अरोगास्तु समस्थूणा वादिकाद्याः सदाऽऽतुराः॥—का० सं० सू०, पृ० २

तत्वज्ञ पुरुष को चाहिए कि प्रकृति के अनुसार ही औषधियों की कल्पना करे, जो चिकित्सक इन प्रकृतियों को तत्वपूर्वक जानता है अथवा उन्हें ध्यान रखता है, वह चिकित्साकार्य में कभी भी व्यामूढ़ (मोहित) नहीं होता।

एता आश्रित्य तत्वज्ञो भेषजान्युपकल्पयेत।
य एता वेद तत्वेन न स मुह्यति भेषते॥—का० सू०, पृष्ठ ३

१. प्रशस्तदेशसम्भूतं प्रशस्तेऽहनि चोद्धृतम्।
युक्तमात्रं मनस्कान्तं गन्धवर्णरसान्वितम्।
दोषघ्नमग्लानिकरमविकारि विपर्यये।
समीक्ष्य दत्तकाले च भेषजं पाद उच्यते॥—सु० सू० ३४।२२-२३

२. अष्टांगसंग्रह—सू० २, पृष्ठ २०

जिसका प्रयोग किया हुआ हो ऐसी औषधि गुणयुक्त होती है ।[१]

परिचारक के गुण

वही परिचारक उत्तम माना जाता है जिसे सेवा कार्य का पूर्ण ज्ञान हो, चतुर हो, पवित्रता की रुचि वाला हो तथा अपने स्वामी के प्रति अधिक अनुराग वाला हो ।[२]

सुश्रुतसंहिताकार का कथन है—रुग्ण में स्नेह करने वाला, रोगी के मल-मूत्रादि करने पर निन्दा या घृणा नहीं करने वाला, बलशाली, रोगी की रक्षा में तन-मन से लगा हुआ, वैद्य के वाक्य के अनुसार रोगी की सेवा करने वाला तथा अधिक काम करने पर भी नहीं थकने वाला परिचाकपाद कहलाता है ।'[३]

अष्टांगसंग्रहकार का कहना है—सब विषयों में चतुर, रोगी का भक्त या प्रेमी, शरीर और मन से शुद्ध और बुद्धिमान ये परिचारक के चार गुण हैं ।[४]

काश्यपसंहिता में परिचारक में अपेक्षित समस्त गुणों को एक स्थल में समावेश करते हुए कहा गया है—'कषायों का पकाना, आरोग्यसम्पन्न, स्वामि-भक्तिसम्पन्न, उपचार को जानने वाला तथा रोगी की सेवा का ज्ञान होना, निपुणता, पवित्रता, शीघ्र कार्य करना, सब कार्यों में कुशलता, घृणा का न होना, क्षुद्र व्यक्ति का पुत्र न होना, जिसमें द्वैविध्य (दोगलापन) न हो, जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में किया हुआ है, क्रोध पर विजय पाई हुयी है ।'[५]

---

१. तत्र भेषजसम्पत्—सुभूमौ जातं, काले चोद्धृतं, काले चोत्पन्नम्, अविकारि, अग्नितोयजन्तुविष्ठामलमूत्रजरादिभिरमुपहतं तत्तद्रोगयोग्यं, क्रमेण च विधिवदुपपादितमिति ।—का० सू० २७।५

२. उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तरि: शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुण: परिचरे जने ।
—च० सू० ९।८

३. स्निग्धो जुगुप्सुर्बलवान् युक्तो व्याधितरक्षणे ।
वैद्यवाक्यकृदश्रान्त: पाद: परिचर: स्मृत: ।।—सु० सू० ३४।२४

४. अनुरक्त: शुचिर्दक्षो बुद्धिमान् परिचारक: ।—अ० सं० सू० अ० २, पृष्ठ २०

५. तत्र परिचारकसंपत्—विपक्वकषायता, आरोग्यं, शक्ति: भर्तृभक्ति:, उपचारज्ञता, दाक्ष्यं, शौचं, आशुकारित्वं, सर्वकर्मसु कौशलम्, अघृणित्वम्, अक्षुद्रपुत्रित्वम्, अद्वैविध्यं, दमो, जितक्रोधादिता सहिष्णुता चेति ।—का० सू० २७।७

रोगी के गुण

यद्यपि प्रत्येक रोगी की चिकित्सा करना वैद्य का कर्तव्य है परन्तु यदि रोगी वैद्य को पूर्णरूप से अपेक्षित सहयोग नहीं प्रदान करता तो चिकित्सा उसके लिए उपयोगी सिद्ध होगी या नहीं, यह संदिग्ध रहता है। यदि रोगी अपने चिकित्सक को किसी कारण संकोचवश या लज्जावश रोग सम्बन्धी सम्पूर्ण जानकारी नहीं देता या सम्बन्धित व्याधि का सम्पूर्ण इतिवृत्त नहीं निवेदित करता एवं चिकित्सक के द्वारा दिये समस्त निर्देशों का यथाविधि पालन नहीं करता तो की गई चिकित्सा पूर्णरूप से फलप्रद नहीं होती। इसीलिए रोगी की स्मरण शक्ति का उत्तम होना आवश्यक है जिससे कि जिन कारणों (हेतुओं) से रोगोत्पत्ति हुयी हो, उनको ठीक ढंग से चिकित्सक को अवगत करा सके। चिकित्सा-साफल्य के लिए रोगी में जिन गुणों का होना आवश्यक है, उनका वर्णन प्रस्तुत स्थल में किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में चरकसंहिताकार का कहना है—'स्मरणशक्ति, वैद्य के आज्ञाओं के पालन की प्रवृत्ति, निर्भयता, रोग तथा उपद्रवों को अच्छी प्रकार बता सकना, ये चार रोगी के उत्तम गुण माने गये हैं।'[1]

सुश्रुतसंहिताकार का कथन भी द्रष्टव्य है—आयुष्मान्, सत्यवान्, साध्य, धनी, आत्मवान्, आस्तिक तथा वैद्य के कथन को मानने वाला 'व्याधितपाद' कहा जाता है।[2]

वाग्भट, रोगी में जिन गुणों का होना आवश्यक है, उनका परिगणन करते हुए कहते हैं—'धनवान्, वैद्य का आज्ञाकारी, सेवन किये हुए औषध, अन्न, विहार के गुणावगुणों का तथा रोगी की अवस्था का अनुभव कर ठीक-ठीक बतलाने वाला तथा निर्भय—ये रोगी के चार गुण बताये गये हैं।'[3]

इस सन्दर्भ में काश्यपसंहिता का विचार भी उल्लेखनीय है—'जिसका रोग साध्य हो, जिसका सत्व (मन) बल, बुद्धि, शरीर, इन्द्रियाँ, धारणशक्ति तथा तेज दृढ़ हो, जो निदान, पूर्वरूप, रोग, उपद्रव, शरीरयात्रा, उपशय, अनुपशय को

---

१. स्मृति निर्देशकारित्वमभीरुत्वमथापि च।
ज्ञापकत्वं च रोगाणामातुरस्य गुणाः स्मृताः ॥—च० सू० ९।९

२. आयुष्मान् सत्ववान् साध्यो द्रव्यवानात्मवानपि।
आस्तिको वैद्यवाक्यस्थो व्याधितः पाद उच्यते ॥—सु० सू० ३४।२१

३. आढ्यो रोगी भिषग्वश्यो ज्ञापको सत्वानपि।—अ० सं० सू० अ० २, पृ० २०

यथावत् बता सके, धात्री (परिचारक) में जिसे श्रद्धा हो, देव, द्विज, गुरु, वैद्य, औषधि तथा मित्रों का अभिनन्दन करता हो, जो आस्तिक हो अर्थात् परमात्मा में विश्वास रखता हो, जो विनयशील हो, आज्ञा का पालन करता हो, जिसकी इन्द्रियाँ अपने वश में अर्थात् संयमी हो—ऐसा रोगी गुणयुक्त माना गया है।[1]

१. तत्रातुरसंपत्—साध्यरोगता, सत्वबलबुद्धिशरीरेन्द्रियधृतितेजसां दार्ढ्यं, निदानपूर्वरूपातङ्कोपद्रवात्रोपशयानुपशयानां यथावदाख्यानं, धात्र्या श्रद्धानता, देवद्विजगुरुभिषग्भेषज सुहृदामभिनन्दनम्, आस्तिक्यं, विनय प्रधानता, यथोक्तकारित्वंवशित्वं चेति।—का० सू० २७।६

सहायक-ग्रन्थों की सूची

अध्यात्मयोग तथा चिन्तन विकलन — वेंकटेश्वर शर्मा

अनुयोगद्वारसूत्र — टीका चूर्णि—जिनदास गणि

अमरकोष — अमरसिंह

अनुगीता — (महाभारत)

अष्टाध्यायी — पाणिनि

अष्टांग संग्रह — वाग्भट

अष्टांग संग्रह — अरुणदत्त की टीका

अष्टांग संग्रह — शशिलेखा नाम्नी टीका—इन्दु

अष्टांग संग्रह — टी० रुद्रपारशव का उपोद्घात

अष्टांग हृदय — वाग्भट

अष्टांग हृदय — (सम्पादक) गोंडे

अष्टांग हृदय — (सम्पादक) कार्डियर

अष्टांग हृदय — हिल्गेनवर्ग तथा किर्फल का जर्मन अनुवाद

अष्टांग हृदय — सी-फोगेल

अल्बरूनीज इण्डिया — जखाऊ

आपस्तम्ब धर्मसूत्र — ....

आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान — रणजीतराय देसाई

आप्तमीमांसा — समन्तभद्रस्वामी

आयुर्वेद का वृहद् इतिहास — अत्रिदेव विद्यालंकार

आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास — प्रियव्रत शर्मा

आन दि सोर्सज आफ इण्डियन मेडिसिन — जूलियस जाली

इन्ट्रोडक्सन टु साइन्स — टाम्सन

इण्डियन इथिक्स — सी० एच० आई वाल्यूम तीन

इण्डियन मेडिसिन — जूलियस जौली

इण्डियन मेडिसिन — ओ० पी० जग्गी

इतिहास प्रवेश — जयचन्द्र विद्यालंकार

इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड इथिक्स	वोलिंग
इवौल्यूसन आफ सांख्य सिस्टम आफ थाट	अनिमासेन गुप्ता
ईतसिग रिकर्ड आफ बुद्धिस्ट प्रेक्टिसिसेज इन इण्डिया	तकाकुसु
ईत्सिंग एण्ड वाग्भट	जूलियस जाली
उपनिषद	ईशावास्योपनिषद्, कठोपनिषद्ठो, कपनिषद्—भाष्य (शंकराचार्य), छान्दोग्योपनिषद्, तैत्तिरीय उपनिषद् बृहदारण्यकोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्
उत्तररामचरितम्	भवभूति
उपायहृदय	नागार्जुन
ऋग्वेद	....
ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर	मैकडानेल
ए क्रिटिकल स्टडी आफ फिलासफी आफ रामानुज	अनिमादास गुप्ता
ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर	कीथ
एजेज आफ दी वर्ल्ड एकार्डिंग टु दि पुरानाज	याकोबी
ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर	वेबर
एन्सियन्ट इण्डियन मेडिसिन	कुटुम्बिया
एन्सियन्ट इण्डिया	राधाकुमुद मुकर्जी
ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर	हर्बर्ट गोवन
क्लासिकल डाक्ट्रिन आफ इण्डियन मेडिसिन	फिलियोजा
कमेन्ट्री आन दि हिन्दू सिस्टम आफ मेडिसिन	टी० ए० वाइस
कथासरित्सागर	सोमदेव
काश्यप संहिता	काश्यप
कुमारसम्भव	कालिदास
किरातार्जुनीयम्	भारवि

कौटिल्य अर्थशास्त्र	चाणक्य
काशिका वृत्ति	वामन जयादित्य
गीता	वेदव्यास
गोमिल गृह्यसूत्र	गोमिल
भाष्य	चन्द्रकान्ततर्कालंकार
गौतमधर्मसूत्र	गौतम
चरकसंहिता	मोतीलाल बनारसीदास संस्करण
चरकसंहिता	चौखम्बा संस्करण
चरकसंहिता (खण्ड६)	जामनगर संस्करण
चरकसंहिता-आयुर्वेददीपिका	चक्रपाणि
चरकसंहिता-जल्पकल्पतरु	गंगाधर
चरकसंहिता	ज्योतिश्चन्द्र सरस्वती की टीका
चरकसंहिता	दुर्गाशंकर शास्त्री की टीका
चरकसंहिता	चरकपंजिका टीका-स्वामिकुमार
चरकसंहिता	निरन्तरपदव्याख्या-जेज्जट
चरक चिन्तन	प्रियव्रतशर्मा
चतुर्भाणी	सम्पादक—वासुदेवशरण अग्रवाल
ट्रैवल्स आफ बुद्धिष्ट पिलिग्रिम्स	एस० बील
टाइमिमस	प्लेटो
डेट एण्ड वर्क्स आफ वाग्भट	दि फिजीशियन—डी० सी० भट्टाचार्या
डिस्क्रिप्टिव कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट	(मद्रास)
तत्वत्रय	लोकाचार्य
तत्वसंग्रह	शान्तरक्षित
तत्वसंग्रहकारिका	कमलशील
तत्वसमाससूत्र व्याख्या	डा० रामशंकर भट्टाचार्या
	वैलन्टाइन कृत अंग्रेजी अनुवाद
तत्वचिन्तामणि	गंगेश उपाध्याय
तत्वप्रदीपिका	चित्सुखमुनि
तर्कभाषा	केशवमिश्र
तर्कसंग्रह	अन्नं भट
दि सांख्य फिलासफी	गर्बे (जर्मन)

दर्शन का प्रयोजन	डा० भगवानदास
दि पाजिटिव साइन्सेज आफ हिन्दूज	डा० शील
दि हिस्ट्री आफ पतंजलि	एस० एन० दासगुप्ता
दि मैटेरिया मेडिका आफ दि हिन्दूज	प्रो० विल्सन
दि मैटेरिया मेडिका आफ दि हिन्दूज	उदयचन्द्र दत्त
धर्मशास्त्र का इतिहास	पी० वी० काणे
न्याय कुसुमांजलि	उदयनाचार्य
न्याय कुसुमाञ्जलि-बोधिनी टोका	वरदराज मिश्र
न्याय कुसुमाञ्जलि-प्रकाश टीका	वर्धमान
न्याय कुसुमाञ्जलि-हरिदासवृत्ति	हरिदास
न्यायसार	भासर्वज्ञ
न्यायसार-पदपञ्जिका टीका	वासुदेव
न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका	परिशुद्धि-उदयन
न्यायकोश	भीमाचार्य झलकीकार
न्यायोक्ति कोश	छविनाथ मिश्रा
न्यायसूत्र	गोतम (अक्षपाद)
न्यायभाष्य	वात्स्यायन
कारिकावली (भाषा परिच्छेद)	विश्वनाथ
न्याय प्रवेश	सम्पादक—ए० वी० ध्रुव
निरुक्त	यास्क
न्यायसिद्धान्त मुक्तावली	विश्वनाथ पंचानन
न्यायमञ्जरी	जयन्त भट्ट
न्यायविन्दु	धर्मकीर्ति
नावनीतकम्	(वेबर मैन्युस्क्रिप्ट)
न्यायदीपिका	रामकृष्ण
रिलेशनशिप बिटवीन बाडी एण्ड माइन्ड	डा० के० आर० सेन
रिपोर्ट आन दि सर्च आफ संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ठ	डा० हरप्रसाद शास्त्री
राजनिघण्टु	नरहरि
राजतरंगिणी	कल्हण
ललित विस्तर	त्रिपिटिक

लघुमंजूषा	नागेश
पाणिनिकालीन भारतवर्ष	वासुदेवशरण अग्रवाल
प्रबन्ध चिन्तामणि	मेरुतुङ्गाचार्य
पञ्चदशी	विद्यारण्य
प्रमाण मीमांसा	हेमचन्द्र
पदार्थ-विज्ञान	सत्यनारायण शास्त्री
पारस्कर गृह्यसूत्र	....
प्रमाणवार्तिक	धर्मकीर्ति
प्रमाणपरीक्षा	विद्यानन्द
प्रमाणनय-तत्वालोक	वादिदेव
प्रमाणसमुच्चयवृत्ति	दिङ्नाग
प्रबन्धकोश	हेमसूरि
प्रिंसिपल्स आफ सायकालोजी	हर्बर्ट स्पेंसर
प्राबलम आफ काजल्टी-सांख्य एण्ड योग	गोपीनाथ कविराज
पुराण	देवीभागवत–टीका तिलक-नीलकण्ठ भट्ट, भविष्यपुराण, नन्दिपुराण, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, वायुपुराण, वाराहपुराण, शिवपुराण, मत्स्यपुराण, मारकण्डेय पुराण, भागवत पुराण, स्कन्दपुराण ।
फिलासफी आफ इण्डिया	जिमर
फर्स्ट प्रिंसिपिल्स	स्पेंसर
फिलासफी आफ द्वैत वेदान्त	टी० पी० रामचन्द्रन
ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य	सत्यानन्द सरस्वती की हिन्दी टीका
बुद्धचरित	अश्वघोष
भिषक्कर्मसिद्धि	डा० रमानाथ द्विवेदी
भेलसंहिता	भेल
भारतीय दर्शन-भाग १	राधाकृष्णन्
भारतीय दर्शन-भाग २	राधाकृष्णन्
भारतीय दर्शन का इतिहास भाग १	एस० एन० दासगुप्ता
भारतीय दर्शन का इतिहास भाग २	एस० एन० दास गुप्ता

भारतीय दर्शन की रूपरेखा	हिरियन्ना
भारतीय दर्शन	चट्टोपाध्याय व दत्त
भारतीय दर्शन में अनुमान	डा० व्रजनारायण शर्मा
भाव प्रकाश	भावमिश्र
महाभारत	वेदव्यास
मनुस्मृति	मनु
मनुस्मृति	गोविन्दराज की टीका
मनुस्मृति	मेघातिथि की टीका
मृच्छकटिकम्	शूद्रक
मिताक्षरा	हरिदत्त
मानसोल्लास	सोमेश्वर
मानमेयादेय	नारायण भट्ट
मज्झिमनिकाय	(त्रिपिटक)
मेटेरिया मेडिका	उमेशचन्द्र दत्त
मेडिटेशन्स	डेस्कार्ट
यजुर्वेद	....
योगसूत्रम्	पतञ्जलि
योगसूत्र-साँख्य प्रवचन भाष्य (भाष्य या व्यास भाष्य)	
योगभाष्य-योगवार्तिक	विज्ञान भिक्षु
योगसूत्र-तत्ववैसारदी	वाचस्पति मिश्र
योगसूत्र-राजमार्तण्ड वृत्ति	भोज
याज्ञवल्क्यस्मृति	याज्ञवल्क्य
याज्ञवल्क्यस्मृति	विश्वरूप की टीका
योगवाशिष्ठ	वाल्मीकि
वैशेषिक सूत्र	कणाद
वैशेषिक सूत्र-प्रशस्तपाद भाष्य	प्रशस्तपाद
वैशेषिक सूत्र-न्यायकन्दली	श्रीधर
विश्वप्रकाशकोश	माहेश्वर सूरि
वैद्यक शब्द सिन्धु	उमेशचन्द्र गुप्त
वृहज्जातक	वाराहमिहिर
विक्रमादित्य आफ उज्जयिनी	राजवली पाण्डेय

वाग्भट विवेचन	प्रियव्रत शर्मा
विक्रमोर्वशीयम्	कालिदास
वृद्धत्रयी	गुरुपदहालदार
वेदान्तसार	सदानन्द योगीन्द्र
वाचस्पत्यम्	तारानाथ तर्कवाचस्पति
वशिष्ठ धर्मसूत्र	वशिष्ठ
वाल्मीकि रामायण	वाल्मीकि
वेदान्त परिभाषा	धर्मराजाध्वरिन्द्र
वेदान्त परिभाषा	शिखामणि टीका
वेदान्त परिभाषा	मणिप्रभा टीका
शूद्रकमलाकर	कमलाकर भट्ट
शिशुपालवध	माघ
शबर भाष्य	शबर स्वामी
शबर भाष्य	बृहती
शबर भाष्य-प्रकरणपंचिका	शालिकनाथ
श्लोकवार्तिक	कुमारिल भट्ट
श्लोक वार्तिक-न्यायरत्नाकर	पारसनाथ मिश्र
शतपथ ब्राह्मण-वेदार्थ प्रकाश टीका	सायण
शक इन इण्डिया	एस० चट्टोपाध्याय
षड्दर्शन समुच्चय	हरिभद्र सूरि
स्थानांगसूत्र-विवरण टीका	अभयदेव सूरि
स्टडी आफ पतंजलि	एस० एन० दास गुप्त
स्टडी आफ योग	जे० घोष
स्टडी इन दि मेडिसिन आफ एन्सियन्ट इण्डिया (आस्टियोलाजी)	हार्नले
संस्कृत-इंग्लिस डिक्सनरी	मोनियर विलियम्स
संस्कृत शास्त्रों का इतिहास	बल्देव उपाध्याय
संस्कृत साहित्य का इतिहास	बल्देव उपाध्याय
संस्कृत साहित्य की रूपरेखा	चन्द्रशेखर पाण्डेय
संस्कृत साहित्य का इतिहास	वाचस्पति गैरोला
संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास	डा० सूर्यकान्त

संस्कार प्रकाश	रामचन्द्र कृष्णवापट
सर्वसिद्धान्त संग्रह	शंकराचार्य
सर्वदर्शन संग्रह	माध्वाचार्य
संक्षेप शारीरक	सर्वज्ञात्म मुनि
सांख्य सूत्र	कपिल
सांख्य-कारिका	ईश्वरकृष्ण
सांख्य कारिका-सांख्यचन्द्रिका	नारायण तीर्थ
सांख्य कारिका-सांख्यतत्व कौमुदी	वाचस्पति मिश्र
सांख्यतत्व कौमुदी-विद्वत्तोषिणी	बालराम उदासीन
सांख्यतत्व कौमुदी-सांख्यतत्वकौमुदी प्रभा	डा० आद्याप्रसाद मिश्र
सांख्यकारिका-गौडपाद भाष्य	गौडपाद
सांख्य-दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा	डा० आद्याप्रसाद मिश्र
सांख्य सिस्टम	ए० बी० कीथ
सिस्टम आफ दि वेदान्त	ड्यूसन
सिक्स वेज आफ फिलासफी	एम० दत्ता
सुश्रुत संहिता	धनवन्तरि
सुश्रुत संहिता-भानुमती टीका	चक्रपाणि
सुश्रुत संहिता-(संस्कृत टीका)	डल्हण
सुश्रुत संहिता (हिन्दी टीका)	अम्बिका प्रसाद शास्त्री
सुश्रुत संहिता (हिन्दी टीका)	डा० अत्रिदेव
हर्षचरित	बाणभट्ट
हर्षचरित का एक सांस्कृतिक अध्ययन	वासुदेवशरण अग्रवाल
हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर	विंटरनिट्ज
हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर	डा० एस० के० डे
हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर	डा० कृष्णमाचारियर
हिस्ट्री आफ हिन्दू केमिस्ट्री	पी० सी० राय
हिस्ट्री आफ आर्यन मेडिकल साइन्स	भगवतसिंह जी
हिस्ट्री आफ इण्डियन मेडिसिन	जी० एन० मुखोपाध्याय
हिन्दू मेडिसिन	जिमर
हिरण्यकेशगृहसूत्र-वृत्ति	मातृदत्त

हिन्दी विश्वकोश (बनारस)
हस्त्यायुर्वेद पालकाप्य

Zum Alter der Fruhen Faehueberlieferungen der Indischen Medizine, der Sahita des Caraka, Suaruta uud Vaghbhata.
—R.F.G.Muller.

Di Be wartung der drei Fehler (Dasa) dureh die indischen Aerate.—Muller

पत्रिकाएँ

आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया ।
आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका ।
इयरबुक आफ दि लाइफजिक फोकलोर म्यूजियम (जर्मन) ।
जर्नल आफ रिसर्च इन इण्डियन मेडिसिन ।
जर्नल आफ डिपार्टमेन्ट आफ लेटर्स ।
जर्नल आफ एशिया टिग्यू ।
जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ ग्रेट ब्रिटेन आफ आयरलैण्ड ।
जर्नल आफ दि जर्मन ओरियन्टल सोसायटी (जेड॰ डी॰ एम॰ जी॰) ।
धनवन्तरि ।
नागार्जुन ।
सचित्र आयुर्वेद ।

